# तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

## : एक परिशीलन

लेखक

डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव

एम० ए०, पी-एच० डी०, वेदनिरुक्ताचार्य

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग

काशी [illegible] विद्यालय,

[illegible] वाराणसी।

वाणी मन्दिर [illegible] वाराणसी



# तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

## : एक परिशीलन



लेखक

डा० आनन्द कुमार श्रीवास्तव

एम० ए० (संस्कृत), पी-एच्० डी०,
वेदनैरुक्ताचार्य

प्राध्यापक, संस्कृत विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

वाणी मन्दिर, नई सड़क, वाराणसी

प्रकाशक
वाणी मन्दिर, नई सड़क, वाराणसी

प्रथम संस्करण
दिसम्बर, १९९६

मूल्य–३५०)



पुस्तक प्राप्ति का अन्य स्थान
अश्विनी
एन १०/७२ एफ-२ न्यू कालोनी ककरमत्ता
वाराणसी (उ० प्र०)—२२१००४

मुद्रक
श्री विद्या प्रेस
छित्तूपुर, बी० एच० यू०
वाराणसी

# प्राक्कथन

ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में भारत का विश्व में प्रथम स्थान है। हमारे पूर्वज आचार्यों की सूक्ष्म दृष्टि ध्वनियों के विस्तृत वैज्ञानिक स्वरूप को स्पष्ट करती है जिसे शिक्षा वेदाङ्ग में देखा जा सकता है। तैत्तिरीय उपनिषद् (१।१) में शिक्षा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

'शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः मात्रा बलं साम सन्तान इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।'

शिक्षा वेदाङ्ग के प्राचीनतम प्रतिनिधि-ग्रन्थ शिक्षा-ग्रन्थों के साथ-साथ प्रातिशाख्य भी हैं। यद्यपि शिक्षा-ग्रन्थों और व्याकरण में ध्वनि-विज्ञान का विवेचन किया गया है तथापि प्रातिशाख्यों का अपना महत्त्व है। शिक्षा और व्याकरण के नियम लौकिक और वैदिक संस्कृत पर समान रूप से लागू होते हैं किन्तु वैदिक संहिताओं में अनेक ऐसे रूप प्राप्त होते हैं जिन्हें सामान्य नियमों से नहीं स्पष्ट किया जा सकता है; उन्हें केवल प्रातिशाख्य के नियमों द्वारा समझा जा सकता है। प्राचीन भारत में वेद की विभिन्न शाखाओं में स्थित ध्वनि-विज्ञान का व्यवस्थित विश्लेषण प्रातिशाख्यों का प्रतिपाद्य है। प्रातिशाख्यों में उच्चारण-विज्ञान पर बहुत सूक्ष्म और विस्तारपूर्वक विचार किया गया है।

प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का निश्चित काल-निर्धारण अभी तक नहीं हो सका है। किन्तु, आज सभी विद्वान् यह मत स्वीकार करते हैं कि प्रातिशाख्य-ग्रन्थ यास्क (सप्तम शती ई० पू०) के परवर्ती हैं और अथर्ववेद प्रातिशाख्य को छोड़कर अन्य प्रातिशाख्य पाणिनि (पञ्चम शती ई० पू०) के पूर्ववर्ती हैं। अथर्ववेद प्रातिशाख्य को पाणिनि के बाद का अथवा समकालीन माना जाता है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय-संहिता से सम्बन्धित ध्वनि-विषयक विचारों को सूत्रों के रूप में प्रस्तुत करता है। इस समय तैत्तिरीय प्रातिशाख्य के प्रमुख दो संस्करण उपलब्ध हैं। पहला संस्करण डब्लू० डी० ह्विटनी द्वारा सम्पादित है जिसमें सूत्रों का अंग्रेजी में भावार्थ बताया गया है और दूसरा संस्करण शाम शास्त्री और के० रङ्गाचार्य के संयुक्त प्रयास से त्रिभाष्यरत्न और वैदिकाभरण नामक भाष्यों के साथ प्राप्त होता है। ये दोनों संस्करण मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन से प्रकाशित हैं। ये दोनों संस्करण उपयोगी हैं और सूत्रों का भावार्थ समझने में सहायक हैं। किन्तु

———

# भूमिका

**प्रातिशाख्यों का महत्त्व**—वेदों की विभिन्न शाखाओं के मन्त्रों का ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से विवरण प्रस्तुत करने के कारण प्रातिशाख्य-ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। वैदिक काल में ध्वनि-विज्ञान की प्रगति को जानने के लिए प्रातिशाख्यों का अनुशीलन आवश्यक है। अनेक विद्वानों (आचार्यों) द्वारा प्रतिपादित विशिष्ट नियम तत्कालीन ध्वनि-विज्ञान की विकसित अवस्था की ओर संकेत करते हैं। प्रातिशाख्यों के अध्ययन से मन्त्रों के मूल पदों के परिज्ञान में सहायता प्राप्त होती है और संहिता-पाठ में होने वाले विकारों का स्वरूप स्पष्ट होता है। पदों के स्वरूप की जानकारी होने से मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण तथा अर्थ-ज्ञान में सहायता प्राप्त होती है। इस प्रकार प्रातिशाख्य-ग्रन्थों का मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण और अर्थ-ज्ञान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी प्रातिशाख्य महत्त्वपूर्ण हैं। प्रातिशाख्य में वेद की शाखा-विशेष से सम्बद्ध विस्तृत विवरण प्राप्त होने से उस शाखा से सम्बन्धित संहिता के बाह्य-स्वरूप को समझने में सहायता मिलती है। इसे आधार बनाकर परवर्ती काल में भाषा के स्वरूप में परिवर्तन के कारणों को खोजने में भी सहायता प्राप्त होती है।

जहाँ शिक्षा-ग्रन्थों में सामान्यतया उदात्तादि स्वरों और ककारादि वर्णों का उपदेश प्राप्त होता है और व्याकरण ग्रन्थों में प्रकृति-प्रत्यय विभाग द्वारा शब्दानुशासन का उल्लेख मिलता है, वहीं प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में शिक्षा और व्याकरण दोनों के नियम शाखा-विशेष के सन्दर्भ में व्यवस्थित रूप से प्राप्त होते हैं। अतः वेद की शाखा-विशेष के स्वरूप के पूर्ण और व्यावहारिक ज्ञान के लिए प्रातिशाख्यों का अत्यधिक महत्त्व है। आज वैदिक संहिताएँ जो अपने प्राचीन मूलस्वरूप में प्राप्त होती हैं, उसमें प्रातिशाख्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भारत में वैदिक-व्याकरण के इतिहास का प्रारम्भिक रूप प्रातिशाख्यों में देखा जा सकता है।

**प्रातिशाख्यों का प्रयोजन**—वैदिक वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण भाग प्रातिशाख्यों का मुख्यतम प्रयोजन है मन्त्रों अथवा संहिता के स्वरूप की रक्षा करना। इसीलिए प्रातिशाख्य में अपनी शाखा से सम्बद्ध वर्णों, स्वरों, सन्धियों और पद-पाठ आदि के नियमों का वैज्ञानिक विवेचन प्राप्त होता है। चतुरध्यायिका

में प्रातिशाख्य का प्रयोजन बड़े अच्छे शब्दों में व्यक्त किया गया है जिसके अनुसार सामान्य अर्थात् व्याकरण में जिस नियम के विषय में विकल्प प्राप्त है यहाँ (प्रातिशाख्य में) वह इस प्रकार से व्यवस्थित है[1]। इसका अर्थ यह है कि प्रातिशाख्य में अपनी शाखा के नियम व्यवस्थित रूप में प्राप्त होते हैं और व्याकरण में वर्णित नियम वेद-सामान्य पर लागू होने वाले होते हैं। एक नियम एक संहिता पर तो लागू होता है परन्तु दूसरी पर लागू नहीं होता है। व्याकरण में ऐसे नियम विभाषा के अन्तर्गत रखे गये हैं। प्रातिशाख्य के द्वारा यह विभाषा शाखा-विशेष में व्यवस्थित कर दी जाती है। इसी तथ्य को मैक्समूलर ने मधुसूदन सरस्वती के मत को उद्धृत करते हुए कहा है—"सभी वेदों पर सामान्य रूप से लागू होने वाले उच्चारण नियम पाणिनि के द्वारा बतलाए गये हैं, किन्तु उन्हीं नियमों को वेद की एक-एक शाखा से सम्बद्ध करके अन्य ऋषियों ने प्रातिशाख्य-संज्ञक ग्रन्थों में बतलाया है[2]।" ऋग्वेद-प्रातिशाख्य पर भाष्य के प्रारम्भ में भाष्यकार उवट ने प्रातिशाख्य का प्रयोजन इस प्रकार व्यक्त किया है—शिक्षा, छन्द और व्याकरण के द्वारा सामान्यरूप से जो लक्षण कहा जाता है वह 'इस शाखा में इस प्रकार है' यह प्रातिशाख्य के द्वारा व्यवस्थित किया जाता है। वेद के प्रातिशाख्यात्मक अङ्ग का यह प्रयोजन है[3]। दूसरा प्रयोजन बताते हुए भाष्यकार कहते हैं—अथवा यह अङ्ग शिक्षा, छन्दः और व्याकरण के द्वारा सामान्य रूप से कहे गये लक्षण का विशेष में व्यवस्थापक नहीं है, अन्य शास्त्रों (अर्थात् शिक्षा, छन्द और व्याकरण) से निरपेक्ष यह स्वतन्त्र ही (शास्त्र) है[4]। उवट ने इन दोनों पक्षों में से जो अधिक अच्छा लगे उसे ग्रहण करने को कहा है[5]।

---

१. एवमिहेति च विभाषाप्राप्तं सामान्ये। च० अ० १।२।

२. द्रष्टव्य, ए हिस्ट्री ऑफ एंशियेण्ट संस्कृत लिट्रेचर, पृ० १०९।

३. शिक्षाछन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणम्।
तदेवमिह शाखायामिति शास्त्रप्रयोजनम्॥
ऋ० प्रा० प्रथमसूत्र की भूमिका।

४. नैवैतदङ्गं शिक्षाछन्दोव्याकरणैः सामान्येनोक्तलक्षणस्य विशेषे व्यवस्थापकम्। किन्तु स्वतन्त्रमेवैतदन्यशास्त्रनिरपेक्षम्। ऋ० प्रा० प्रथमसूत्र की भूमिका।

५. अनयो पक्षयोर्यतरः पक्षः श्रेयांस्ततरो ग्रहीतव्यः। ऋ० प्रा० प्रथम सूत्र की भूमिका।

उवट ने प्रातिशाख्यों का जो प्रयोजन पहले बतलाया है वह अन्य प्रातिशाख्यों पर पूर्णतया लागू न होकर केवल ऋग्वेदप्रातिशाख्य पर ही लागू होता है। शिक्षा-ग्रन्थों में विहित लक्षण वेद-विशेष से सम्बद्ध पाये जाते हैं अतः उन्हें वेद-सामान्य का लक्षण नहीं कहा जा सकता है। दूसरे ऋग्वेद-प्रातिशाख्य के अतिरिक्त अन्य किसी प्रातिशाख्य में छन्दों का वर्णन नहीं प्राप्त होता है अतः छन्दशास्त्र में वर्णित सामान्य लक्षण का शाखा-विशेष से सम्बन्धित प्रातिशाख्य में व्यवस्थित होने की बात भी ठीक नहीं प्रतीत होती है। उवट ने प्रातिशाख्यों का जो दूसरा प्रयोजन दिया है कि 'अन्य शास्त्रों से निरपेक्ष यह स्वतन्त्र ही शास्त्र है', वह उचित है। शिक्षा, छन्दः और व्याकरण में विहित नियम प्रातिशाख्य मे यत्र-तत्र मिल सकते हैं किन्तु प्रातिशाख्य निरपेक्ष रूप से अपनी शाखा से सम्बन्धित विधानों को ही प्रस्तुत करता है।

वा० प्रा० के अनुसार प्रातिशाख्य का प्रयोजन वर्णों में होने वाले दोषों को स्पष्ट रूप से जानना है[1]। वर्णोच्चारण में दोष सम्भव हैं अतः उन दोषों को दूर करके शुद्ध उच्चारण करना प्रातिशाख्य का प्रयोजन है। शुद्ध उच्चारण करने के लिए आत्रेय आचार्य के मत को प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि—वर्णों को न तो अत्यधिक स्पष्ट और न अस्पष्ट उच्चारित करना चाहिए। जिस प्रकार दूध से भरे पात्र को ले जाते समय (दूध वाला) एकाग्रमना होता है उसी प्रकार एकाग्रचित्त होकर अपनी बुद्धि के अनुरूप (किसी का तीव्र प्रयत्न होता है, अन्य का मन्द प्रयत्न होता है, किसी का मध्यम प्रयत्न होता है अतः) अपनी शक्ति के अनुसार उच्चारण करना चाहिए[2]। वेदाध्येता को अपनी शाखा के मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करना चाहिए। इसके लिये प्रातिशाख्यों का अध्ययन आवश्यक है।

तै० प्रा० के अनुसार वेदरूप वाणी के अध्येता को गुरु, लघु, साम्य, ह्रस्व दीर्घ, प्लुत, लोप, आगम, विकार, प्रकृति, विक्रम, क्रम, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, श्वास, नाद, अङ्गविधान—इन सबको अच्छी तरह जानना चाहिए[3]।

---

१. वर्णदोषविवेकार्थम्। वा० प्रा० १।२६।

२. नातिव्यक्तं न चाव्यक्तमेव वर्णानुदीरयेत्।
पयःपूर्णमिवामत्रँ हरन्धीरो यथामतिः॥ इत्यात्रेयः॥ तै० प्रा० १७।८॥

३. गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्व दीर्घप्लुतानि च।
लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः॥

पद-क्रम-पाठ, वर्णक्रम, स्वरों तथा मात्राओं के विभाग का ज्ञाता व्यक्ति आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होता है[१]। प्रातिशाख्य का अध्ययन करने से शाखा-विशेष से सम्बद्ध वर्णों के स्वरूप और उनकी उच्चारण-विषयक सम्पूर्ण विशेषताओं का ज्ञान हो जाता है। इस ज्ञान से वेद का स्वरूप सुरक्षित रहे, यही प्रातिशाख्य का प्रयोजन है।

वाणी के स्थान --उच्चारण में ध्वनि अथवा वाक् का स्थान प्रथम है। इसलिए तै० प्रा० मे ध्वनि की उत्पत्ति तथा उच्चारण के प्रकार—वाणी के सात स्थानों के बारे में विधान किया गया है। वर्णों से बना शब्द ( ध्वनि ) वाणी का उपादान कारण ( मूलकारण ) है[२]। इसका अभिप्राय यह है कि वर्ण, पद अथवा वाक्यरूप वाणी का कारण है। वाक्य के लिये पदों की और पदों के लिए वर्णों की आवश्यकता होती है। इस वाणी की सात अवस्थाएँ होती हैं[३]— (१) उपांशु (२) ध्वान (३) निमद (४) उपब्दिमत् (५) मन्द्र (६) मध्यम और (७) तार।

(१) उपांशु—सम्बद्ध उच्चारणावयव के प्रयत्न से समन्वित शब्द-रहित तथा मन ही मन में न किया जाने वाला उच्चारण उपांशु है[४]। अर्थात् उपांशु अवस्था में सम्बद्ध वर्णों के उच्चारण-स्थानों और प्रयत्नों की चेष्टा तो होती हैं किन्तु ध्वनि नहीं के बराबर अथवा अत्यल्प होती है।

(२) ध्वान -जिस उच्चारण में स्वरों ( अक्षरों ) और व्यञ्जनों की उपलब्धि नहीं होती वह ध्वान है[५]। तात्पर्य यह है कि ध्वान मे ध्वनि होती है किन्तु स्वरों तथा व्यञ्जनों की उपलब्धि नहीं होती है।

---

स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादोऽङ्गमेव च।
एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता ॥ तै० प्रा० २४।५।

१. पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः।
स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्य संसदम् ॥ तै० प्रा० २४।६।

२. वर्णपृक्तः शब्दो वाच उत्पत्तिः। तै० प्रा० २३।३।

३. सप्त वाचः स्थानानि भवन्ति। तै० प्रा० २३।४।
उपांशुध्वाननिमदोपब्दिमन्मन्द्रमध्यमताराणि। तै० प्रा० २३।५।

४. करणवदशब्दममनः प्रयोगमुपांशुः। तै० प्रा० २३।६।

५. अक्षरव्यञ्जनानामनुपलब्धिर्ध्वानः। तै० प्रा० २३।७।

(३) निमद—स्वरों ( अक्षरों ) तथा व्यञ्जनों की उपलब्धि होने पर निमद अवस्था होती है[१]। अर्थात् इस अवस्था में ध्वान की अपेक्षा ध्वनि कुछ स्पष्ट हो जाती है जिससे स्वरों तथा व्यञ्जनों का भेद ज्ञान होता है।

(४) उपब्दिमत्—शब्द-सहित स्वरों ( अक्षरों ) तथा व्यञ्जनों की उपलब्धि उपब्दिमत् है[२]। अर्थात् निमद में अक्षरों तथा व्यञ्जनों का भेद प्राप्त होता हैं किन्तु उपब्दिमत् में अक्षरों तथा व्यञ्जनों का भेद प्राप्त होने के साथ ध्वनि कुछ और ऊँची हो जाती हैं।

(५) मन्द्र—हृदय (छाती) में मन्द्र नामक वाणी का स्थान होता है[३]। अर्थात् हृदय-स्थान में उच्चरित वाणी मन्द्र नामक वाणी होती है।

(६) मध्यम—कण्ठ में मध्यम नामक वाणी का स्थान होता हैं[४]। अर्थात् कण्ठ स्थान में उच्चारण होने पर मध्यम वाणी होती है।

(७) तार—सिर-स्थान में तार नामक स्थान होता है[५]। अर्थात् सिरस्थान में उच्चरित होने पर तार नामक वाणी होती है।

उपर्युक्त उपांशु आदि को क्रमशः प्रथमादि संज्ञा से भी अभिहित किया जा सकता है अर्थात् ये स्वर क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम भी कहे जाते हैं। इनमें से आदि वाले चार-स्थानों अर्थात् उपांशु, ध्वान, निमद तथा उपब्दिमत् का प्रयोग यज्ञादि में होता है। मन्द्र का प्रयोग प्रातःसवन में होता है, मध्यम का प्रयोग माध्यन्दिन सवन में होता है तथा तार का प्रयोग तृतीय सवन में होता है। शिक्षा भी कहती है—प्रातःसवन में नित्य व्याघ्र की ध्वनि के समान ध्वनि से हृदय से उच्चारण करना चाहिए। माध्यन्दिन सवन में चक्रवाक के कूजने की ध्वनि के समान कण्ठ-स्थान से उच्चारण करना चाहिए। तृतीय सवन में तार नामक वाणी का उच्चारण

---

१. उपलब्धिर्निमदः। २३।८।

२. सशब्दमुपब्दिमत्। तै० प्रा० २३।९।

३. उरसि मन्द्रम्। तै० प्रा० २३।१०।

४. कण्ठे मध्यमम्। तै० प्रा० २३।११।

५. शिरसि तारम्। तै० प्रा० २३।१२।

मयूर अथवा हंस अथवा कोयल की ध्वनि के समान ध्वनि से सिर में स्थित नाद से करना चाहिए[1]।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि मन्द्र, मध्यम तथा तार -- इन तीन अवस्थाओं में व्यक्त वाणी सुनाई पड़ती है। इसीलिये २२।११ में वाणी के प्रमुख तीन-स्थानों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मन्द्र, मध्यम तथा तार—ये (तीन वाणी के) स्थान होते हैं[2]। वाणी की इन तीन अवस्थाओं में स्वर का विधान करते हुए कहा गया है कि मन्द्रादि स्थानों में सात-सात स्वर (यम) होते हैं[3]। अर्थात् मन्द्र, मध्यम तथा तार नामक वाणी के इन तीन— स्थानों में प्रत्येक के सात-सात स्वर-भेद होते हैं। जिन्हें क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिस्वार्य कहते हैं। मन्द्रादि प्रत्येक अवस्था में क्रुष्टादि सात स्वरों के होने से तीनों अवस्थाओं में मिलकर इक्कीस स्वर (यम) होते हैं[4]।

वाणी को तीनों अवस्थाओं में प्रत्येक में होने वाले क्रुष्टादि स्वरों के उच्चारण का विधान करते हुए कहा गया है कि इनकी उपलब्धि दीप्तिजा होती है[5]। दीप्तिजा का अर्थ है—स्फूर्ति अथवा तीव्रता का भेद। क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य—इन सात स्वरों में से मध्यम अर्थात् 'तृतीय' संज्ञक स्वर की उत्पत्ति 'धृतः प्रचयः ( १८।३ )' द्वारा बतायी गयी है। अन्य छः स्वरों में से प्रथम तीन स्वरों की उत्पत्ति बतलाते हुए कहा गया है कि उच्चारणावयवों की दीर्घता ध्वनि की कठोरता और कण्ठ-विवर को

---

१, शिक्षा चैवं वक्ष्यति—

प्रातः पठेन्नित्यमुरस्स्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन।
माध्यन्दिने कण्ठगते चैव चक्रवाकहंसकूजितसन्निभेन॥
तारं तु विद्यात्सवने तृतीये शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्।
मयूरहंसान्यभृतस्वनानां तुल्येन नादेव शिरस्स्थितेन॥

तै० प्रा० २३।१० पर त्रि० में उद्धृत।

२. मन्द्रमध्यमताराणि स्थानानि भवन्ति। तै० प्रा० २२।११।

३. मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु सप्तसप्त यमाः। तै० प्रा० २३।११।

४. क्रुष्टप्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमन्द्रातिस्वार्याः। तै० प्रा० २३।१२।
तत्रैकविंशतिर्यमाः। तै० प्रा० २२।१२।

५. तेषां दीप्तिजोपलब्धिः। तै० प्रा० २३।१३।

संवृतता—ये ध्वनि को ( उत्क्षेप ) ऊँचा करने वाले कारण हैं[१]। अतः क्रुष्टादि छः स्वरों में 'द्वितीय' संज्ञक जो तृतीय स्वर है वह उत्क्षिप्त, 'प्रथम' संज्ञक द्वितीय स्वर उत्क्षिप्ततर और 'क्रुष्ट' संज्ञक प्रथम स्वर उत्क्षिप्ततम होता है। ये मूर्धा जैसे उच्चप्रदेश से उच्चरित होने के कारण उच्च कहे जाते हैं। इन्हें 'उत्क्षेपी' स्वर भी कहते हैं। इनके अतिरिक्त चतुर्थ, मन्द्र तथा अतिस्वार्य स्वरों की उत्पत्ति को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि उच्चारणावयवों का ढीलापन, ध्वनि की मृदुता और कण्ठ-विवर की विवृतता—ये ध्वनि को नीचा (अवक्षिप्त) करने वाले कारण हैं[२]। अतः 'चतुर्थ' संज्ञक स्वर ईषद् अवक्षिप्त, 'मन्द्र' संज्ञक स्वर अवक्षिप्ततर और 'अतिस्वार्य' स्वर अवक्षिप्ततम होता हैं। ये स्वर हृदय-प्रदेश से उच्चरित होने के कारण नीच कहे जाते हैं। इन क्रुष्टादि सात स्वरों के मध्य जो 'तृतीय' संज्ञक स्वर है उसे मध्यम स्वर कहते हैं क्योंकि इस स्वर की स्थिति उत्क्षिप्त और अवक्षिप्त स्वरों के मध्य की है। इसे 'धृत' भी कहते हैं। इसको धृत कहने का कारण यह है कि यह उत्क्षिप्त और अवक्षिप्त स्वरों के मध्य विलीन हो जाता है अर्थात् इसमें उत्क्षेपी और अवक्षेपी दोनों के धर्म विद्यमान होते हैं।

इससे स्पष्ट है कि क्रुष्ट संज्ञक स्वर अन्य सभी स्वरों की अपेक्षा उच्च उच्चरित होता है और अतिस्वार्य स्वर अन्य सभी स्वरों से निम्न उच्चरित होता है। वाणी के उच्चारण में ये स्वर रागात्मकता भर देते हैं। सामवेद में स्वरों की प्रसिद्धि देखी जा सकती है।

**प्रातिशाख्य का अर्थ**—प्रातिशाख्य शब्द का निर्वचन करते हुए माधव तथा वा० प्रा० के भाष्यकार अनन्तभट्ट ने कहा है—शाखायां शाखायां प्रतिशाखम् प्रतिशाखं भवं प्रातिशाख्यम्। इस प्रकार प्रातिशाख्य शब्द का व्युत्पत्तिमूलक अर्थ है—वेद की किसी शाखाविशेष से सम्बद्ध ग्रन्थ। एक-एक शाखा से सम्बन्धित होने के कारण ही इन ग्रन्थों की प्रातिशाख्य संज्ञा की गई है।

प्रातिशाख्य के लिए पार्षद शब्द का भी प्रयोग प्राप्त होता है। विष्णुमित्र ने ऋ० प्रा० के लिए पार्षद शब्द का प्रयोग किया है। परिषद् शब्द का अर्थ होता है—सभा या गोष्ठी। प्राचीन काल में ऐसी परिषदें संगठित रहती थीं

---

१. आयामो दारुण्यमणुता खस्यत्युच्चःकराणि शब्दस्य। तै० प्रा० २२।९।

२. अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्यति नीचैःकराणि। तै० प्रा० २२।१०।

जिनमें ध्वनिविज्ञान तथा व्याकरण जैसे विषयों पर नियमित रूप से विचार होता था। ऐसी परिषदों से सम्बन्धित होने के कारण प्रातिशाख्यों को पार्षद या परिषद् सूत्र कहा जाता है।

**उपलब्ध प्रातिशाख्य**—यद्यपि 'प्रातिशाख्य' के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के आधार पर ज्ञात होता है कि जितनी वेदों की शाखाएँ थीं उतने ही प्रातिशाख्य होने चाहिए किन्तु सभी प्रातिशाख्य उपलब्ध नहीं होते। सम्प्रति छः प्रातिशाख्य उपलब्ध होते हैं—(१) ऋग्वेद-प्रातिशाख्य (२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य (३) शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य (४) शौनकीया चतुरध्यायिका (५) अथर्ववेद प्रातिशाख्य तथा (६) ऋक्तन्त्र।

इन प्रातिशाख्यों के अतिरिक्त चार अन्य प्रातिशाख्यों का भी नामोल्लेख मिलता है—(१) आश्वलायन-प्रातिशाख्य (२) बाष्कल-प्रातिशाख्य (३) शांखायन-प्रातिशाख्य और (४) चारायण-प्रातिशाख्य। इसके अतिरिक्त लघुऋक्तन्त्र, सामतन्त्र, प्रतिज्ञासूत्र, भाषिकसूत्र इत्यादि भी कतिपय ऐसे ग्रन्थ हैं जिनको विद्वान् प्रातिशाख्य मानते हैं।

**प्रातिशाख्य ग्रन्थों की प्राचीनता का क्रम**—इस सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद है। किन्तु अब सभी विद्वान् ऋग्वेद-प्रातिशाख्य को सबसे प्राचीन मानते हैं। इसके बाद तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का स्थान आता है। शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य तथा चतुरध्यायिका के पौर्वापर्य के विषय में मतभेद है। कुछ विद्वान् शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य को चतुरध्यायिका से प्राचीन मानते हैं और कुछ चतुरध्यायिका को शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य से। किन्तु नियम विधान के परस्पर सादृश्य को दृष्टि में रखकर दोनों को समकालीन मानना अधिक युक्तिसंगत है। इसके बाद ऋक्तन्त्र का स्थान है। अथर्ववेद प्रातिशाख्य पाणिनि के बाद की रचना है अतः प्राचीनता के क्रम में यह सबसे पीछे है।

**रचनाकाल**—प्रातिशाख्यों में सर्वप्राचीन ऋग्वेद-प्रातिशाख्य है। इसमें यास्क के मत को उद्धृत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ यास्क से परवर्ती है। यास्क का काल ई० पू० ७०० के आस-पास निर्धारित हुआ है। अतः ऋग्वेद-प्रातिशाख्य की रचना ई० पू० ७०० के बाद हुई है। अथर्ववेद-प्रातिशाख्य के अतिरिक्त अन्य सभी प्रातिशाख्य पाणिनि से पूर्ववर्ती हैं। पाणिनि का रचनाकाल ई० पू० ५०० है। इस प्रकार अन्य सभी प्रातिशाख्य ई० पू० ५०० से पूर्व की रचनाएँ हैं। ऋ० प्रा०, तै० प्रा०, वा० प्रा०, शौ० च०

तथा ऋ० तं० का रचनाकाल क्रमशः ई० पू० ७०० से ई० पू० ५०० के मध्य है और अथर्ववेद-प्रातिशाख्य की रचना ई० पू० ५०० से बाद में हुई है।

## संक्षिप्त परिचय

(१) ऋग्वेदप्रातिशाख्य—आचार्य शौनक द्वारा विरचित यह प्रातिशाख्य उपलब्ध सभी प्रातिशाख्यों की अपेक्षा विशाल तथा प्राचीनतम है। इस प्राति-शाख्य में ऋग्वेद की शाकल शाखा को शैशिरीय उपशाखा का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है। तीन अध्यायों में विभक्त इस प्रातिशाख्य में अट्ठारह पटल हैं। प्रत्येक अध्याय में छः-छः पटल हैं। ५२९ श्लोकों में निबद्ध यह एक छान्दोमय रचना हैं। इसके सूत्रों की संख्या १०६७ है।

इसके प्रथम पटल में समानाक्षर, स्वर, व्यञ्जन, प्रगृह्य इत्यादि संज्ञाएँ तथा परिभाषाएँ दी गई हैं। दूसरे तथा चौथे पटल में स्वर, व्यञ्जन, नति, द्वित्व आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। तीसरे पटल में उदात्तादि स्वरों के स्वरूप तथा इनकी सन्धियों का विधान हुआ है। छठें, सातवें, आठवें तथा नवें पटल में दीर्घत्व और दशवें तथा ग्यारहवें पटल में क्रम-पाठ के नियम विहित हैं। बारहवें पटल में पदविचार, तेरहवें तथा चौदहवें में वर्णोत्पत्ति तथा वर्णोच्चारण-दोष, पन्द्रहवें में वेदाध्ययन तथा सोलहवें से अट्ठारहवें पटल में छन्दों का विवेचन हुआ है।

इस प्रातिशाख्य की चार टीकाएँ उपलब्ध हैं—( १ ) उवटकृत पार्षद-व्याख्या (२) पार्षद-वृत्ति (३) विष्णुमित्रकृत वर्गद्वयवृत्ति तथा (४) पशुपतिनाथ शास्त्रीकृत व्याख्या। इन चारो टीकाओं में उवट भाष्य ही सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण है तथा पूर्णतया मुद्रित रूप में उपलब्ध है।

(२) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य—इस प्रातिशाख्य का विस्तृत परिचय आगे पृ० ११ पर प्रस्तुत किया जाएगा।

(३) शुक्लयजुर्वेद प्रातिशाख्य—इस प्रातिशाख्य को वाजसनेयि-प्रातिशाख्य भी कहा जाता है। इसके कर्त्ता आचार्य शौनक के शिष्य कात्यायन हैं। शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा से सम्बद्ध इस प्रातिशाख्य का आठ अध्यायों में विभाजन हुआ है। विस्तार की दृष्टि से ऋग्वेद-प्रातिशाख्य से छोटा तथा अन्य प्रातिशाख्यों से बड़ा है। इसके प्रथम अध्याय में संज्ञाओं का विधान हुआ है। द्वितीय अध्याय में उदात्तादि स्वरों के स्वरूप तथा तृतीय से सप्तम अध्याय तक सन्धि-नियमों का प्रतिपादन हुआ है। वर्णसमाम्नाय तथा वर्णोच्चारण से

सम्बन्धित विधान प्रथम अध्याय के कतिपय सूत्रों तथा सम्पूर्ण आठवें अध्याय में हुआ है। इस प्रातिशाख्य की सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि इसमें जित्, मुत्, घि इत्यादि अनर्थक संज्ञाओं का विधान तथा प्रयोग हुआ है जो अन्य प्रातिशाख्यों में उपलब्ध नहीं होतीं। इसकी पाँच टीकाएँ प्राप्त होती हैं— (१) उवट भाष्य (२) अनन्त भट्ट भाष्य (३) ज्योत्स्नावृत्ति (४) शिवाख्य भाष्य। इन भाष्यों में उवट भाष्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। ज्योत्स्नावृत्ति इस ग्रन्थ का प्रक्रियानुसारी भाष्य है।

**शौनकीया चतुरध्यायिका**—यह प्रातिशाख्य अथर्ववेद से सम्बन्धित है। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में ध्वनियों का वर्गीकरण, अभिनिधान, अक्षर, मात्रा, विकार तथा आगमादि का विवेचन है। द्वितीय अध्याय में सन्धि, तृतीय अध्याय में संहिता में होने वाले दीर्घत्व, द्वित्व, स्वरों का अन्तःस्थ-भाव, स्वर सन्धि, स्वरित का स्वरूप एवं प्रकार, णत्व इत्यादि विषय विहित हैं। चतुर्थ अध्याय में अवग्रह, प्रगृह्य, क्रमपाठ इत्यादि विषयों का प्रतिपादन हुआ है। इस ग्रन्थ पर संस्कृत में कोई भाष्य उपलब्ध नहीं होता। प्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान् ह्विटनी ने इसे अंग्रेजी अनुवाद तथा व्याख्या के साथ सम्पादित किया है।

**अथर्ववेद प्रातिशाख्य**—यह प्रातिशाख्य भी अथर्ववेद से सम्बन्धित है। यह प्रातिशाख्य उपलब्ध सभी प्रातिशाख्यों से छोटा है। इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें एक भी पारिभाषिक शब्द का विधान नहीं हुआ है। सूत्र शैली में उपनिबद्ध सम्पूर्ण प्रातिशाख्य ३ प्रपाठकों में विभक्त है। इस प्रातिशाख्य में सन्धि नियम, उदात्तादि स्वरधर्मों तथा पदपाठ के नियम—इन गिने चुने विषयों का ही प्रतिपादन हुआ है। ध्वनि-विषयक महत्त्वपूर्ण नियमों का इसमें अभाव है। यह ग्रन्थ पंजाब विश्वविद्यालय की ग्रन्थशाला से विश्वबन्धु शास्त्री द्वारा तथा लाहौर से डा० सूर्यकान्त द्वारा सम्पादित हुआ है।

**ऋक्तन्त्र**—यह सामवेद की कौथुम शाखा का प्रातिशाख्य है। इसके रचयिता शाकटायन हैं। सूत्ररूप में उपनिबद्ध ग्रन्थ पाँच प्रभाग में विभक्त है। जिनमें कुल २८७ सूत्र हैं। अन्य प्रातिशाख्यों की भाँति इस प्रातिशाख्य में वर्णसमाम्नाय, वर्णोत्पत्ति, वर्णोच्चारण, पारिभाषिक शब्द, अंगत्वविचार तथा उदात्तादि स्वरों का विधान हुआ है। इसके अतिरिक्त विभक्ति लोप, संहिता तथा सन्धि का विस्तृत विवेचन है। इसके पारिभाषिक शब्दों को तीन

श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—अपूर्ण पारिभाषिक शब्द जैसे उदात्त के लिए उत्, स्वर के लिए र इत्यादि (२) कृत्रिम पारिभाषिक शब्द जैसे पादादि के लिए पि, संयोग के लिए सण् इत्यादि ( ३ ) अन्वर्थक पारिभाषिक शब्द जैसे अन्तस्था, ऊष्म, अयोगवाह इत्यादि ।

## तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

**महत्त्व तथा स्वरूप**—कृष्ण यजुर्वेद को तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध इस प्रातिशाख्य का विषय-विधान, प्रामाणिकता तथा ध्वनिविज्ञान का विस्तृत विवेचन करने के कारण अत्यधिक महत्त्व है किन्तु खेद का विषय है कि ऐसे ग्रन्थ-रत्न के कर्त्ता का नाम आज तक अज्ञात है। यह प्रातिशाख्य सूत्र रूप में उपनिबद्धहै। इसका विस्तार ऋग्वेद-प्रातिशाख्य तथा शुक्लयजुर्वेद-प्रातिशाख्य से छोटा है। प्राचीनता के क्रम में ऋग्वेद-प्रातिशाख्य से परवर्ती तथा अन्य प्रातिशाख्यों से पूर्ववर्ती है। इस प्रातिशाख्य द्वारा संहिता को मूल तथा पदपाठ को व्यावहारिक आधार माना जाना अत्यधिक वैज्ञानिक तथा प्रातिशाख्यशास्त्र के इतिहास में एक अभूतपूर्व निरूपण है।

सम्पूर्ण प्रातिशाख्य दो प्रश्नों में विभक्त है। प्रत्येक प्रश्न में बारह-बारह अध्याय हैं। इस प्रकार इसमें कुल चौबीस अध्याय हैं।

अध्यायानुसार सूत्रों की संख्या इस प्रकार है-

| अध्याय | सूत्र | अध्याय | सूत्र |
|---|---|---|---|
| १ | ६१ | १३ | १६ |
| २ | ५२ | १४ | ३३ |
| ३ | १४ | १५ | ६ |
| ४ | ५४ | १६ | ३० |
| ५ | ४१ | १७ | ८ |
| ६ | १४ | १८ | ७ |
| ७ | १६ | १९ | ५ |
| ८ | ३५ | २० | १२ |
| ९ | २४ | २१ | १६ |
| १० | २५ | २२ | १५ |
| ११ | १९ | २३ | २४ |
| १२ | ११ | २४ | ६ |

**प्रतिपाद्य विषय**—इस प्रातिशाख्य में प्रतिपादित प्रमुख विषयों को तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) वर्ण-विचार (२) स्वर-विचार तथा (३) सन्धि-विचार।

**वर्ण-विचार**—तै० प्रा० के प्रथम, द्वितीय, सप्तदश, एकविंश, द्वाविंश तथा त्रयोविंश अध्याय में वर्ण-विषयक विधान किए गए हैं। प्रथम अध्याय के कतिपय सूत्रों में वर्ण-विषयक समानाक्षर, स्वर, व्यञ्जन, स्पर्श इत्यादि संज्ञाओं का विधान हुआ है। द्वितीय अध्याय में वर्णोच्चारण विषयक—श्वास, नाद तथा हकार रूप तीन द्रव्यों से वर्णोत्पत्ति; वर्णोच्चारण में स्थान तथा करण, उच्चारणा-वयवों की स्थिति आदि का-विधान है। सप्तदश अध्याय में अनुनासिकों के उच्चारण में तीव्रतर आदि प्रयत्नों, एकविंश में अक्षर-विभाजन, द्वाविंश तथा त्रयोविंश में वर्णोत्पत्ति में अनुप्रदानादि मूलकारण तथा वाणी के स्थानों का विधान हुआ है।

**स्वर-विचार**—प्रातिशाख्यों का मुख्य प्रयोजन परम्परागत शुद्ध उच्चारण को अक्षुण्ण बनाए रखना है। वेदमन्त्रों का परम्परागत उच्चारण उदात्तादि स्वरों के साथ किया जाता है। सस्वर उच्चारण के अभाव में वेदमन्त्र वाञ्छित फल को नहीं प्रदान करते। इस दृष्टि से तै० प्रा० के अनेक अध्यायों में उदात्तादि स्वर, उनके उच्चारण प्रकार, स्वरित के भेद, स्वरों की सन्धि, प्रणव (ओंकार) का उच्चारण इत्यादि से सम्बन्धित विषयों का विधान किया गया है। सूत्रकार ने क्रुष्टादि सात सामवेदीय स्वरों का भी निर्देश किया है।

**सन्धि-विचार**—तै० प्रा० में तै० सं० की सन्धियों का साङ्गोपांग विवेचन हुआ है। संहितास्थ प्रत्येक पद की गणना करते हुए तद्विषयक सन्धिनियमों का निर्देश हुआ है। तै० प्रा० में तृतीय अध्याय से षोडश अध्याय पर्यन्त सन्धि-विषयक विधान हुए हैं। प्रातिशाख्यकार ने सन्धिविषयक विधानों को चार प्रकार की संहिताओं में विभक्त किया है—पदसंहिता, अक्षरसंहिता, वर्णसंहिता और अंगसंहिता। इन सन्धि-नियमों में स्वरों का ह्रस्वत्व, प्रग्रहस्वर, आगम लोप, सत्व, षत्व, णत्व, स्वर सन्धि, विसर्जनीय सन्धि तथा अनुस्वारागम इत्यादि विहित हैं।

**तै० प्रा० की विशेषताएँ**—इस प्रातिशाख्य की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं—

(१) यह प्रातिशाख्य यद्यपि ऋ०प्रा० तथा वा०प्रा० से आकार में छोटा है। फिर भी वर्ण्य विषय की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इतने कम सूत्रों में कृष्ण-

यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का साङ्गोपाङ्ग विवेचन इस प्रातिशाख्य की विशेषता है।

(२) अन्य प्रातिशाख्यों में पदपाठ को प्रकृत्ति मानकर संहिता में होने वाले विकारों का विधान हुआ है किन्तु इसमें अन्य प्रातिशाख्यों की भाँति पदपाठ को प्रकृति मानकर सन्धि विषयक विधान के साथ-साथ संहिता को प्रकृति मानकर पदपाठ में होने वाले ह्रस्वत्व विकार का विधान किया गया है।

(३) इसमें प्रग्रह संज्ञा का विधान सम्पूर्ण चतुर्थ अध्याय में विस्तृत रूप से किया गया है।

(४) इस प्रातिशाख्य में विहित नियम संहितापाठ, पदपाठ, क्रमपाठ तथा जटापाठ पर भी लागू होता है। जबकि अन्य प्रातिशाख्यों में विहित नियम जटापाठ में लागू नहीं होते।

(५) इस प्रातिशाख्य में कोई कार्य परिवेश विशेष में सिद्ध होने पर भी उसका स्पष्ट विधान किया गया है। जैसे १।१४ में घोषवत् संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि अवशिष्ट सभी व्यञ्जन घोषवत् संज्ञक हैं। अघोष संज्ञा के विधान द्वारा उनका घोषत्व स्वतः सिद्ध होने पर भी इस संज्ञा का स्पष्ट विधान किया गया हैं।

(६) इस प्रातिशाख्य में विक्रम संज्ञक अनुदात्त विशेष का विधान किया गया है जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

(७) इस प्रातिशाख्य में पदसंहिता, अक्षर संहिता, वर्णसंहिता और अंगसंहिता इन चार प्रकार की संहिताओं का विधान हुआ है जो अन्य प्रातिशाख्यों में विहित नहीं हैं।

(८) इसमें अनुस्वारागम का अत्यधिक विस्तृत विवेचन हुआ है।

(९) कम्प स्वरित का उच्चारण विषयक महत्त्वपूर्ण विधान इस प्रातिशाख्य के उन्नीसवें अध्याय में हुआ है।

(१०) वर्णों के स्वरूप तथा उनके उच्चारण प्रकार का जितना सूक्ष्म, विस्तृत तथा वैज्ञानिक विवेचन तै० प्रा० में हुआ है उतना अन्यत्र नहीं उपलब्ध होता है।

(११) इसमें अभिनिहत सन्धि तथा णत्व का विस्तृत विधान हुआ है।

(१२) भाषाविज्ञान की दृष्टि से इस प्रातिशाख्य की महती उपयोगिता है। अङ्गाङ्गिभाव, वर्णों का उच्चारण स्थान तथा करण का निर्देश ध्वनि वैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

**तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में उद्धृत आचार्य**—इस प्रातिशाख्य में अपने मत को पुष्ट करने अथवा मतान्तर को निर्दिष्ट करने के लिए २२ आचार्यों के नाम और उनके मतों को प्रस्तुत किया गया हैं, वे आचार्य ये हैं—अग्निवेश्य (९।४) अग्निवेश्यायन (१४।३२) आत्रेय (५।३१, १७।८) उख्य (८।२२, १०।२०, १६।२३) उत्तमोत्तरीय (८।२०) काण्डमायन (८।१, १५।८) कौण्डिन्य (५।३८) गौतम (५।३८) पौष्करसादि (५।३७) प्लाक्षायण (९।६) प्लाक्षि (५।३८) वाडभीकार (१४।१३) भरद्वाज (५।४०) भारद्वाज (१७।३) माचाकीय (१०।२२) वात्सप्र (१०।२३) वाल्मीकि (५।३६) शांखायन (१५।७) शैत्यायन (५।४०) साङ्कृत्य (८।२१) स्थविर कौण्डिन्य (५।४०) और हारीत (१४।१८) ।

**तै० प्रा० में प्रयुक्त संहिता-स्थलों के लिए विशिष्ट संज्ञाएँ**—इस प्रातिशाख्य में कतिपय संहिता के स्थलों को विशिष्ट संज्ञाओं द्वारा अभिहित किया गया है, वे संज्ञाएँ इस प्रकार हैं—

(१) अग्नि (३।९)—तैत्तिरीय संहिता के चतुर्थ काण्ड के लिए यह संज्ञा प्रयुक्त है ।

(२) इष्टि (४।५२)—तै० सं० के द्वितीय काण्ड के द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ इन तीन प्रपाठकों के लिए इष्टि संज्ञा का प्रयोग हुआ है ।

(३) उख्य (६।२०)—तै० सं० ४।१।१ से ४।२।१० तक के स्थल के लिए उख्य संज्ञा का प्रयोग हुआ है ।

(४) ग्रह (९।२०)—अन्तिम अनुवाक से व्यतिरिक्त प्रथम काण्ड के चार प्रपाठकों (४२ अनुवाक) के लिए ग्रह संज्ञा प्रयुक्त है ।

(५) पृष्ठ्य (९।२०)—तै० सं० ४।४।१२, ४।६।६-९, ४।७।१५, ५।१।११, ५।२।११-१२ के लिए पृष्ठ्य संज्ञा का प्रयोग हुआ है ।

(६) महापृष्ठ्य (११।३)—तै० सं० ४।४।१२, ४।६।६-९, ४।७।१५ के लिए महापृष्ठ्य संज्ञा प्रयुक्त हैं ।

(७) याज्या (३।९) १।१।१४ से ४।३।१३ प्रपाठकों के अन्तिम अनुवाक और २।६।११ अनुवाक (=२३ अनुवाकों) के लिए यह संज्ञा प्रयुक्त है ।

(८) रुद्र (९।३)—चतुर्थ काण्ड का पंचम प्रपाठक ।

(९) वाजपेय (११।३) प्रथम काण्ड के सप्तम प्रपाठक के छः अनुवाक (१।७।७-१२) ।

(१०) विकर्ष (११।३) चौथे काण्ड के छठे प्रपाठक के ५ अनुवाक (४।६।१-५)

(११) विहव्य ( ११।३ ) चौथे काण्ड के छठे प्रपाठक के ३ अनुवाक (४।६।१२-१४)।

(१२) हिरण्यवर्णीय ( ६।२० ) पाचवें काण्ड के छठें प्रपाठक का प्रथम अनुवाक (५।६।१)।

## तै० प्रा० के भाष्य

उपलब्ध भाष्य—इस प्रातिशाख्य के ३ भाष्य सम्प्रति उपलब्ध होते हैं—

(१) पदक्रमसदन भाष्य—इस भाष्य के कर्त्ता आचार्य माहिषेय हैं। उपलब्ध सभी भाष्यों में यह सर्वप्राचीन है तथा अन्य भाष्यों की अपेक्षा संक्षिप्त तथा सरल भाषा मे लिखा गया है। त्रिभाष्यरत्नकार सोमयार्य ने इस भाष्य से अधिक सहायता ली है। तै० प्रा० २३।१५ से २४।३ तक के सूत्रों पर यह भाष्य उपलब्ध नहीं होता। अतः इन सूत्रों पर वैदिकभूषण नामक व्याख्या जोड़ कर इसे पूरा किया गया है[1]।

(२) त्रिभाष्यरत्न भाष्य—इसके कर्त्ता सोमयार्य हैं। तै० प्रा० के भाष्यों मे पदक्रमसदन भाष्य के बाद इसी भाष्य का नाम आता है। यह अत्यन्त उपयोगी है। यह अपने से पूर्ववर्ती तीन भाष्यों—माहिषेय, वररुचि, तथा आत्रेय भाष्य को सहायता से लिखा जाने के कारण त्रिभाष्यरत्न भाष्य कहलाता है। अतः इसका श्रेष्ठ होना निर्विवाद है। भाष्यकार ने मङ्गलाचरण में विरचित श्लोकों की व्याख्या में स्वयं कहा है कि वररुचि आदि के व्याख्यान के रूप में विद्यमान भाष्य समूहों को देखकर अत्यन्त संक्षिप्त तथा अनावश्यक विस्तार का परिहार करते हुए लिखा गया यह भाष्य विद्वानों को प्रिय होकर शोभायमान होता है[2]।

(३) वैदिकाभरण—इस भाष्य के कर्त्ता गार्ग्य गोपालयज्वा हैं। यह भाष्य पूर्ववर्ती दोनों भाष्यों से अधिक महत्त्वपूर्ण है। भाष्यकार ने व्याकरण विषयक

---

१. द्रष्टव्य वे० वेंकटराम शर्मा द्वारा सम्पादित तै० प्रा० २३।१५ पर पाद टिप्पणी।

२. व्याख्यानं प्रातिशाख्यस्य वीक्ष्य वाररुचादिकम्।
कृतं त्रिभाष्यरत्नं यद्भासते भूसुरप्रियम्॥
तै० प्रा० १।१ पर त्रि० भा०

सूत्रों की व्याख्या अत्यधिक विस्तृत रूप से की है। वैदिकाभरणकार के अनुसार प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद की अनेक शाखाओं से है। इसके अनुसार प्रातिशाख्यों में शिक्षा तथा व्याकरण के विषयों का विधान अपनी-अपनी शाखा के अनुसार किया गया है[1]। इनके मत में प्रातिशाख्य मूलतः व्याकरण प्रधान ग्रन्थ हैं। इसीलिए सूत्रों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए इन्होंने जगह-जगह पाणिनि के सूत्रों को उद्धृत किया है।

**अनुपलब्ध भाष्य**—त्रिभाष्यरत्नकार ने तै० प्रा० पर वररुचि तथा आत्रेय द्वारा विरचित भाष्यों का भी उल्लेख किया है किन्तु सम्प्रति ये भाष्य उपलब्ध नहीं हैं।

**संस्करण**—तै० प्रा० के चार संस्करण अब तक प्रकाश में आए हैं—

(१) सूत्रानुवाद, त्रिभाष्यरत्न भाष्य तथा उसकी आलोचनात्मक व्याख्या के साथ न्यू हैवेन अमेरिका से प्रसिद्ध अमेरिकन विद्वान् प्रो० डब्लू० डी० ह्विटनी ने इस प्रातिशाख्य को सर्वप्रथम १८६८ में प्रकाशित किया। इस संस्करण में सूत्रों को देवनागरी लिपि में तथा त्रिभाष्यरत्न को रोमन लिपि में प्रस्तुत किया गया है। सूत्रानुवाद तथा त्रिभाष्यरत्न भाष्य की आलोचनात्मक व्याख्या अंग्रेजी में है।

(२) त्रिभाष्यरत्न भाष्य के साथ इसका एक संस्करण १८७२ में राजेन्द्र लाल मित्र ने सम्पादित किया। अनेक स्थलों पर अशुद्धियों के कारण यह संस्करण अपेक्षाकृत कम उपयोगी है।

(३) त्रिभाष्यरत्न तथा वैदिकाभरण भाष्य के साथ के० रङ्गाचार्य तथा शाम शास्त्री के संयुक्त प्रयास से मैसूर से सन् १९०६ में प्रकाशित इस प्रातिशाख्य का संस्करण श्रेष्ठ, शुद्ध तथा अत्यधिक उपयोगी है। यह देवनागरी लिपि में है।

(४) इस प्रातिशाख्य का एक संस्करण पदक्रमसदन भाष्य के साथ १९३० में वी० वेंकट राम शर्मा द्वारा देवनागरी लिपि में प्रकाशित किया गया है। माहिषेय भाष्य के साथ केवल यही संस्करण प्रकाशित हुआ हैं। यह अपूर्ण और त्रुटित रूप में प्राप्त होता है।

———

१. तै० प्रा० २।१।१ पर वै० भा०।

# तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य

( एक परिशीलन )

# १ : वर्णसमाम्नाय-प्रकरण

---

वर्गसमाम्नाय

वर्ण-राशि का विभाजन

स्वर तथा व्यञ्जन का बलाबल

स्वरों का अवान्तर विभाजन

व्यञ्जनों का अवान्तर विभाजन

पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः ।
स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्यसम्पदम् ॥

( तै० प्रा० २४.६ )

# वर्णसमाम्नाय-प्रकरण

वर्ण संहिता की मूल इकाई हैं। वर्णों से पद तथा पदों से संहिता निष्पन्न होती है। अतः संहिता के सम्यक् अवबोध के लिये तत्सम्बन्धी वर्णों का ज्ञान अपेक्षित है। इसीलिए प्रातिशाख्यों में वर्णसमाम्नाय-विषयक विधान प्राप्त होते हैं। यद्यपि वा० प्रा० के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रातिशाख्य में वर्ण-समाम्नाय का स्पष्ट निर्देश नहीं प्राप्त होता तथापि उनमें प्रतिपादित वर्ण-विषयक पारिभाषिक शब्दों से उनमें गृहीत वर्ण-राशि का ज्ञान सम्यक् रूपेण हो जाता है।

**वर्ण-समाम्नाय का अर्थ**—वर्ण-समाम्नाय के लिए वर्णमाला, वर्णराशि, वर्ण-समूह इत्यादि शब्द प्रचलित हैं। तै० प्रा० में सर्वप्रथम 'वर्ण-समाम्नाय' पद का प्रयोग किया गया है। 'वर्ण-समाम्नाय' पद की निष्पत्ति देते हुए भाष्यकार गार्ग्यगोपालयज्वा ने कहा है कि जो वर्णित होते हैं, स्पष्ट रूप से ध्वनित (उच्चारित) होते हैं, वे अकारादि 'वर्ण' हैं। 'सम्' यह उपसर्ग सहभाव को प्रकट करता है। 'आम्नान' का अर्थ है अभ्यास अर्थात् पाठ अथवा विधान। जहाँ वर्णों के समूह का अभ्यास (पाठ अथवा विधान) किया जाय, वह 'वर्ण-समाम्नाय' है।[1]

सोमयार्य ने वर्ण-समाम्नाय के प्रसङ्ग में समाम्नाय का अर्थ इस प्रकार किया है—'सम्' का अर्थ है—एकीभाव (एकत्र करना)। 'आ' मर्यादा में प्रयुक्त है। 'म्नाय' का अर्थ है 'क्रम से उपदेश'। अतः 'समाम्नाय' का अर्थ है 'एकत्र क्रम से उपदेश' और वर्ण-समाम्नाय का अर्थ है—'अकारादि वर्णों का क्रम से एकत्र उपदेश'।[2]

---

१. वर्ण्यन्ते व्यक्तं ध्वन्यन्त इति वर्णा अकारादयः। समित्युपसर्गस्सहत्वं द्योतयति। आम्नानमभ्यासः। यत्र समुदितानामभ्यासः क्रियते स समाम्नायः।

—तै० प्रा० १।१ पर वै० भा०।

२. 'सम्' इति एकीभावे। 'आ' मर्यादायाम्। 'म्नाय' इति आनुपूर्व्येणोपदेशः। एकीभूता अकारादयो वर्णाः""आनुपूर्व्येण पूर्वैः शिष्टैरुपदिष्टाः।

—तै० प्रा० १।१ पर त्रि० भा०।

उवट के अनुसार जिस संग्रह में वर्णों का पाठ होता है, वह 'वर्ण-समाम्नाय' है।[1]

'वर्ण-समाम्नाय' के लिए ऋग्वेद-प्रातिशाख्य में 'वर्णराशि'[2] तथा ऋक्तन्त्र में 'अक्षर-समाम्नाय'[3] संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

**तै० प्रा० में वर्ण-समाम्नाय**—इसमें ग्रन्थकार ने यद्यपि वर्णमाला का स्पष्ट निर्देश नहीं किया है तथापि वर्ण-समाम्नाय-विषयक विधानों के आधार पर भाष्यकारों ने तै० प्रा० में गृहीत वर्ण-राशि का निर्धारण किया है।

**वर्णों की संख्या**—तै० प्रा० के कतिपय प्रारम्भिक सूत्रों के आधार पर इस प्रातिशाख्य में कुल साठ वर्ण उपलब्ध होते हैं, जो इस प्रकार हैं—सोलह स्वर-वर्ण, पच्चीस स्पर्शवर्ण, चार अन्तःस्थावर्ण, छः ऊष्मवर्ण, अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य, ळकार, चार यम और स्वरभक्ति। सूत्रकार द्वारा निर्दिष्ट न होने के कारण भाष्यकारों में भी वर्णों की संख्या के विषय में एकमत नहीं प्राप्त होता है।

माहिषेय ने वर्ण-समाम्नाय विधायक सूत्र के भाष्य में स्वरों का क्रम इस प्रकार प्रस्तुत किया है—अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ, क् ख् ग् घ् ङ्, च् छ् ज् झ् ञ्, ट् ठ् ड् ढ् ण्, त् थ् द् ध् न्, प् फ् ब् भ् म्, य् र् ल् व्, श् ष् स् ह्, कं, खं, गं, घम्। इस प्रकार यहाँ कुल तिरपन वर्णों की गणना माहिषेय ने की है जिनमें अन्तिम चार यम हैं जैसा कि 'वर्ण समाम्नाय' पद की व्याख्या करते हुए भाष्यकार ने कहा है—वर्णों का समाम्नाय (समूह) = वर्ण समाम्नाय। सम् का अर्थ है एकत्र करना। आ मर्यादा अर्थ में प्रयुक्त है। आम्नाय अर्थात् क्रम से उपदेश। अतः वर्ण-समाम्नाय का अर्थ हुआ—पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा क्रमशः अकार से प्रारम्भ करके यम

---

१. वर्णाः यस्मिन् समाम्नाये पठ्यन्ते स वर्णसमाम्नायः।
—वा० प्रा० ८।१ पर उ० भा०।

२. इति वर्णराशिः क्रमश्च। ऋ० प्रा० वर्गद्वयवृत्ति-१०।

३. ऋ० तं० १।४

पर्यन्त उपदिष्ट वर्ण-समूह। आगे[1] १।६ के भाष्य में उन्होंने ⁀क्, ⁀प्, विसर्जनीय, अनुस्वार और नासिक्य (ँ) वर्णों को व्यञ्जन वर्णों की कोटि में रखते हुए कुल अट्ठावन वर्णों का ग्रहण किया है। ळकार और स्वरभक्ति की गणना वर्णों में नहीं प्राप्त होती है।[2]

सोमयार्य ने 'वर्ण-समाम्नाय' का वही अर्थ किया है जो माहिषेय ने किया है किन्तु वर्ण-समाम्नाय के अन्तर्गत माहिषेय द्वारा उपदिष्ट वर्णों के क्रम को नहीं अपनाया है। सोमयार्य द्वारा प्रस्तुत वर्णों का क्रम इस प्रकार है—अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ, क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, ⁀क्, ⁀प्, श्, ष्, स्, ह्, अनुस्वार (अं), विसर्जनीय (अः), रङ्ग (=नासिक्य) (ँ), ळ, चार यम, स्वरभक्ति। इस प्रकार कुल साठ वर्णों की गणना सोमयार्य ने की है।[3]

गार्ग्यगोपालयज्वा ने वर्णों की संख्या उनसठ बतलाई है। उन्होंने वर्णमाला के अन्तर्गत स्वरभक्ति का ग्रहण नहीं किया है और चार यमों की पृथक् गणना न करके नासिक्य वर्ण के साथ उनकी गणना करते हुए पाँच नासिक्य वर्ण माना है—नासिक्याः पञ्च चोदिताः। इस प्रकार भाष्यकार ने यमों की गणना नासिक्य वर्णों में ही कर लिया है।[4]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि वस्तुतः तै० प्रा० में गृहीत कुल वर्णों की संख्या साठ है। माहिषेय ने ळकार और स्वरभक्ति इन दो वर्णों का वर्णमाला में कथन नहीं किया है और शेष अट्ठावन वर्णों को ही वर्णसमाम्नाय एवं व्यञ्जन विधायक सूत्रों में दिखलाया है। गार्ग्यगोपालयज्वा ने स्वरभक्ति को वर्णमाला के अन्तर्गत न मानते हुए उनसठ वर्णों का ही ग्रहण किया

---

१. अथ वर्णसमाम्नायः। तै० प्रा० १।१
वर्णानां समाम्नायो वर्णसमाम्नायः। समित्येकीभावे। आङ् मर्यादायाम्। आम्नाय इत्यानुपूर्व्येण अकारादयो यमपर्यवसानाः पूर्वाचार्यैरुपदिष्टा वर्णाः। तै० प्रा० १।१ पर मा० भा०

२. तै० प्रा० १।६ पर मा० भा०

३. तै० प्रा० १।१ पर त्रि० भा०

४. तै० प्रा० १।१ पर वै० भा०

है। उनकी दृष्टि में स्वरभक्ति पृथक् वर्ण न होकर स्वर-धर्म है किन्तु सोमयार्य ने स्पष्ट रूप से तै० प्रा० में गृहीत वर्णों की संख्या साठ बतलाई है।

## वर्णराशि का विभाजन

तै० प्रा० में वर्णों का विभाजन प्रधान रूप से दो श्रेणियों में किया गया है—(१) स्वर-वर्ण तथा (२) व्यञ्जन।

**स्वर-वर्ण** – वर्ण-विशेष वाची 'स्वर' शब्द ध्वनि करना अर्थ वाली 'स्वृ' धातु से 'अच्' प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न हुआ है। तै० प्रा० १.५ पर वै० भा० में कहा गया है—'स्वयं राजन्ते नान्येन व्यज्यन्त इति स्वराः' अर्थात् जो स्वयं प्रकाशित (उच्चरित) होते हैं, अन्य के द्वारा व्यक्त ( उच्चरित ) नहीं होते, वे 'स्वर" हैं। ऋ० प्रा० १.१३ के भाष्य में उवट का कथन है—'स्वर्यन्ते शब्द्यन्त इति स्वराः' अर्थात् किसी अन्य की सहायता के बिना स्वयं उच्चरित होते हैं, इस लिए 'स्वर' कहलाते हैं। पा० १.२.२९ पर महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्वर शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—स्वयं राजन्त इति स्वराः, अन्वग्भवति व्यञ्जनमिति। अर्थात् जो स्वयं प्रकाशित होते हैं, स्वयं शासक होते हैं, अन्य वर्ण की सहायता के बिना उच्चारित किये जाते हैं वे स्वर हैं जब कि व्यञ्जन स्वरों के अनुगामी होते हैं। पा० शि० ४ पर पंजिकाभाष्य के अनुसार 'स्वरा इति 'स्वृ शब्दोपतापयोः' स्वर्यंते शब्द्यतेऽनेन व्यञ्जनमिति करणेऽच्प्रत्ययः।' इस व्याख्या के अनुसार इन वर्णों को 'स्वर' कहने का कारण यह है कि इनकी सहायता से व्यञ्जनों का उच्चारण होता है।

**व्यञ्जन** —व्यञ्जन शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'व्यक्त होना', 'प्रकट होना' अथवा 'प्रकाशित होना' अर्थ वाली 'अञ्ज्' धातु से 'अनट्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।

तै० प्रा० १.६ पर वै० भा० में 'व्यञ्जन' शब्द का इस प्रकार निर्वचन किया गया है—'परेण स्वरेण व्यज्यत इति व्यञ्जनम्' अर्थात् 'स्वर' के द्वारा व्यक्त (उच्चरित) होने के कारण ये वर्ण 'व्यञ्जन' कहलाते हैं। ऋ० प्रा० १.६ के ऊपर भाष्य में उवट ने व्यञ्जन की व्याख्या इस प्रकार की है—व्यञ्जयन्ति प्रकटीकुर्वन्त्यर्थानिति व्यञ्जनानि' अर्थात् ये वर्ण अर्थों को व्यक्त करते हैं, अर्थों को प्रकट करते हैं, इसलिये ये वर्ण 'व्यञ्जन' कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि स्वरों के अपरिवर्तित रहने पर भी व्यञ्जन के परिवर्तित होने से शब्दों के अर्थ परिवर्तित हो जाते हैं।

तै० प्रा० में प्रस्तुत स्वरों और व्यञ्जनों को इस प्रकार रेखाचित्र में दिखाया जा रहा है—

वर्ण

| स्वर | व्यञ्जन |
|---|---|
| अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ। | क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, ⌣क्, ⌣प्, श्, ष्, स्, ह्, अनुस्वार, (ं) विसर्जनीय (:), नासिक्य (ँ), ळ,यम (४), स्वरभक्ति। |

विभाजन का आधार—'स्वर' तथा 'व्यञ्जन'—इन दो मुख्य श्रेणियों में वर्णों के विभाजन का आधार यह है कि 'स्वर' वे वर्ण हैं जो निरपेक्ष होते हैं अर्थात् जिनका उच्चारण अन्य वर्ण की सहायता के बिना, स्वतन्त्र रूप से किया जाता है, और व्यञ्जन वे वर्ण होते हैं जो स्वर के अङ्ग होते हैं,[1] स्वर-सापेक्ष होते हैं अर्थात् जिनका उच्चारण 'स्वर' की सहायता से होता है।

सोमयार्य ने 'स्वर' तथा 'व्यञ्जन' दोनों के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए कहा है कि 'व्यञ्जन' अकेला ठिक हा नहीं सकता, इसलिये सापेक्ष है तथा 'स्वर' निरपेक्ष। साथ ही यह भी कहा है कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि व्यञ्जन का भी अपना अस्तित्व है क्योंकि व्यञ्जन बदल जाने से शब्द का अर्थ भी बदल जाता है जैसे कूप और यूप इन दोनों में 'स्वर' तो वही हैं किन्तु व्यञ्जन भिन्न हैं और इसी कारण इन शब्दों के अर्थ भी भिन्न हो गये।[2]

---

१. व्यञ्जनं स्वराङ्गम्। तै० प्रा० २१।१

२. ननु 'कूपो यूप' इत्यादी व्यञ्जनमेवार्थविशेषबोधकमिति स्वरो व्यञ्जनाङ्गं किं न स्यात्? व्यञ्जनं केवलमवस्यातुं न शक्नोति किन्तु सापेक्षम्, स्वरस्तु निरपेक्षः। —तै० प्रा० २१।१ पर त्रि० भा०।

गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार जो स्वयं प्रकाशित होते हैं, अन्यों के द्वारा व्यक्त नहीं होते वे स्वर हैं[1] और जो स्वर की सहायता से व्यक्त अर्थात् उच्चरित होते हैं[2] वे व्यञ्जन वर्ण हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि व्यञ्जन वर्ण स्वर वर्णों पर आश्रित होते हैं।

## स्वर तथा व्यञ्जन का बलाबल

तै० प्रा० के इक्कीसवें अध्याय में बतलाया गया है कि व्यञ्जन स्वर का अङ्ग होता है।[3] भाष्यकारों ने स्पष्टरूपेण व्यञ्जन को स्वर का अङ्ग माना है तथा स्वर की प्रधानता स्वीकार किया है।

माहिषेय का कथन है कि स्वर कभी व्यञ्जन का अङ्ग नहीं हो सकता है।[4] चूँकि व्यञ्जन आधी मात्रा काल वाला होता है तथा स्वर ह्रस्व मात्रा काल ( एक मात्रा काल ) वाला होता है, अतः इनके संयोग वाला वर्ण डेढ़ मात्रा काल वाला हो जायेगा, ऐसा न हो इसीलिये व्यञ्जन को स्वर का अङ्ग कहा गया है। स्वर और व्यञ्जन के संयोग में स्वर की ही उपलब्धि होती है, व्यञ्जन की नहीं। जिस प्रकार जल तथा दुग्ध के मिश्रण में दूध का श्वेत वर्ण ही उपलक्षित होता है जल का नहीं।[5]

सोमयार्य ने स्वर की प्रधानता बतलाते हुए कहा है कि व्यञ्जन वर्ण अकेला स्थित नहीं हो सकता है, वह सापेक्ष होता है, स्वर तो निरपेक्ष होता है। सापेक्ष और निरपेक्ष में निरपेक्ष को ही बुद्धिमान् लोग विशिष्ट बतलाते हैं।

---

१. स्वयं राजन्ते नान्येन व्यज्यन्त इति स्वराः।
—तै० प्रा० १।५ पर वै० भा०।

२. परेण स्वरेण व्यज्यत इति व्यञ्जनम्।
—तै० प्रा० १।६ पर वै० भा०।

३. व्यञ्जनं स्वराङ्गम्। तै० प्रा० २१।१

४. न खलु स्वरोऽङ्गं व्यञ्जने भवति। तै० प्रा० २१।१ पर मा० भा०।

५. यत् पुनः पूर्वोक्तव्यञ्जनमर्द्धकालमात्रम्, स्वरश्च ह्रस्वकालमात्रः इति, एतयोः संयोगे अध्यर्धमात्रं स्यात्, तत्प्रतिषेधार्थं स्वराङ्गमित्युच्यते। यथा अप्सु पयसि आनीते पयसः श्वेतो वर्ण उपलक्ष्यते नोदकस्य तद्वत्। स्वरव्यञ्जनयोः संयोगे व्यञ्जनस्य नोपलब्धिर्भवति अङ्गभूतत्वात्। २१।१ पर मा० भा०।

अविशिष्ट का ही विशिष्ट के प्रति अङ्गत्व होता है[1]। अतः स्वर व्यञ्जन की अपेक्षा बलवान् है।

गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार, व्यञ्जन स्वतन्त्र नहीं रह सकता है। इसीलिए उसके अङ्गत्व का विधान किया गया है। उदात्तादि स्वरों का विचार करने पर यही ज्ञात होता है कि व्यञ्जन स्वर का अङ्ग है क्योंकि उदात्तादि गुण स्वाभाविक रूप से व्यञ्जन के अङ्ग नहीं होते। किसी व्यञ्जन का पृथक् उच्चारण करने पर उसमें उदात्तादि गुणों का भेद-ज्ञान नहीं होता है। सभी व्यञ्जन अपने समीपस्थ स्वर-वर्णों का अङ्ग होने के कारण ही उदात्तादि गुणों को प्राप्त करते हैं, स्वयं से नहीं।[2]

स्वरों के धर्म—उदात्तादि धर्म स्वर-वर्णों के ही होते हैं, व्यञ्जन के नहीं स्वर का अङ्ग होने के कारण ही व्यञ्जन उदात्तादि धर्म को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार दुग्ध और जल के मिश्रण में दुग्ध ही दिखलाई पड़ता है जल नहीं, उसी प्रकार स्वर और व्यञ्जन का सम्पर्क होने पर विशिष्ट होने के कारण स्वर की ही प्राप्ति होती है।[3]

इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से स्वतः उच्चारित किये जाने वाले वर्ण 'स्वर' वर्ण हैं तथा स्वर' वर्णों की सहायता से उच्चारित किये जाने वाले वर्ण 'व्यञ्जन' वर्ण हैं। अतः स्वर और व्यञ्जनों में स्वर का अधिक बलवान् होना स्पष्ट है।

---

१. व्यञ्जनं केवलमवस्थातुं न शक्नोति। किन्तु सापेक्षम्। स्वरस्तु निरपेक्षः। सापेक्षनिरपेक्षयोर्निरपेक्षमेव विशिष्टमाचक्षते प्रेक्षावन्तः। विशिष्टप्रत्यङ्गत्वमविशिष्टस्यैव। २१।१ पर त्रि० भा०।

२. अनेन व्यञ्जनस्य स्वतंत्र्याभावस्तावदुच्यते। तस्मिन् सिद्धे ह्यङ्गविशेषनिरूपणमवकल्पते। उदात्तादिस्वरचिन्तायां व्यञ्जनं स्वराङ्गमेव। न तु व्यञ्जनस्य स्वभावतः उदात्तादिगुणास्सन्ति। न ह्येकैकस्मिन् व्यञ्जने पृथगुच्यमाने उदात्तादिगुणभेदास्फुरन्ति। ...... तस्मात् व्यञ्जनं सर्वं तत्समीपस्थस्वराङ्गतयैवोदात्तादिगुणान् लभते, न स्वत इति सिद्धम्। तै० प्रा० २१।१ पर वै० भा०।

३. स्वराणामेवोदात्तादयो धर्माः, व्यञ्जनं तु तदङ्गतया व्यञ्जनमर्धमात्रम्। यथा क्षीरोदकसम्पर्के क्षीरस्यैवोपलब्धिर्नोदकस्य, तथा स्वरव्यञ्जनसम्पर्के स्वरस्यैवोपलब्धिर्वैशिष्ट्यम्। तै० प्रा० २१।१ पर त्रि० भा०।

**आधुनिक भाषावैज्ञानिकों का विचार**—आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक यह मानते हैं कि स्वर और व्यञ्जन दोनों का उच्चारण बिना एक दूसरे की सहायता के स्वतन्त्र रूप से भी किया जा सकता है। उनका कथन है कि स् श् इत्यादि व्यञ्जनों को स्वर की सहायता के बिना उच्चारित किया जा सकता है। अनेक ऐसी भाषाएँ है जिनके अनेक शब्द बिना 'स्वर' की सहायता के उच्चरित होते हैं। अतः प्राचीन भाषाविदों द्वारा प्रस्तुत 'स्वर' 'व्यञ्जन' की उपर्युक्त परिभाषाएँ पूर्णतः अशुद्ध हैं।

आधुनिक-भाषा वैज्ञानिकों का यह मत प्राचीन भाषाविदों के मत की श्रेष्ठता को कम नहीं कर पाता है। यह सत्य है कि प्राचीन भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत 'स्वर' और 'व्यञ्जन' की परिभाषाएँ पूर्णतः सर्वसम्मत नहीं हैं किन्तु इन्हें अशुद्ध भी नहीं कहा जा सकता है। 'स्वर' और 'व्यञ्जन' को विभक्त करने वाली कोई सीमा-रेखा खींच देना सम्भव नहीं है। ध्वनि मापक अनेक आधुनिक यन्त्रों के रहते हुए भी आज तक आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक 'स्वर' और 'व्यञ्जन' की कोई सर्वसम्मत परिभाषा प्रस्तुत कर सकने में असफल रहे हैं।

'स्वर' और 'व्यञ्जन' की प्राचीन भाषाशास्त्रियों की परिभाषाएँ इन कारणों से श्रेष्ठ सिद्ध होती हैं—(१) व्यञ्जन की अपेक्षा स्वर अधिक मुखर होते हैं (२) अक्षर (syllable) की निष्पत्ति स्वर से होती है व्यञ्जन से नहीं (३) स्वर का उच्चारण स्थायित्व लिए होता है अर्थात् वह देर तक उच्चरित हो सकता है, व्यञ्जन नहीं (४) स्वर का उच्चारण आसानी से तथा स्पष्ट रूप से किया जा सकता है। व्यञ्जन का उच्चारण स्वर के अभाव में स्पष्टतया नहीं हो सकता है। बिना स्वर की सहायता लिये व्यञ्जन के उच्चारण में बड़ी सावधानी करनी पड़ती है। सावधानी करने पर भी स्वर की थोड़ी-सी ध्वनि सुनाई पड़ ही जाती है।

**स्वर-वर्ण**—तै० प्रा० में कुल सोलह वर्ण, जो वर्ण-समाम्नाय के प्रारम्भ में आते हैं स्वर संज्ञक कहे गये हैं।[1] ये हैं—अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ ॠ ऌ, ए, ऐ, ओ तथा औ।

---

१. षोडशादितः स्वराः। तै० प्रा० १।५

स्वरों की संख्या तथा क्रम की दृष्टि से अन्य प्रातिशाख्यों से तै० प्रा० भिन्न है। ऋ० प्रा० में चौदह स्वर बतलाये गये हैं तथा अ और

## स्वरों का अवान्तर विभाजन

उपर्युक्त सोलह स्वरों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—(१) समानाक्षर[1] तथा (२) असमानाक्षर।[2]

समानाक्षर—वर्ण-समाम्नाय में प्रारम्भ से नौ वर्ण समानाक्षर हैं।[3] जैसे—अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, तथा उ, ऊ, ऊ३।

समानाक्षर संज्ञक वर्णों के अन्तर्गत प्लुत स्वरों–आ३ ई३ तथा ऊ३ का तै० प्रा० में जो ग्रहण किया गया है उसका कारण यह है कि ये वर्ण दो स्वरों की सन्धि से निष्पन्न नहीं होते हैं। केवल इन वर्णों के उच्चारण में लगने वाले मात्रा काल में ही भेद है। ऋ० प्रा०, वा० प्रा० तथा ऋ० तं० में प्लुत स्वरों का समानाक्षर वर्णों के अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया गया है।

ऋ, ॠ, और ऌ ये तीनों स्वर स्वरूप की दृष्टि से समानाक्षर हैं क्योंकि ये दो स्वर वर्णों की सन्धि से उत्पन्न नहीं हैं। किन्तु तै० प्रा० ऋ और ॠ को समा-

---

उ के प्लुत रूपों का ग्रहण नहीं हुआ है, अ और आ के पश्चात् ऋ तथा ॠ का ग्रहण हुआ है तथा ए के बाद ओ और ऐ के बाद औ का पाठ किया गया है जो तै० प्रा० से पूर्णतः भिन्न है। वा० प्रा० में तेईस स्वर अभिहित हैं तथा प्लुत ऋ३, दीर्घ ॡ, प्लुत ॡ३ और ए, ऐ एवं ओ तथा औ के प्लुत रूपों का भी ग्रहण किया गया है। ऋक्तन्त्र में भी ऋ० प्रा० के समान चौदह स्वरों की गणना की गयी है जो इस प्रकार हैं—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ तथा औ।

१. समानाक्षर का अर्थ है समान अक्षर अर्थात् इनका उच्चारण सर्वांश में समान रूप से होता है। इनके उच्चारण में एकरूपता होती है। उच्चारण में प्रयुक्त जिह्वादि अवयव एक ही अवस्था में स्थित रहते हैं—उनकी स्थिति तथा आकृति में अन्तर नहीं आता। वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर भी नहीं जाते हैं।

समानाक्षर कहने का यह भी कारण हो सकता है कि इन स्वरों में तीन-तीन स्वर स्थान और प्रयत्न की दृष्टि से एक दूसरे के समान होते हैं। यथा—अ आ आ३, इ ई ई३, उ ऊ ऊ३,।

२. तै० प्रा० में असमानाक्षर संज्ञा का विधान नहीं किया गया है।

३. अथ नवादितः समानाक्षराणि। तै० प्रा० १।२

नाक्षर नहीं मानता है। तै० प्रा० में ऋ और ॠ को समानाक्षर न माने जाने का यह कारण प्रतीत होता है कि सूत्रकार ऋ और ॠ में रेफ का अंश मानकर उसे स्वर तत्त्व तथा व्यञ्जन तत्त्व का संयुक्त रूप मानते हैं। दो विजातीय तत्त्वों से युक्त ऋ, ॠ को समानाक्षर मानना आचार्य को उचित नहीं प्रतीत हुआ। इसीलिये सूत्रकार ने इन वर्णों को समानाक्षर संज्ञा से अभिहित नहीं किया है।

**असमानाक्षर**—वर्णसमाम्नाय के अन्तर्गत समानाक्षर संज्ञा वाले नौ वर्णों के पश्चात् आने वाले सात-वर्णों के लिए सूत्रकार ने किसी संज्ञा का विधान नहीं किया है। ये वर्ण हैं-ऋ, ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ और औ। समानाक्षर संज्ञक वर्णों से भिन्न होने के कारण इन सात स्वर-वर्णों को यहाँ असमानाक्षर संज्ञा से अभिहित किया गया है। गार्ग्यगोपालयज्वा ने ए, ओ, ऐ और औ के लिए सन्ध्यक्षर संज्ञा का व्यवहार किया है क्योंकि ये स्वर-वर्ण दो स्वरों की सन्धि से उत्पन्न होते हैं। इनके अतिरिक्त समान रूप वाले अकारादि अन्य स्वर-वर्ण समानाक्षर हैं।[1]

**ऋ और ॠ का असमानाक्षरत्व**—तै. प्रा. में ऋ तथा ॠ को समानाक्षर नहीं माना गया है। इनकी गणना स्वर-वर्णों के अन्तर्गत तो की गयी है किन्तु समानाक्षर संज्ञक स्वरों के अन्तर्गत नहीं।[2] माहिषेय तथा सोमयार्य ने अपने भाष्यों में स्वर-वर्णों के अन्तर्गत ऋ और ॠ की गणना तो की है किन्तु ऋ तथा ॠ के समानाक्षरत्व पर कोई विचार नहीं किया है। समानाक्षरत्व पद

---

१- एकारादयस्स्वरा : सन्ध्यक्षराणीत्याख्यायन्ते स्वरद्वयसन्धिरूपत्वात्।
तै. प्रा. १/२ पर वै. भा.

२- ऋ. प्रा., वा. प्रा., और ऋ. तं. में स्वरूप की दृष्टि से ऋ तथा ॠ का ग्रहण समानाक्षर स्वरों के अन्तर्गत ही किया गया है इसका कारण यह है कि ये प्रातिशाख्य दो प्रकार के स्वरों का विधान करते हैं-१-समानाक्षर तथा २-सन्ध्यक्षर। दो स्वरों की सन्धि से निष्पन्न अक्षरों को प्रातिशाख्यकारों ने सन्ध्यक्षर कहा है। यतः ऋ और ॠ दो स्वरों की सन्धि से निष्पन्न वर्ण नहीं हैं अतः इन्हें सन्ध्यक्षर संज्ञा नहीं दी गयी अपितु इनको समानाक्षर संज्ञक स्वरों के अन्तर्गत ही स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार तै. प्रा. के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्य ऋ तथा ॠ को समानाक्षर स्वर मानते हैं।

का अर्थ है सर्वांश में समान उच्चरित होने वाला अक्षर (homogeneous syllable)। स्वर तथा व्यञ्जनरूप दो विजातीय तत्त्वों से निष्पन्न होने के कारण[1] ऋ, ॠ का उच्चारण समान रूप से किया जाना सम्भव नहीं है। इसीलिये तै. प्रा. में समानाक्षरों के अन्तर्गत ऋ तथा ॠ का ग्रहण नहीं किया गया है।

गार्ग्यगोपालयज्वा ने ऋ और ॠ को समानाक्षर न मानने का कारण बतलाते हुए कहा है कि जिस प्रकार उपसर्गों की संख्या बाईस है, किन्तु आचार्य ने उपयोग को ध्यान में रखकर १|१५ में केवल दस पदों को ही उपसर्ग कहा है। उसी प्रकार यहाँ भी उपयोग की दृष्टि से नौ स्वर वर्णों—अ आ आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, की समानाक्षर संज्ञा की गयी है। अन्य आचार्यों का मत है कि ऋकारादि (ऋ ॠ ऌ) दो स्वरों की सन्धि से उत्पन्न न होने पर भी उनमें दो तत्त्वों के होने के कारण उन्हें समानाक्षर नहीं कहा जा सकता।[2]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि तै. प्रा. में समानाक्षर संज्ञा से तात्पर्य अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, तथा उ, ऊ, ऊ३–इन नौ स्वरों से ही है।

ऌ का असमानाक्षरत्व—ऋ ॠ की भाँति ऌ को भी तै. प्रा. में समानाक्षर नहीं माना गया है।[3] इसका स्वरों के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है किन्तु

---

१. ऋकारऌकारयोरन्तरा रेफलकारौ स्तः। तै० प्रा० १|३३ पर त्रि. भा.।

२. आचार्यस्तूपसर्गसंज्ञावदुपयोगानुगुण्यान्नवानामेवाह। अन्यत्तु मतम्-ऋकारादीनां त्रयाणां स्वरद्वयसन्धिरूपत्वाभावेऽपि रूपद्वयसद्भावादेषा संज्ञा न युक्तेति नवानामेवाहेति। —तै. प्रा. १|२ पर वै. भा.

३. ऋ. प्रा. तथा वा. प्रा. में ऌ के लिए समानाक्षर अथवा सन्ध्यक्षर-किसी भी संज्ञा का विधान नहीं किया गया है। यतः (१) ऌ दो स्वरों की सन्धि से निष्पन्न नहीं है तथा (२ ऋ. प्रा. १३|३५ के अनुसार जब ऋ का रेफ लकार हो जाता है तब ऋ ही ऌ हो जाता है; अतः ऋ के स्थान पर आने वाला ऌ स्वरूपतः ऋ के तुल्य ही है। ऋ. प्रा. के अनुसार ऋ समानाक्षर स्वर है अतः ऌ भी समानाक्षर होना चाहिए। एकमात्र ऋ. तं. १|२ में ऌ तथा ॡ को समान अर्थात् समानाक्षर संज्ञक स्वर-वर्णों के अन्तर्गत स्पष्टरूपेण स्वीकार किया गया है (अ इति आ इति इ इति उ इति ऊ इति ऋ इति ॠ इति ऌ इति ॡ इति समानानि)।

समानाक्षर संज्ञा का प्रयोग ऌ के लिए नहीं हुआ है। भाष्यकारों ने ऌ के समानाक्षरत्व पर विचार नहीं किया है। किन्तु १/३१ में विहित-'ऋकार तथा ऌकार ह्रस्व-संज्ञक होते हैं'-[1] सूत्र का पृथक् विधान करने का औचित्य बतलाते हुए सोमयार्य ने कहा है कि ऋकार तथा ऌकार में रेफ तथा लकार के अंश हैं।[2] अतः रेफ तथा लकार—इन व्यञ्जनों से मिश्रित होने के कारण ऋ और ऌ के उच्चारण में कालाधिक्य की प्रसक्ति होती है। वह न हो, इस लिए पृथक् सूत्र में ऋकार तथा ऌकार स्वरों को ह्रस्व मात्राकाल वाला होने का विधान किया है।[3]

इस प्रकार भाष्यों द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि ऌ में लकार का अंश है। अतः स्वर तथा व्यञ्जन रूप दो विजातीय तत्त्वों से निष्पन्न होने के कारण ऌकार को समानाक्षर संज्ञक वर्णों के अन्तर्गत नहीं रखा गया है।

तै. प्रा. के समानाक्षर-संज्ञा विधायक सूत्र में जिन नौ स्वर-वर्णों के लिये समानाक्षर संज्ञा का विधान किया गया है, उन्हें ही समानाक्षर जानना चाहिए और शेष ऋकारादि सात वर्णों को असमानाक्षर वर्ण समझना चाहिए।

स्वर-वर्णों के अवान्तर बिभाजन को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

स्वर-वर्ण

| समानाक्षर | असमानाक्षर |
|---|---|
| अ,आ,आ३,इ,ई,ई३,उ,ऊ,ऊ३ | ऋ,ॠ,ऌ,ए,ऐ,ओ,औ |

व्यञ्जन - तै० प्रा० में स्वर-वर्णों से व्यतिरिक्त वर्ण-राशि को व्यञ्जन संज्ञा से अभिहित किया गया है।[4]

---

१. ऋकारऌकारौ ह्रस्वौ। तै. प्रा. १/३१

२. ऋकारऌकारयोरन्तरा रेफलकारौ स्तः। तै. प्रा. १/३३ पर त्रि. भा.

३. ऋकार ऌकारयो रेफलकारस्थानत्वात् कालव्यतिचारः स्यात्। न ह्रस्वत्वं गम्येत, तन्माभूदिति एवमारभ्यते ऋकारऌकारौ ह्रस्वौ। तै० प्रा० १/३३ पार मा० भा०।

ऋकारऌकारयोरन्तरा रेफलकारौ स्तः। तत्तत्स्थानत्वादनयोः कालव्यभिचारः स्यात्। ह्रस्वत्वं न गम्येत। तन्माभूदित्येवमारभ्यते— ऋकारऌकारौ ह्रस्वौ।

तै० प्रा० १।३३ पर त्रि० भा०

४. शेषो व्यञ्जनानि। तै० प्रा० १।६

माहिषेय द्वारा स्वीकृत व्यञ्जन संज्ञक वर्णराशि इस क्रम में है—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, ⌣क्, श्, ष्, स्, ⌣प्, ह्, विसर्जनीय (अः), अनुस्वार (अं) तथा नासिक्य (ॅ)।

सोमयार्य ने तै० प्रा० में गृहीत चौवालीस व्यञ्जन-वर्णों को इस क्रम में रखा है—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, ⌣क्, ⌣प्, श्, ष्, स्, ह्, अनुस्वार (अं), विसर्जनीय (अः), नासिक्य (ॅ), ळकार, चार यम और स्वरभक्ति।[1]

गार्ग्यगोपालयज्वा के वैदिकाभरणभाष्य में तैंतालीस व्यञ्जन वर्ण प्राप्त होते हैं जिन्हें इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—२५ स्पर्श, ४ अन्तःस्था, ६ ऊष्म, विसर्जनीय, अनुस्वार, ळकार तथा ५ नासिक्य। वै० भा० में यमों का ग्रहण नासिक्यों के अन्तर्गत ही कर लिया गया है तथा स्वरभक्ति का वर्णराशि के अन्तर्गत ग्रहण नहीं किया गया है।

**व्यञ्जनों का अवान्तर विभाजन**—तै० प्रा० में गृहीत चौवालीस व्यञ्जनों को प्रधानतया इन नौ भागों में विभक्त किया गया है—(१) स्पर्श (२) अन्तःस्था (३) ऊष्मन् (४) अनुस्वार[2] (५) विसर्जनीय[2] (६) नासिक्य[2] (७) ळकार (८) यम[2] तथा (९) स्वरभक्ति।

नौ श्रेणियों में विभक्त इन व्यञ्जनों को अधोलिखित चार भागों में रखा जा सकता है—(१) स्पर्श (२) अन्तःस्था (३) ऊष्म तथा (४) अन्य वर्ण।

इस विभाजन को रेखाचित्र द्वारा दिखलाया जा रहा है—

व्यञ्जन

| स्पर्श | अन्तःस्था | ऊष्म | अन्य-वर्ण |
|---|---|---|---|
| क्, ख्, ग्, घ्, ङ् | य् | ⌣क् | अनुस्वार |
| च्, छ्, ज्, झ्, ञ् | र् | ⌣प् | विसर्जनीय |
| ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् | ल् | श्, ष् | नासिक्य |
| त्, थ्, द्, ध्, न् | व् | स्, ह् | ळकार |
| प्, फ्, ब्, भ्, म् | | | यम, स्वरभक्ति |

१. ककारादिस्वरभक्तिपर्यन्ता इति। वै० प्रा० १।६ पर त्रि० भा०
२. अनुस्वार, विसर्जनीय, नासिक्य तथा यम को वा० प्रा० और ऋ० तं०

स्पर्श व्यञ्जन (Contact Consonants)—तै० प्रा० में व्यञ्जनों में आदि वाले पच्चीस वर्णों को स्पर्श[1] संज्ञक कहा गया है।[2] उन स्पर्शों में क्रमशः पाँच-पाँच वर्णों की वर्ग संज्ञा होती है।[3] वर्ग शब्द का अर्थ है समूह। वर्ग शब्द का प्रयोग पाँच-पाँच स्पर्श वर्णों के समूह के लिए प्रातिशाख्यों में किया गया है। स्पर्श-वर्णों की संख्या पच्चीस है, इसलिए पाँच-पाँच स्पर्श-वर्णों के पाँच वर्ग होते हैं। प्रत्येक वर्ग का नाम वर्ग के प्रथम वर्ण के आधार पर पड़ा है।[4] ककार से लेकर मकार पर्यन्त पच्चीस व्यञ्जन-वर्णों को स्पर्श-संज्ञा बतलाई गयी है। ये स्पर्श-वर्ण हैं—

क् ख् ग् घ् ङ्
च् छ् ज् झ् ञ्
ट् ठ् ड् ढ् ण्
त् थ् द् ध् न्
प् फ् ब् भ् म्

इन स्पर्शों को पाँच वर्गों में विभक्त किया गया है तथा प्रत्येक वर्ग के वर्णों के लिए क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा उत्तम संज्ञा का ग्रहण किया गया

---

के क्रमशः ८।२५ तथा १।२ में अयोगवाह संज्ञा से अभिहित किया गया है। इस प्रकार वा० प्रा० तथा ऋ० तं० में व्यञ्जनों का विभाजन इन चार श्रेणियों में किया गया है—(१) स्पर्श (२) अन्तःस्था (३) ऊष्म और (४) अयोगवाह। ऋ० प्रा० में व्यञ्जनों को तीन भागों में विभक्त किया गया है—(१) स्पर्श (२) अन्तःस्था और (३) ऊष्म।

१. स्पर्श-संज्ञा का निर्वचन गार्ग्यगोपालयज्वा ने तै० प्रा० १।७ के भाष्य में इस प्रकार किया है—'स्पृष्टप्रयत्नजन्यत्वात्स्पर्शा इत्याख्यायन्ते।' स्पृष्ट प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण स्पर्श कहलाते हैं। स्पर्श शब्द का अर्थ है सम्पर्क या संयोग। स्पर्श वर्णों का उच्चारण करते समय मुख के दो उच्चारणावयव एक दूसरे का सम्पर्क करके वायु को रोकते हैं और फिर एक दूसरे से पृथक् होकर वायु को बाहर जाने देते हैं। इस प्रकार दो उच्चारणावयवों के स्पर्श से उत्पन्न होने के कारण ही इन वर्णों की स्पर्श संज्ञा हुई है।

२. आद्याः पञ्चविंशतिस्स्पर्शाः। तै० प्रा० १।७

३. स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्चपञ्च वर्गाः। तै० प्रा० १।१०

४. प्रथमो वर्गोत्तरो वर्गाख्या। तै० प्रा० १।२७

है।[1] वर्ग का नामकरण उस वर्ग के प्रथम स्पर्श के नाम पर होता है। यथा-कवर्ग के अन्तर्गत क्, ख्, ग्, घ्, ङ्; चवर्ग के अन्तर्गत च्, छ् ज् झ् ञ्; टवर्ग में ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्; तवर्ग में त्, थ्, द्, ध्, न् और पवर्ग में प्, फ्, ब्, भ्, म् स्पर्श-वर्णों का ग्रहण होता है।

अन्य प्रातिशाख्यों में भी स्पर्शों के लिए प्रथमादि संज्ञा का प्रयोग किया गया है किन्तु उनमें इन संज्ञाओं के लिए कोई संज्ञा-विधायक सूत्र नहीं प्रस्तुत किया गया है।

तै० प्रा० में स्वीकृत स्पर्श-वर्णों को इस रेखाचित्र में दिखलाया जा रहा है—

स्पर्श

| क वर्ग | च वर्ग | ट वर्ग | त वर्ग | प वर्ग |
|---|---|---|---|---|
| क्ख्ग्घ्ङ् | च्छ्ज्झ्ञ् | ट्ठ्ड्ढ्ण् | त्थ्द्ध्न् | प्फ्ब्भ्म् |

अन्तःस्था (Semi-Vowels)—स्पर्श-वर्णों के पश्चात् आने वाले चार वर्णों को तै० प्रा० में अन्तःस्था[2] संज्ञक वर्ण कहा गया है।[3]

---

१. प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः। तै० प्रा० १।११

२. अन्तःस्था शब्द की निष्पत्ति अन्तः पूर्वक स्था धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर होती है। इस प्रकार अन्तःस्था का अर्थ है मध्यमें स्थित। यतः य् र् ल् व् ये चारो वर्ण स्पर्श-वर्णों तथा ऊष्म वर्णों के मध्य में स्थित हैं। अतः इन्हें अन्तःस्था वर्ण कहते हैं। ऋ० प्रा० १।९ पर भाष्य में उवट ने यही अर्थ दिया है। तै० प्रा० १।८ पर वै० भा० में अन्तःस्था शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—जिह्वामध्यप्रभृतीनां करणानामन्तर्जन्यत्वाच्चर-लत्रा अन्तःस्था इत्याख्यायन्ते अर्थात् जिह्वामध्य आदि करणों के किनारों से उत्पन्न होने के कारण य् र् ल् व् अन्तःस्था कहलाते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न की दृष्टि से ये वर्ण स्वर और व्यञ्जन के मध्यवर्ती हैं। इनका उच्चारण करते समय उच्चारणावयव स्पर्श-वर्णों की भाँति न तो एक दूसरे का पूर्णतया स्पर्श करते हैं और न स्वर-वर्णों की भाँति बिलकुल अलग होते हैं। इस प्रकार मध्यम अवस्था में इनका उच्चारण होने के कारण इन्हें अन्तःस्था कहते हैं।

३. पराश्चतस्रोऽन्तस्स्थाः। तै० प्रा० १।८

ये चार वर्ण अन्तःस्था संज्ञक हैं—य् र् ल् तथा व्।

ऊष्म-वर्ण (Breath Sounds)—अन्तःस्था वर्णों के पश्चात् आने वाले छः वर्णों को तै० प्रा० में ऊष्म[1] संज्ञक वर्ण कहा गया है।[2]

तै० प्रा० में स्वीकृत ऊष्म-वर्ण ये हैं—जिह्वामूलीय[3] ( ≍क् ), श्, ष्, स्, उपध्मानीय[4] ( ≍प् ), तथा ह्।

---

१. 'ऊष्मन्' का शाब्दिक अर्थ है गर्म वायु या वाष्प। ऊष्म वर्णों का उच्चारण करते समय मुख से निकलने वाली गर्म वायु की प्रमुखता रहती है। इस लिये इन्हें 'ऊष्म-वर्ण' की संज्ञा दी जाती है। ऋ० प्रा० १।१० के भाष्य में भाष्यकार उवट ने यही बात कही है। तै० प्रा० १।९ पर वैदिकाभरण भाष्य में ऊष्मन् की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की गयी है—ऊष्माख्यबाह्यप्रयत्नयोगादूष्माण इत्याख्या अर्थात् ऊष्मा नामक बाह्य प्रयत्न के योग से उच्चारित होने के कारण ये वर्ण ऊष्म कहे जाते हैं।

ऊष्म-वर्णों के उच्चारण में वायु को दो उच्चारणावयवों के द्वारा पूर्णतः रोका नहीं जाता है अपितु वायु-मार्ग को संकुचित बना दिया जाता है जिससे वायु घर्षण करती हुई सँकरे मार्ग से बाहर निकलती है। इससे एक प्रकार की शीत्कार ध्वनि होती है। इसलिये ऊष्म-वर्णों को संघर्षी (Fricatives) भी कहते हैं।

२. परे षडूष्माणः। १।९।

ऋ० प्रा० १।१० वा० प्रा० ८।१६-१७ तथा ऋ० तं० १।२ में ऊष्म-संज्ञक वर्णों का विधान किया गया है। ऋ० प्रा० में ऊष्म-वर्णों की संख्या आठ बतलायी गयी है ह्, श्, ष्, स्, अः, ≍क्, ≍प्, अं। वा० प्रा० तथा ऋ० तं० में ऊष्म वर्णों की संख्या चार बतलायी गयी है ह्, श्, ष्, स्। इन दोनों प्रातिशाख्यों में जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय को ऊष्म वर्ण नहीं माना गया है। च० अ० १।३१ की व्याख्या करते हुए ह्विटनी ने च० अ० में इन छः वर्णों को ऊष्म-संज्ञक माना है—जिह्वामूलीय ( ≍क् ). श्, ष् स् ह्, उपध्मानीय ( ≍प् ) तथा।

३. ≍क्-प्रातिशाख्यों में इस वर्ण को जिह्वामूलीय कहा जाता है। जिह्वामूल का अर्थ है जिह्वा के मूल से उच्चरित होने वाला वर्ण। इसी अर्थ को दृष्टि में रखकर तै० प्रा० २।३५ पर वै० भा० में कहा गया है कि जिह्वामूलीय वर्ण जिह्वामूल से उत्पन्न होने के कारण जिह्वामूलीय कहलाता है (जिह्वामूलीयं जिह्वामूलेन ग्यत्वात्)।

४. ≍प्-प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में इस वर्ण को उपध्मानीय की संज्ञा दी गयी है।

अनुस्वार—तै० प्रा० में अनुस्वार[1] संज्ञा का विधान नहीं किया गया है, किन्तु अनेक सूत्रों में अनुस्वार का प्रयोग किया गया है।[2] इसी कारण वर्णसमाम्नाय के अन्तर्गत साक्षात् अनुस्वार का ग्रहण नहीं हुआ है। माहिषेय ने व्यञ्जन संज्ञा का विधान करने वाले सूत्र (१।६) के भाष्य में व्यञ्जनों के अन्तर्गत अनुस्वार की गणना की है। सोमार्य ने वर्णसमाम्नाय-विधायक सूत्र

उपध्मानीय शब्द की निष्पत्ति उप पूर्वक ध्मा धातु से अनीयर् प्रत्यय करने पर होती है। तै० प्रा० १।१८ पर वै० भा० में उपध्मानीय शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया गया है—उपध्मानीयः उपध्मानेन जन्यत्वात् अर्थात् उपध्मान से उत्पन्न होने के कारण ⌣प् को उपध्मानीय संज्ञक कहा जाता है। उपध्मान का अर्थ है फूँक मारना। जिस प्रकार फूँक मार कर दीपक को बुझाया जाता है। उसी प्रकार का प्रयत्न ⌣प् के उच्चारण में किया जाता है।

१. अनुस्वार शब्द अनु पूर्वक स्वृ धातु में घञ् प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है। अतः अनुस्वार का अर्थ हुआ—वह वर्ण जिसका उच्चारण अन्य वर्ण के पश्चात् होता है (अनुपश्चात् अन्यवर्णान्तरम्, स्वर्यते उच्चार्यते; इत्यनुस्वारः)। तै० प्रा० १।१८ पर वै० भा० में कहा गया है कि अनुस्वार का बाद वाला आधा भाग स्वरवत् उच्चरित होता है इसलिए अनुस्वार कहा जाता है (अनुस्वर्यते पश्चार्धे स्वरवदुच्चार्यते इत्यनुस्वारः)। पा० शि० ५ पर पंजिकाभाष्य में कहा गया है–स्वरमनु भवतीत्यनुस्वारः अर्थात् अनुस्वार वह वर्ण विशेष है जो किसी स्वर के बाद में आता है। इसी कारण अनुस्वार को अनुगामी ध्वनि (after sound) कहा जाता है। अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती स्वर के बिना स्थित नहीं हो सकता है इसलिए इसे पराश्रित वर्ण (dependent sound) भी कहा जा सकता है।

२. तै० प्रा० १।३४ में अनुस्वार का उच्चारण-काल एक मात्रा कहा गया है २।१६ में बतलाया गया है कि अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है। २।३० में यह विधान किया गया है कि अनुस्वार और वर्गों के अन्तिम स्पर्श-ये दोनों अनुनासिक हैं। १।१८ में कहा गया है कि विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार तथा नासिक्य वर्णों की कार संज्ञा नहीं होती है।

(१।१) के भाष्य में तै० प्रा० १।३४ को उद्धृत करते हुए, जिसके अनुसार अनुस्वार का उच्चारण-काल एक मात्रा बतलाया गया है, वर्ण-समाम्नाय के अन्तर्गत अनुस्वार की गणना की है। १।३४ के भाष्य में २।१६ को उद्धृत करते हुए भाष्यकार का कथन हैं कि अनुस्वार और स्वर-भक्ति पूर्वस्वर के अङ्ग होते हैं—इस सूत्र से स्वर का अङ्ग होने के कारण अनुस्वार का व्यञ्जनत्व सिद्ध है।[१] १।१ के भाष्य में सोमयार्य ने कहा है कि काल-विशेष पर आश्रित होने के कारण अनुस्वार धर्मी है न कि धर्म।[२] अर्थात् अनुस्वार एक वर्ण-विशेष धर्मी है। किसी अन्य वर्ण का धर्म नहीं है। यह स्वयं में पूर्ण एक वर्ण हैं। तै० प्रा० १।५ में सोलह स्वर वर्णों का कथन किया गया है।[३] इन सोलह वर्णों में अनुस्वार का ग्रहण नहीं हुआ हैं। १।६ के आधार पर स्वर-वर्णों से व्यतिरिक्त वर्णराशि को व्यञ्जन संज्ञक कहा गया है।[४] अतः अनुस्वार का व्यञ्जन होना सिद्ध हो जाता है। गार्ग्यगोपालयज्वा ने भी अनुस्वार को व्यञ्जन वर्ण माना है। उनके अनुसार तैत्तिरीय-शाखा में वर्गों के अन्तिम वर्णों की भाँति अनुस्वार व्यञ्जन ही है क्योंकि अनुस्वार का स्वरूप आधे गकार की तरह है।[५] व्यञ्जन-संज्ञक वर्ण-विशेष अनुस्वार की अभिव्यक्ति के लिए इस (ं) चिह्न का प्रयोग किया जाता है।

---

१. अनुस्वार स्वरभक्तिश्च (२।१६) इति स्वरप्रत्यङ्गत्वविधानादनुस्वारस्य व्यञ्जनत्वम्। तै० प्रा० १।३४ पर त्रि० भा०।

२. कालविशेषाश्रयत्वादसौ धर्मी न त्वनुनासिकवद्धर्मः।
तै० प्रा० १।१ पर त्रि० भा०

३. षोडशादितः स्वराः।-१।५
ये स्वर हैं—अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ तथा औ।

४. शेषो व्यञ्जनानि।-१।६
स्वरेभ्यः शेषो वर्णराशिर्व्यञ्जनसंज्ञो भवति। ककारादिस्वरभक्तिपर्यन्ता इत्यर्थः।.१।६ पर त्रि० भा०

५. अनुस्वारोऽप्युत्तमवद्व्यञ्जनमेव अस्मच्छाखायामर्धगकाररूपत्वात्। तै० प्रा० १।३० पर वै० भा०

विसर्जनीय—तै० प्रा० में विसर्जनीय[1] संज्ञा का विधान नहीं किया गया है। किन्तु अनेक स्थानों पर इसका प्रयोग प्राप्त होता है। भाष्यकारों ने विसर्जनीय का वर्णमाला में ग्रहण व्यञ्जन संज्ञा विधायक सूत्र[2] तथा वर्ण-समाम्नाय-विधायक सूत्र[3] के आधार पर किया है।[4] विसर्जनीय को व्यञ्जन तो माना गया है किन्तु ऊष्म वर्ण नहीं माना गया है। १।९ में[5] ऊष्म-वर्णों के अन्तर्गत जिन छः वर्णों का ग्रहण किया गया है, उनमें विसर्जनीय नहीं है।

विसर्जनीय को इस चिह्न द्वारा प्रदर्शित किया जाता है-(:)।

---

१. विसर्जनीय शब्द वि उपसर्ग, सृज् धातु तथा अनीयर् प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। माहिषेय अथवा सोमयार्य ने विसर्जनीय का निर्वचन नहीं किया है किन्तु १।१८ पर वै० भा० में गार्ग्यगोपालयज्वा ने विसर्जनीय शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है—वायोर्विसर्जनेन जन्यत्वात् अर्थात् वायु के विसर्जन से उत्पन्न होने के कारण—अः-विसर्जनीय कहा जाता है। यतः विसर्जनीय के उच्चारण में फेफड़ा वायु को शीघ्रता से बाहर फेंक देता है अतः इसे विसर्जनीय कहते हैं।

मोनियर विलियम ने अपने शब्द-कोष में विसर्जनीय की इस प्रकार व्याख्या की हैं (१) यह लोप के योग्य होता है अर्थात् परिस्थितिवशात् इसका प्रायः लोप हो जाता है, (२) इसके उच्चारण में श्वास पूर्णतया बाहर फेंक दिया जाता है, (३) प्रायः यह वर्ण पद अथवा वाक्य के अन्त में आता है। संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोश, पृष्ठ संख्या १००१।

२. तै० प्रा० १।६ पर मा० भा०

३. तै० प्रा० ५।१ पर त्रि० भा० तथा वै० भा०

४. ऋ० प्रा० विसर्जनीय को ऊष्म-वर्ण मानता है। ऋ० प्रा० १।८ में ऊष्म-वर्णों के अन्तर्गत विसर्जनीय का ग्रहण किया गया है। वा.प्रा. ८।२२ और ऋ० तं० १।२ में अः को विसर्जनीय संज्ञक कहा गया है। च० अ० १।४२ में अः के लिये अभिनिष्ठान का प्रयोग किया गया है। अभिनिष्ठान शब्द की निष्पत्ति अभि तथा नि उपसर्ग पूर्वक स्तन् धातु से हुई है जिसका अर्थ है वह ध्वनि जो नष्ट हो जाती है।

५. परे षडूष्माणः।

**नासिक्य**—तै० प्रा० में नासिक्य[1] संज्ञा का विधान नहीं किया गया है किन्तु नासिक्य शब्द का प्रयोग अनेक[2] स्थलों पर किया गया है। नासिक्य संज्ञा का विधान विशिष्ट नासिक्य वर्ण के रूप में २१।१४ में किया गया है—ण्, न् अथवा म् बाद में होने पर ह् के बाद में नासिक्य का आगम होता है।[3] इस सूत्र की व्याख्या में त्रिभाष्यरत्नभाष्य में केवल यह कहा गया है—इसका अर्थ है कि ह अनुनासिक हो जायेगा।[4] माहिषेय ने व्यञ्जन संज्ञा-विधायक सूत्र के भाष्य में व्यञ्जन वर्णों में नासिक्य की गणना की है। सोमयार्य ने वर्ण-समाम्नाय विधायक १।१ सूत्र के भाष्य में तै० प्रा० में स्वीकृत साठ वर्णों की गणना तो की है किन्तु उस गणना में उन्होंने नासिक्य के स्थान पर रङ्ग संज्ञा का विधान किया है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार का तात्पर्य यहाँ

---

१. नासिक्य का शाब्दिक अर्थ है नासिका से सम्बद्ध। तै० प्रा० २१।१४ पर वै० भा० में नासिक्य का स्वरूप इस प्रकार व्यक्त किया गया है—नासिकायां भवो वर्णो नासिक्यः अर्थात् नासिका में उच्चरित होने वाला वर्ण नासिक्य कहा जाता है। प्रातिशाख्यों में नासिक्य शब्द का व्यवहार मुख्यतः दो अर्थों में किया गया है—(१) नासिका से उच्चरित किया जाने वाला वर्ण-विशेष तथा (२) हकार तथा अनुनासिक स्पर्श के बीच में उच्चरित होने वाला आगम।

२. तै० प्रा० १।१८, २।४९, ५०; २१।८, १२ तथा १४

३. हकारान्नणमपरान्नासिक्यम्। तै० प्रा० २१।१४

४. सानुनासिक्यो हकारः स्यादित्यर्थः। २१।१४ पर त्रि० भा०।

५. १।१ के भाष्य में सोमयार्य ने २।५२ को उद्धृत किया है जिसका अर्थ है—नासिका-विवर से आनुनासिक्य (उच्चरित होते हैं)। इसी के आधार पर सोमयार्य ने रङ्ग का वर्णमाला में ग्रहण किया है—नासिकाविवरणादनुनासिक्यम् (२।५२) इत्यनेन रङ्ग उक्तः। यद्यपि प्रातिशाख्य ग्रन्थों में रङ्ग का प्रयोग अनुनासिक ध्वनि के लिये किया गया है किन्तु तै० प्रा० में इसका प्रयोग २।५२ के भाष्य में तथा १।१ के भाष्य में त्रिभाष्यरत्नकार द्वारा किया गया प्राप्त होता है। सूत्रकार ने इसका (रङ्ग का) प्रयोग नहीं किया है। वस्तुतः सूत्रकार द्वारा २।५२ में नासिक्य संज्ञा का विधान नहीं किया गया है, उसमें गुण (अनुनासिकत्व) का विधान किया गया है गुणी का नहीं जब कि नासिक्य एक वर्ण विशेष है, गुण नहीं। भाष्यकार द्वारा

नासिक्य वर्ण से ही है अथवा २।११४ में विहित नासिक्य के आगम से है। वैदिकाभरणकार ने भी नासिक्य की सत्ता को स्वीकार किया है। उन्होंने नासिक्य वर्णों में ४ यमों का भी अध्याहार किया है। इस प्रकार उनके अनुसार नासिक्य वर्णों की संख्या कुल पांच हो जाती है।[1]

ळकार— तै० प्रा० में व्यञ्जनों के अन्तर्गत ळकार का भी ग्रहण किया गया है। सोमयार्य तथा गार्ग्यगोपालयज्वा ने वर्ण-समाम्नाय विधायक १।१ सूत्र के भाष्य में १३।१६ सूत्र को[2] उद्धृत करके उसी के आधार पर ळ् वर्ण की वर्ण-समाम्नाय में गणना की है। माहिषेय ने ळकार का ग्रहण वर्णमाला में नहीं किया है। गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार तै० सं० में ड्कार और ळकार विद्यमान न होने पर भी शुक्रिय ब्राह्मण और पितृमेघ आदि में विद्यमान होने से यहाँ वर्णमाला में उसका ग्रहण किया गया है।[3]

यम—तै० प्रा० में व्यञ्जनों के अन्तर्गत यम[4] वर्णों का भी ग्रहण वर्णमाला में किया गया है। यद्यपि यम संज्ञा का विधान नहीं किया गया है किन्तु यहाँ कहा गया है कि—उत्तम स्पर्श (अन्तिम स्पर्श) वर्ण बाद में होने पर अनुत्तम स्पर्शों को यथाक्रम नासिक्यों का आगम होता है। कतिपय आचार्य इन नासिक्य

---

गृहीत इस (२।५२) सूत्र के आधार पर यदि गुण का विधान माना जाय तो १।३४ के आधार पर वर्ण-विशेष रूप अनुस्वार का ग्रहण विवादपूर्ण हो जायेगा। अतः यहाँ यही मानना उचित है कि सोमयार्य ने 'रङ्ग' के द्वारा नासिक्य वर्ण का ही ग्रहण वर्णमाला के अन्तर्गत किया है।

१. १।१ पर वै० भा०

२. पृक्तस्वरात्परो ळो डम् (१३।१६) इत्यनेन ळकार उक्तः। तै० प्रा० १।१ पर त्रि० भा० तथा वै० भा०

३. अत्र डकारळकारयोरस्मत्संहितायाम् अविद्यमानत्वेऽपि शुक्रिय ब्राह्मणे पितृमेधादिषु च विद्यमानत्वात्समाम्नानमत्र क्रियते। तै०प्रा० १।१ पर वै० भा०

४. यम का शाब्दिक अर्थ है जोड़ा अथवा जोड़े में से एक। अननुनासिक और अनुनासिक स्पर्शों के मध्य में आगम होने से एक अननुनासिक स्पर्श-वर्ण के स्थान पर दो वर्ण हो जाते हैं। इस जोड़े में से द्वितीय को यम कहते हैं।

५. स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः। तान्यमानेके। तै० प्रा० २१।१२-१३।

वर्णों को यम कहते हैं। माहिषेय ने १।१ के भाष्य में यम वर्णों के स्वरूप को इस प्रकार कहा है—कं खं गं घम्। सोमयार्य ने २१।१२ के अधार पर १।१ के भाष्य में चार यम वर्णों का वर्णमाला में ग्रहण किया है किन्तु उनका स्वरूप नहीं व्यक्त किया है। वैदिकाभरणकार ने यम वर्णों को पृथक् वर्ण नहीं माना है और इनका ग्रहण नासिक्य वर्णों के अन्तर्गत किया है। इस प्रकार वै० भा० के अनुसार नासिक्य वर्णों की संख्या पाँच है।[1]

तै० प्रा० में यम वर्ण को आगम के रूप में माना गया है अर्थात् वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ स्पर्शों के अनन्तर यदि किसी वर्ग का अन्तिम स्पर्श हो तो प्रथमादि स्पर्शों को नासिक्य का आगम होता है जिन्हें कुछ आचार्य यम संज्ञक मानते हैं।

स्वरभक्ति—तै० प्रा० में व्यञ्जनों के अन्तर्गत स्वरभक्ति[2] का भी ग्रहण किया गया है।[3] माहिषेय तथा वैदिकाभरणकार ने वर्णसमाम्नाय विधायक सूत्र तथा व्यञ्जन विधायक सूत्र के भाष्यों में वर्णमाला के अन्तर्गत स्वरभक्ति की गणना नहीं की है। सोमयार्य ने वर्णसमाम्नाय के अन्तर्गत स्वरभक्ति की गणना की है। २१।१५ में स्वरभक्ति का विधान इस प्रकार किया गया है—रेफ और ऊष्म वर्ण का संयोग होने पर रेफात्मक स्वरभक्ति होती है। मा० ने २१।१५ के भाष्य में स्वरभक्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि रेफ तथा ऊष्म वर्ण के संयोग में रेफ स्वरूप वाली भक्ति को प्राप्त करता है। इस रेफ के समान उच्चारणावयव करण वाले स्वर की भक्ति होती है। जिह्वा का अग्रभाग ही

---

१. "स्पर्शादनुत्तमात्" (२१-१२) इत्यादिभिस्त्रिभिस्सूत्रैः पञ्च नासिक्या विहिताः। तै० प्रा० १।१ पर वै० भा०

२. स्वरभक्ति शब्द का अर्थ है – स्वर वर्ण के द्वारा विभक्त करना। भक्ति शब्द विभक्त करना अर्थवाली भज् धातु से निष्पन्न हुआ है। रेफ के पश्चात् ऊष्म वर्ण आने पर रेफ के उच्चारण में असुविधा होती है। यह असुविधा न हो इसलिये रेफ तथा ऊष्म के मध्य में एक अति ह्रस्व स्वर वर्ण का आगम होता है। यह आगम ऋवर्णात्मक माना जाता है। इस आगम से रेफ तथा ऊष्म वर्ण का संयोग दो भागों में विभक्त हो जाता है। अतः इसे स्वरभक्ति कहा जाता है।

३. स्वरेभ्यः शेषो वर्णराशिर्व्यञ्जनसंज्ञो भवति। कारादिस्वरभक्तिपर्यन्ता इत्यर्थः। तै० प्रा० १।६ पर त्रि० भा०

करण होने के कारण ऋकार इस रेफ के समान उच्चारणावयव वाला है। यतः भक्ति का अर्थ है अवयव = एकादेश अर्थात् अंश, अतः स्वरभक्ति ऋवर्णांश होती है, ऋवर्णात्मक होती है।[1] सोमयार्य ने भी स्वरभक्ति का स्वरूप प्रदर्शित करने के लिये माहिषेय का ही अनुसरण किया है। २१।१५ के भाष्य में त्रिभाष्यरत्नकार ने कहा है—रेफ और ऊष्म (वर्ण) का संयोग होने पर, ऊष्म वर्ण के साथ संयुक्त रेफ स्वरभक्ति जाननी चाहिए। स्वरभक्ति किस प्रकार की होती है? स्वर की भक्ति = स्वरभक्ति। भक्ति = भाग = अवयव = एकदेश। जो इस रेफ के समान उच्चारणावयव वाला स्वर है उसकी भक्ति होती है और इस रेफ के समान धर्म वाला स्वर ऋकार है। कारण यह है कि रेफ के समान इस ऋकार का उच्चारणावयव जिह्वा का अग्रभाग है और यह ऋकार र् के समान सुनाई पड़ता है। तात्पर्य यह है कि स्वरभक्ति ऋकार का अवयव होती है।[2] इसको ग्रन्थों में लिखा नहीं जाता है किन्तु उच्चारण-सौकर्य के लिये स्वरभक्ति का उच्चारण किया जाता है। इसे उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है। उदाहरण—गार्हपत्यः[3]। यहाँ रेफ के पश्चात् ऊष्म वर्ण हकार है। रेफ और हकार के संयोग का उच्चारण कष्टसाध्य है। अतः रेफ और हकार के मध्य में एक अति ह्रस्व स्वर वर्ण का उच्चारण किया जाता है। इस तरह गार्हपत्यः का उच्चारण गार् (ऋ) हपत्यः इस रूप में किया जाता है। इस अति ह्रस्व स्वर वर्ण को स्वरभक्ति कहते हैं।

व्यञ्जन का काल आधी मात्रा होता है। स्वरभक्ति भी व्यञ्जन है अतः उसका काल आधी मात्रा होता है। त्रिभाष्यरत्नकार के अनुसार एक मात्रा

---

१. रेफस्य ऊष्मणश्च संयोगे रेफः स्वररूपं भक्तिं भजते। योऽस्य समानकरणः स्वरः तद्भक्तिर्भवितुमर्हति। ऋकारश्चास्य जिह्वाग्रकरणत्वेन सधर्मा। भक्तिरवयव एकादेश इत्यनर्थान्तरम्। एतदुक्तं भवति—ऋकारावयवो भवतीति यावत्। —तै० प्रा० २१।१५ पर मा० भा०।

२. रेफस्य चोष्मणश्च संयोगे सति रेफस्वरभक्तिरिति जानीयात्। स्वरस्य भक्तिः स्वरभक्तिः। योऽस्य रेफस्य समानस्वरस्तद्भक्तिः स्यात्। ऋकारश्चास्य जिह्वाग्रकरणत्वेन रश्रुत्या च समानधर्मः। भक्तिरवयव एकादेश इति यावत्। एतदुक्तं भवति। ऋकारावयवो भवतीत्यर्थः।

—तै० प्रा० २१।१५ पर त्रि० भा०।

३. तै० सं० १।६।७।

वाले ऋकार की चौथाई मात्रा स्वर-भाग होता है, मध्य में आधी मात्रा रेफ होता है, अन्त में भी चौथाई मात्रा स्वर-भाग होता है। यह ऋकार का स्वरूप है। इनमें से ऋकार के मध्यवर्ती आधी मात्रा वाले रेफ के विभक्त होने पर वे दोनों भाग पूर्ववर्ती और परवर्ती चौथाई ( स्वर-भाग ) के सहित स्वर-भक्ति संज्ञा को प्राप्त करते हैं और वह स्वरभक्ति आधी मात्रा काल वाली होती है।[1]

वैदिकाभरणकार के अनुसार रेफ और ऊष्म वर्ण का संयोग होने पर रेफ स्वरभक्ति होती है। भक्ति का अर्थ है धर्म। स्वरभक्ति का अर्थ है स्वरधर्म। यह स्वरभक्ति ऋकार के सदृश होती है तथा एक मात्रा काल वाली होती है।[2]

रेफ के बाद आने वाले ऊष्म-वर्ण का द्वित्व होने पर अथवा उस ऊष्म के बाद वर्ग का प्रथम स्पर्श होने पर स्वरभक्ति का निषेध हो जाता है।[3]

---

१. मात्रिकस्य ऋकारस्यादिरणुमात्रा स्वरभागो मध्ये रेफोऽर्धमात्रा शेषोऽप्यणुमात्रा स्वरभागः। एतद् ऋकारस्वरूपम्। अत्र रेफेऽर्धमात्रे भज्यमाने सति तौ भागौ पूर्वोत्तरावणुसहितौ प्रत्येकं स्वरभक्तिर्नामधेयं भजते। सा च स्वरभक्तिरर्धमात्रा। —तै० प्रा० २१।१५ पर त्रि० भा०।

२. रेफस्योष्मणश्च निर्देशक्रमेण संयोगे सति रेफः स्वरभक्तिर्भवति। भज्यते इति भक्तिः, धर्मः। स्वरस्येव भक्तिर्यस्य स तथोक्तः। स्वरधर्मो भवतीति यावत्। केनास्य स्वरेण साधर्म्यं विधीयते ? योऽस्य सदृशतरः ऋकारः। ... मात्रिकत्वं प्रधानता च। —तै० प्रा० २१।१५ पर वै० भा०।

३. न क्रमे प्रथमपरे। तै० प्रा० २१।१६।

———

## २ : वर्णोच्चारण-प्रकरण

उच्चारणावयवों का परिचय

वर्णोच्चारण में वायु का योगदान

वर्णोच्चारण में प्रयत्न

स्थान तथा करण

उच्चारण-काल

कतिपय वर्णों के स्वरूपविषयक-विशेष

अनुप्रदानात्संसर्गात् स्थानात्करणविन्ययात् ।
जायते वर्णवैशेष्यं परिमाणाच्च पञ्चमादिति ॥
(तै० प्रा० २३.२)

# वर्णोच्चारण-प्रकरण

तै० प्रा० का सम्पूर्ण द्वितीय अध्याय, बाईसवें अध्याय के दो सूत्र[1] तथा तेईसवें अध्याय के दो सूत्र[2] वर्णोच्चारण के विषयों का विधान करते हैं।

**उच्चारणावयवों का परिचय**—वर्णोच्चारणविषयक सूत्रों के सम्यक् ज्ञान के लिए वर्णोच्चारण में सहायक शरीरावयवों की रचना तथा क्रिया का ज्ञान अपेक्षित है। इस तथ्य को दृष्टिगत करके तै० प्रा० में प्रयुक्त सूत्रों के परिज्ञान के लिए वर्णोच्चारण से सम्बद्ध शरीरावयवों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है—

**(१) फेफड़े**—श्वास-निःश्वास की प्रक्रिया में फेफड़े सक्रिय हो जाते हैं। श्वास-वायु जब फेफड़ों में प्रविष्ट होती है तो फेफड़े फूल जाते हैं किन्तु थोड़ी देर पश्चात् निःश्वास-वायु (अशुद्ध वायु) नासिका-विवरों से निर्गमित होती है। इसी निःश्वास वायु को जब हम नासिका से ही न निकाल कर मुख से भी निकालें तो ध्वनि[3] उत्पन्न होती है। इस ध्वनि को इच्छानुसार व्यक्ति परिवर्तित कर सकता है। इस प्रकार ध्वनि की उत्पत्ति में फेफड़ों का प्रथम योगदान है।

**(२) श्वास-नलिका तथा स्वरयन्त्र**—वायु का स्वाभाविक मार्ग नासिका-विवर से होते हुए श्वास-नलिका में है। श्वास-नलिका में से होकर वायु फेफड़ों में पहुँचती है और पुनः इसी मार्ग से बाहर निःसृत होती है। यह श्वास-नलिका गले में स्थित होती है तथा इसके ऊपरी भाग में स्वरयन्त्र (Larynx) होता है। स्वर-यन्त्र में पतली झिल्ली के बने दो लचीले पर्दे होते हैं, जो स्वर-तन्त्री कहे जाते हैं। इन स्वर-तन्त्रियों के बीच के खुले हुए भाग

---

१. तै० प्रा० २२।१-२

२. तै० प्रा० २३।१-२

३. वस्तुतः ध्वनि नित्य है। अतः उसके उत्पन्न किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता है। उच्चारणावयव ध्वनि को उत्पन्न नहीं करते हैं, अपितु उच्चारणावयवों के व्यापार से ध्वनि व्यक्त हो जाती है जिसका हम इन्द्रियों द्वारा ग्रहण कर लेते हैं। यथा—भूमिगत जल की सत्ता सदैव रहती है किन्तु खोदने से उसकी प्राप्ति होती है; उसी प्रकार ध्वनि नित्य है, उच्चारणावयवों के व्यापार की सहायता से वह इन्द्रियग्राह्य हो जाती है।

को स्वरयन्त्र-मुख ( glottis ) कहते हैं। इस स्वरयन्त्र-मुख के मार्ग से वायु भीतर अथवा बाहर आती-जाती है। स्वरतन्त्रियों के एक दूसरे के समीप में आने से या दूर हटने से विभिन्न ध्वनियाँ अभिव्यक्त होती हैं।

(३) जिह्वा—मुख के भीतर जिह्वा का स्थान है। यह एक कोमल अवयव है। जिह्वा अनेक प्रकार के आकार को धारण करने में समर्थ होती है। इसी गुण के कारण जिह्वा निःश्वास रूप बाहर निकलने वाली वायु को विकृत करके अनेक प्रकार की ध्वनियों को उत्पन्न करने में समर्थ होती है। जिह्वा का विभाजन ध्वनि उत्पन्न करने की दृष्टि से पाँच भागों में किया जा सकता है—(१) मूल (२) पश्च (३) मध्य (४) अग्र तथा (५) नोंक।

(४) तालु—मुख-विवर तथा नासिका-विवर के बीच में स्थित अर्धगोलाकार छत को तालु कहा जाता है। गार्ग्यगोपालयज्वा ने तालु शब्द से जिह्वा के ऊपर वाले प्रदेश का कथन किया है।[1] तालु के दो भाग हैं–(१) कठोर तालु–यह तालु का बाहरी हिस्सा होता है। (२) कोमल तालु—यह तालु का भीतरी हिस्सा होता है। कठोर तालु का विभाजन भी तीन श्रेणियों में किया जाता है—दाँतों के पीछे का उभरा हुआ प्रदेश, जो बर्त्स्व (मसूड़ा) कहलाता है; (२) दूसरा भाग सामान्य तालु है और (३) तीसरा भाग मूर्धा है, यह मुखछत का सर्वोच्च प्रदेश है। कोमल तालु का अन्तिम हिस्सा पूँछ के आकार का मांस का एक छोटा सा भाग है, जिसे कौवा या अलिजिह्व कहा जाता है। यह तीन अवस्थाओं में रह सकता है—(१) नितान्त ढीला होकर नीचे की ओर लटका रहता है। इस स्थिति में मुख-विवर तथा श्वासनलिका का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिससे श्वास-निःश्वास वायु का आना-जाना नासिका-विवर से ही होता है; (२) यह तन कर खड़ा हो जाता है और नासिका-विवर तथा श्वास-नलिका का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, जिससे वायु मुख-विवर से आती जाती है; (३) मध्यम अवस्था में रहता है। इस दशा में कुछ वायु मुखविवर से और कुछ वायु नासिका-विवर से आती जाती है।

(५) ओष्ठ—ओष्ठ का स्थान मुख के बाहरी भाग में है। वाग्यन्त्र के विभिन्न अवयवों में ओष्ठ ही दिखलाई पड़ते हैं। अन्य अवयव किसी न किसी रूप में ढके रहते हैं। ओष्ठ दो होते हैं—ऊपर का ओष्ठ तथा नीचे का ओष्ठ। ये दोनों

---

१. तालुशब्देन जिह्वाया अधस्तनप्रदेश उच्यते। तै० प्रा० २।२२ पर वै० भा०।

ओष्ठ कोमल होते हैं तथा अनेक आकार धारण करके विभिन्न ध्वनियों की अभिव्यक्ति में सहायता करते हैं। नीचे का ओष्ठ अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय होता है।

(६) दन्त—ध्वनियों के उच्चारण में दाँतों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मुख-विवर में दाँतों की दो पंक्तियाँ होती हैं—(१) ऊपर के दाँत तथा (२) नीचे के दाँत। उच्चारण की दृष्टि से इन दाँतों को दो भागों में बाँटा जाता है—(१) दाँतों का अग्रभाग तथा (२) दाँतों का मूल भाग।

(७) मुख—जिह्वा, तालु, ओष्ठ तथा दन्त इत्यादि मुख में ही स्थित होते हैं। अतः ध्वनियों की उत्पत्ति में मुख का स्थान सर्वाधिक महत्त्व का है।

## वर्णोच्चारण में वायु का योगदान

उच्चारणावयवों की सहायता से ध्वनि उत्पन्न करने का आधारभूत तत्त्व वायु है। तै० प्रा० २।१-२ में वायु को शब्दोत्पत्ति का कारण बतलाया गया है। इसके अनुसार शरीरस्थ वायु के गतिशील होने से कण्ठ तथा उरस् के सन्धि-स्थल में शब्दोत्पत्ति होती है।[1] इस सूत्र के भाष्य में माहिषेय ने कहा है कि शरीरावयवों द्वारा वायु के प्रेरित होने से कण्ठ तथा उरस् के संधि-स्थल में शब्द की उत्पत्ति होती है अर्थात् उदरस्थ अग्नि के द्वारा गतिशील होने पर नाभि से ऊपर की ओर उठी हुई वायु कण्ठ तथा उरस् के संधि-स्थल में उन-उन विशेष कारणों द्वारा पीड़ित होने पर, धीरे-धीरे मुख और नासिका से निकलकर शब्द (ध्वनि) कहलाती है।[2] इसी नियम की व्याख्या करते हुए त्रिभाष्यरत्न-कार ने कहा है कि शरीरस्थ अग्नि वायु को गतिशील बनाती है, यह सूत्रस्थ वायुशरीर पद का अर्थ है। उस प्रकार की गतिशीलता से कण्ठ और उरस् के मध्य में ध्वनि की उत्पत्ति होती है।[3] वायुशरीरसमीरणात्—इस सूत्रस्थ प्रथमांश

---

१. अथ शब्दोत्पत्तिः। वायुशरीरसमीरणात्कण्ठोरसोः सन्धाने। तै० प्रा० २।१-२

२. वायोः शरीरैः समस्तस्य ईरणात् कण्ठस्य उरसश्च सन्धाने शब्दोत्पत्तिर्भवति। अत्रोच्यते—औदरेणाग्निना समीरित ऊर्ध्वं नाभेरुत्थितो वायुः कण्ठस्योरसश्च सन्धाने, तैस्तैः करणविशेषैः पीड्यमानः शनैः शनैः मुख-नासिकाभ्यां विनिस्सृतः शब्द इत्यभिधीयते। तै० प्रा० २।२ पर मा० भा०

३. वायुमग्निः समारयतीति वायुशरीरम्। तथाभूतात्समीरणात् प्रेरणात् अभिघातादित्यर्थः। कण्ठोरसोः सन्धाने मध्यदेशे शब्दोत्पत्तिर्भवति।
तै० प्रा० २।२ पर त्रि० भा०।

की व्याख्या सोमयार्य ने तीन प्रकार से की है—(१) शरीरस्थ अग्नि वायु को गतिशील करती है—यह वायुशरीर का अर्थ है। उस प्रकार की गतिशीलता से यह वायुशरीरसमीरणात् का अर्थ है।[१] (२) वायु तथा शरीर-उन दोनों का समीरण, उससे (शब्दोत्पत्ति होती है)[२] (३) कुछ दूसरे लोग कहते हैं कि शरीर में विद्यमान वायु के समीरण से शब्दोत्पत्ति होती है। .... इस मत में वायु का गतिशील होना कर्तारूप में है, कर्म रूप में नहीं।[३] इसी प्रकार की व्याख्या गार्ग्यगोपालयज्वा ने करते हुए समीरण का अर्थ प्रयोज्यव्यापार तथा प्रयोजकव्यापार-दोनों किया है।[४] दोनों भाष्यकारों ने अपने मतों की पुष्टि के लिये हारीत शिक्षा का एक श्लोक उद्धृत किया है।[५] शब्दोत्पत्ति (२|१) में शब्द का अर्थ है ध्वनि।[६] उरस्, कण्ठ, शिर, मुख तथा नासिका आदि उच्चारणावयव उस ध्वनि को प्रतिध्वनित करते हैं।[७] इस प्रकार ध्वनि को विशिष्ट रूप प्राप्त होता है और वह श्रवणयोग्य बन जाती है।

---

१. वायुमग्निः समीरयतीति वायुशरीरम्। तथाभूतात् समीरणात् .. इत्यर्थः।
तै० प्रा० २|२ पर त्रि० भा०

२. वायुश्च शरीरञ्च वायुशरीरे। तयोः समीरणम्। तस्मादिति।
तै० प्रा० २|२ पर त्रि० भा०

३. अन्येत्वाहुः—वायोः शरीरे सतः समीरणम्। तस्माच्छब्दोत्पत्तिरिति। अस्मिन्मते वायोः समीरणकर्तृत्वमेव न तु कर्मत्वम्।
तै० प्रा० २|२ पर त्रि० भा०

४. वक्त्रा प्रेर्यमाणस्य कोष्ठ्यस्य वायोश्शरीरे यत्समुत्थानं प्रयोज्यव्यापारस्तस्मादित्यर्थः। यद्वा—संपूर्वादीर्तेर्ण्यन्ताल्ल्युट्प्रत्ययः। तस्य वायोश्शरीरे यत्समुत्थापनं प्रयोजकव्यापारस्तस्मादित्यर्थः। तै० प्रा० २|२ पर वै० भा०

५. मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूरसिचरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्॥
पारिशिक्षाटीका के श्लोक २७ पर हारीत शिक्षा से उद्धृत।
अर्थात् मन शरीर की अग्नि को प्रेरित करता है और शरीर की अग्नि वायु को प्रेरित करती है। वायु उरस् में विचरण करता हुआ मधुर स्वर (ध्वनि) उत्पन्न करता है।

६. शब्दो नाम ध्वनिः। तै० प्रा० २|१ पर त्रि० भा०।

७. तस्य प्रातिश्रुत्कानि भवन्त्युरः कण्ठः शिरो मुखं नासिके इति।
तै० प्रा० २|३

इस प्रकार ध्वनि की उत्पत्ति में वायु का प्रमुख स्थान स्पष्ट हो जाता है।

वर्णोच्चारण में प्रयत्न—वर्णों के उच्चारण में प्रयुक्त होने वाले उच्चारणावयवों के व्यापार को प्रयत्न कहते हैं। प्रयत्न के दो भेद हैं— (१) बाह्य-प्रयत्न और (२) आभ्यन्तर प्रयत्न।

बाह्य-प्रयत्न —मुख के बाहर कण्ठविवर में स्थित स्वर-यन्त्र में जो प्रयत्न होता है, उसे बाह्य-प्रयत्न कहते हैं। तै० प्रा० में बाह्य-प्रयत्न के अर्थ में ही प्रकृति तथा अनुप्रदान संज्ञाओं का व्यवहार किया गया है।

बाह्य-प्रयत्न को अनुप्रदान कहने का कारण यह है कि इसके द्वारा नाद अथवा श्वासरूप विकार को प्राप्त होने के पश्चात् वायु मुख में प्रदान की जाती है। सोमयार्य के अनुसार इनके द्वारा वर्ण उत्पन्न किये जाते हैं इसलिये अनुप्रदान कहलाते हैं।[1] गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार अनु शब्द पश्चात् अर्थ में प्रयुक्त है। कोष्ठ्य-वायु के ऊपर आने पर मूर्धा पर प्रतिघात करने पर कण्ठ की संवार, विवार तथा मध्य-तीन अवस्थाएँ होती हैं। तत्पश्चात् इनके द्वारा वर्ण स्थानों में उत्पन्न किये जाते हैं, इसलिये ये—नाद, श्वास और हकार तीनों वायु-द्रव्य अनुप्रदान कहे जाते हैं।[2] वे नाद, श्वास और हकार वर्णों की प्रकृति हैं,[3] मूल हैं। स्वर और घोषवत् (सघोष, वर्णों में नाद अनुप्रदान होता है।[4] इससे स्पष्ट हो जाता है कि तै० प्रा० में नाद, श्वास और हकार नामक द्रव्य बाह्य-प्रयत्न माने गये हैं और इन्हें ही प्रकृति तथा अनुप्रदान भी कहा गया है।

बाह्य-प्रयत्न में स्वर-तन्त्रियाँ ही मुख्य गतिशील उच्चारणावयव होती हैं। जब निःश्वास वायु श्वास नलिका के मार्ग से फेफड़ों से बाहर निकलती है तो स्वरयन्त्र के पूर्व इसमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता। स्वरयन्त्र ही पहला उच्चारणावयव है जहाँ फेफड़े से बाहर आने वाली वायु में कुछ विकार उत्पन्न किया जाता है।

---

१. अनुप्रदीयते उपादीयते जन्यत इत्यर्थः। तै० प्रा० २।८ पर त्रि० भा०

२. अनुशब्दः पश्चादर्थे। कोष्ठ्यवायुसमुद्भवात्परं मूर्ध्नि प्रतिघातान्निवृत्ते तस्मिन् कण्ठस्य संवारादयो यथोक्तास्तिस्त्रोऽवस्था भवन्ति, तदा प्रदीयन्ते स्थानेषु निवेश्यन्ते एभिर्वर्णा इत्यनुप्रदानानि। तै० प्रा० २।८ पर वै०भा०

३. ता वर्णप्रकृतयः। तै० प्रा० २।७

४. नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु। तै० प्रा० २।८

**स्वरयन्त्र तथा उसकी अवस्थाएँ**—वक्ता द्वारा उच्चारण की इच्छा होने पर फेफड़े से निकली हुई निःश्वास वायु सर्वप्रथम कण्ठविवर में पहुँचती है और वहाँ स्थित स्वरयन्त्र में अनेक प्रकार से विकृत की जाती है। स्वरयन्त्र एक ऐसा अवयव है जिसमें बहुत-सी स्वरतन्त्रियाँ होती हैं। ये स्वरतन्त्रियाँ आकार में पतले लम्बे तन्तुओं के समान होती हैं जो बाह्य-प्रयत्न द्वारा विभिन्न अवस्थाओं में संकुचित-विकुचित होकर फेफड़े से आयी वायु को विभिन्न अवस्थाओं में विकृत करती हैं। स्वरतन्त्रियों के संकुचित-विकुचित होने के परिणामस्वरूप कण्ठविवर (स्वर-यन्त्र-मुख) की भी अनेक अवस्थाएँ होती हैं। वर्णोच्चारण में मुख्यतः स्वर-तन्त्रियों की विकुचित, संकुचित अथवा स्वाभाविक [मध्यम] तीन अवस्थाएँ होती हैं। जिनसे स्वरयन्त्रमुख क्रमशः संवृत, विवृत अथवा मध्यम स्थिति में होता है। तै० प्रा० में वर्णोच्चारण के समय स्वरयन्त्र मुख की तीन अवस्थाओं का निर्देश प्राप्त होता है।[1] जो इस प्रकार हैं—

**संवृत**—इस अवस्था में संवार नामक बाह्य-प्रयत्न के परिणामस्वरूप स्वर-तन्त्रियाँ विस्तृत (विकुचित) हो जाती हैं जिससे स्वर-यन्त्र-मुख (कण्ठ-द्वार) बन्द-सा हो जाता है। जब स्वर-यन्त्रमुख की यह अवस्था होती है, तब फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु का स्वर-तन्त्रियों के साथ घर्षण होता है। इसीलिये उनमें कम्पन हो जाता है। इस स्थिति में स्वर-यन्त्रमुख (कण्ठ-द्वार) से निकली हुई वायु नाद[2] कहलाती है। तै० प्रा० में नादसंज्ञक ध्वनि का विधान करते हुए कहा गया है कि कण्ठ-द्वार बन्द होने पर जो ध्वनि की जाती है, वह नाद संज्ञक होती है।[3] यह नादसंज्ञक वायु स्वर और घोष वर्णों के उच्चारण में मूलकारण होता है।[4] यहाँ उल्लेखनीय है कि प्रातिशाख्यकार के मत में हकार और वर्गों के चतुर्थ स्पर्श वर्ण से अन्य घोष वर्णों तथा स्वर-वर्णों का ही उच्चारण नाद नामक वायु से होता है क्योंकि हकार तथा वर्गों के चतुर्थ

---

१. संवृते कण्ठे नादः क्रियते। विवृते श्वासः। मध्ये हकारः। तै० प्रा० २।४-६

२. नाद शब्द ध्वनि करना अर्थ वाली नद् धातु से निष्पन्न हुआ है। स्वर-यन्त्र से ही ध्वनि करते हुए निकलने के कारण घोषवत् वर्णों की मूलकारण-रूप वायु को नाद कहा जाता है।

३. संवृते कण्ठे नादः क्रियते। तै० प्रा० २।४

४. नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु। तै० प्रा० २।८

स्पर्श वर्णों के उच्चारण में हकारसंज्ञक वायु के मूलकारण होने का निर्देश किया गया है।[1]

विवृत—इस अवस्था में विवार नामक बाह्य-प्रयत्न के परिणामस्वरूप स्वर-तन्त्रियाँ संकुचित हो जाती हैं और स्वर-यन्त्र मुख ( कण्ठ-द्वार ) पूर्णतया खुला रहता है। जब स्वरयन्त्र-मुख इस अवस्था में रहता है तब फेफड़े से बाहर निकलती हुई वायु का स्वर-तन्त्रियों के साथ घर्षण नहीं होता। इसीलिये उनमें कम्पन भी नहीं होता। वायु अबाध गति से स्वर-यन्त्र-मुख से बाहर निकल जाती है। इस अवस्था में स्वर-यन्त्र-मुख (कण्ठ-द्वार) से निकली हुई वायु श्वास[2] कहलाती है। तै० प्रा० के अनुसार विवृत अर्थात् कण्ठ-द्वार के खुले होने पर जो ध्वनि की जाती है वह श्वाससंज्ञक होती है।[3] तात्पर्य यह है कि स्वर-तन्त्रियों के सिकुड़ कर एक दूसरे से पृथक् हो जाने पर कण्ठ-विवर का विस्तार होता है। कण्ठ-विवर के विस्तार को विवृत कहते हैं।[4] कण्ठ-विवर का विस्तार होने से वायु निर्बाध गति से बाहर निकलती है। यह श्वास-संज्ञक वायु अघोष वर्णों का मूलकारण होती है।[5]

मध्यम स्थिति—इस अवस्था में स्वर-तन्त्रियाँ न तो पूर्णरूपेण विकुचित होती हैं और न संकुचित। प्रत्युत अपनी स्वाभाविक अवस्था में रहती हैं। इसके फलस्वरूप स्वर-यन्त्र-मुख (कण्ठ-द्वार) न तो पूर्णरूपेण खुला होता है और न बन्द। इस स्थिति में स्वर-यन्त्र-मुख से निःसृत वायु हकार संज्ञक होती है।[6]

---

१. हकारो हचतुर्थेषु। तै० प्रा० २।९
२. श्वास शब्द साँस लेना अर्थवाली श्वस् धातु से निष्पन्न हुआ है। साँस निकलने की स्थिति में उत्पन्न होने के कारण इस वायु को श्वास कहा जाता है।
३. विवृते श्वासः। तै० प्रा० २।५
४. २।५ पर वै० भा० में विवृत का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—विवरणम् कण्ठस्य विस्तरणम्। स एव विवाराख्यो बाह्यः प्रयत्नः।
५. अघोषेषु श्वासः। तै० प्रा० २।१०
६. तै० प्रा० के अतिरिक्त अन्य प्रातिशाख्यों में हकार संज्ञक ध्वनि का विधान वर्ण-विशेष के लिये किया गया है। ऋ० प्रा० १३।२ में यह विधान किया गया है कि संवृत और विवृत की मध्य अवस्था में स्वर-यन्त्र-मुख से बाहर निकली हुई वायु श्वास और नाद दोनों हो जाती हैं।

तै० प्रा० के अनुसार संवृत और विवृत के मध्य में जो ध्वनि उत्पन्न की जाती है वह हकार संज्ञक होती है।[1] हकार संज्ञक वायु ह (हकार) तथा वर्गों के चतुर्थ स्पर्श वर्णों के उच्चारण में मूलकारण होती है।[2]

तीन प्रकार के द्रव्यों से उत्पन्न वर्ण—नाद द्रव्य से उत्पन्न वर्ण ये हैं—अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ, ग्, ङ्, ज्, ञ्, ड्, ण्, द्, न्, ब्, म्, य्, र्, ल्, व्, अं, ँ, ळ्, कँ, खँ, गँ, घँ और स्वरभक्ति; कुल वर्ण ३८। श्वास द्रव्य से उत्पन्न वर्ण ये हैं—क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्, श्, ष्, स्, अः, ᳵक्, ᳵप्; कुल वर्ण = १६। हकार द्रव्य से उत्पन्न वर्ण इस प्रकार हैं—घ्, झ्, ढ्, ध्, भ् तथा ह्; कुल वर्ण = ६।

इस प्रकार स्पष्ट है कि स्वर-तन्त्रियों को तीन स्थितियों में फेफड़ा और स्वर-यन्त्र वायु को नाद अथवा श्वास अथवा हकार बनाने के पश्चात् मुख के उच्चारणावयवों को द्रव्य के रूप में प्रदान करते हैं। तै० प्रा० २।७ के अनुसार ये नाद श्वास और हकार वर्णों की प्रकृतियाँ (मूलकारण) हैं।[3] माहिषेय तथा सोमयार्य ने इस नियम की व्याख्या समान ढंग से करते हुए कहा है कि कतिपय वर्णों की प्रकृति नाद होता है, अन्य वर्णों की प्रकृति श्वास होती है तथा और वर्णों की प्रकृति हकार है।[4] इस मत के विवेचन में त्रिभाष्यरत्नकार ने दृष्टान्त करते हुए कहा है कि जिस प्रकार घट, शराव इत्यादि का मूलकारण (प्रकृति) मिट्टी है अथवा जिस प्रकार वस्त्रों का मूलकारण तन्तु है उसी प्रकार वर्ण भी नाद आदि भिन्न-भिन्न मूल कारणों वाले हैं।[5]

---

१. मध्ये हकारः। तै० प्रा० २।६

२. हकारो हचतुर्थेषु। तै० प्रा० २।९

३. ता वर्णप्रकृतयः। तै० प्रा० २।७

ऋ० प्रा० १३।२ में भी इसी नियम के समान नियम का विधान हुआ है।

४. ता एतास्तिस्रः संज्ञाः वर्णानां प्रकृतयो भवन्ति। नादप्रकृतयोऽन्ये, श्वासप्रकृतयोऽन्ये हकारप्रकृतयोऽन्ये। तै० प्रा० २।७ पर मा० भा०

... नादप्रकृतयः केचिद्वर्णाः, श्वासप्रकृतयोऽन्ये, हकारप्रकृतयोऽन्ये। तै० प्रा० २।७ पर त्रि० भा०

५. ...... यथा मृत्प्रकृतयो घटशरावादयः। यथा वा तन्तुप्रकृतयः पटाः। तै० प्रा० २।७ पर त्रि० भा०

समालोचना—इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि नाद, श्वास तथा हकार इन द्रव्यों का उपयोग मूलकारण के रूप में वर्णोत्पत्ति में किया जाता है।

उपर्युक्त नाद, श्वास तथा हकार— इन तीन द्रव्यों में से नाद द्रव्य स्वर तथा घोषवत् व्यञ्जनों (हकार तथा वर्गों के चतुर्थ स्पर्शों से अन्य) का मूलकारण है।[1] तात्पर्य यह है कि नाद नामक बाह्य-प्रयत्न से स्वर तथा वर्गों के चतुर्थ स्पर्शों और हकार से भिन्न सघोष[2] व्यञ्जनों की उत्पत्ति होती है। अघोष वर्णों की उत्पत्ति में श्वास नामक बाह्यप्रयत्न मूलकारण होता है।[3] वर्गों के प्रथम अघोष स्पर्श-वर्णों की अपेक्षा अन्य अघोष वर्णों में अधिक श्वास अनुप्रदान (मूलकारण) होता है।[4]

---

१. नादोऽनुप्रदानं स्वरघोषवत्सु। तै० प्रा० २।८

तै० प्रा० २।४ पर वै० भा० में कहा गया है—नादध्वनिसंसर्गात् व्यञ्जनेषु घोषो नाम बाह्यः प्रयत्नो जायते इति शिक्षायां स्मर्यते। अर्थात् नाद ध्वनि के संसर्ग से व्यञ्जनों में घोष नामक बाह्य-प्रयत्न होता है—ऐसा शिक्षा में कहा गया है।

२. सामान्यतया वर्गों के तृतीय, चतुर्थ और पञ्चम स्पर्श, हकार, अनुस्वार, नासिक्य, ळकार, यम तथा स्वरभक्ति—ये व्यञ्जन घोषवत् माने जाते हैं और नाद इनका अनुप्रदान होता है किन्तु तै० प्रा० में हकार और वर्गों के चतुर्थ स्पर्श को छोड़कर अन्य घोषवत् व्यञ्जनों की उत्पत्ति में नाद अनुप्रदान माना गया है। ऋ० प्रा० १३।५, च० अ० १।१३ तथा ऋ० तं० १।३ में भी सघोष (घोषवत्) व्यञ्जनों और स्वरों में नाद को अनुप्रदान माना गया है।

३. अघोषेषु श्वासः। तै० प्रा० २।१०

ऋ० प्रा० १३।४, च० अ० १।१२ तथा ऋ० तं० १।३ में भी श्वास को अघोष-वर्णों का मूलकारण बतलाया गया है। २।५ पर वै० भाष्य के अनुसार, ...... तद्ध्वनिसंसर्गादघोषो नाम बाह्यः प्रयत्नो जायते...... । अर्थात् उस श्वास ध्वनि के संसर्ग से अघोष नामक बाह्य-प्रयत्न होता है।

४. भूयान्प्रथमेभ्योऽन्येषु। तै० प्रा० २।११

व्याकरण और शिक्षा-ग्रन्थों में व्यञ्जनों का वर्गीकरण प्राणत्व के आधार पर भी किया जाता है। इस आधार पर व्यञ्जनों का विभाजन दो श्रेणियों में किया गया है—(१) अल्पप्राण तथा (२) महाप्राण;

गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार वर्गों के प्रथम स्पर्श से व्यतिरिक्त अघोष वर्णों में अधिक श्वास अनुप्रदान होने के कारण ही वर्गों के प्रथम वर्ण अल्पप्राण हैं। अन्य वर्ण महाप्राण हैं।[1]

**बाह्य-प्रयत्न के आधार पर वर्णों का विभाजन**--बाह्य-प्रयत्न के आधार पर तै० प्रा० में व्यञ्जनों को दो भागों में विभाजित किया गया है—(१) अघोष और (२) घोषवत्।

**अघोष**—अघोष का शाब्दिक अर्थ है—घोषरहित। घोष ( कम्पन, नाद ) रहित वायु से उत्पन्न होने के कारण अघोष संज्ञा होती है। गार्ग्यगोपालयज्वा ने अघोष का निर्वचन करते हुए कहा है—घोष नामक बाह्य-प्रयत्न के अभाव से उत्पन्न होने के कारण ये वर्ण अघोष कहलाते हैं।[2] तै० प्रा० १।१२, १३ में हकार व्यतिरिक्त ऊष्म-वर्णों— ᳵ क्, ᳶ प्, श्, ष्, स्, विसर्जनीय, और वर्गों के प्रथम तथा द्वितीय स्पर्श-वर्णों—क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्—को अघोष वर्ण कहा गया है।[3]

**घोषवत्**—घोषवत् का अर्थ है—घोषयुक्त। घोष ( कम्पन, नाद ) से युक्त वायु से उत्पन्न होने वाले वर्णों को घोषवत् कहा जाता है। गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार घोष नामक बाह्य-प्रयत्न के योग से उत्पन्न होने के कारण ये वर्ण घोषवत् कहलाते हैं।[4] इन्हें सघोष भी कहते हैं। तै० प्रा० १।१४ में अघोष-व्यतिरिक्त सम्पूर्ण व्यञ्जन वर्णों के लिये घोषवत् संज्ञा का प्रयोग प्राप्त होता है।[5]

---

जिन व्यञ्जनों के उच्चारण में वायु (प्राण) की अधिकता नहीं होती, उन्हें अल्पप्राण कहते हैं और जिन व्यञ्जनों के उच्चारण में वायु की अधिकता होती है, उन्हें महाप्राण कहते हैं।

१. प्रथमव्यतिरिक्तेषु अघोषेषु प्रकृष्टः श्वासः अनुप्रदानं भवति। ततश्च प्रथमा अल्पप्राणाः अघोषेषु। इतरे तु महाप्राणाः। तै०प्रा० २।११ पर वै० भा०

२. घोषाख्यबाह्यप्रयत्नाभावादघोषा इत्याख्या। तै० प्रा० १।१२ पर वै०भा०

३. ऊष्मविसर्जनीयप्रथमद्वितीया अघोषाः। न हकारः। तै० प्रा० १।१२, १३

४. घोषाख्यबाह्यप्रयत्नयोगात् घोषवदाख्येति। तै० प्रा० १।१४ पर वै० भा०

५. व्यञ्जनशेषो घोषवान्। तै० प्रा० १।१४

बाह्य-प्रयत्न के आधार पर विभक्त व्यञ्जनों को इस रेखा-चित्र द्वारा दिखाया जा रहा है—

व्यञ्जन

| अघोष | घोषवत् |
|---|---|
| क्, ख्, च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्, प्, फ्, ⌣क्, ⌣प्, श्, ष्, स्, अः (विसर्जनीय) | ग्, घ्, ङ्, ज्, झ्, ञ्, ड्, ढ्, ण्, द्, ध्, न्, ब्, भ्, म्, य्, र्, ल्, व्, ह्, अं (अनुस्वार), ँ (नासिक्य), ळ्, कँ्, खँ्, गँ्, घँ् (यम), स्वरभक्ति । |

समीक्षा—अघोष तथा घोषवत् ध्वनियों का विभाजन हमारे प्रातिशाख्य-कारों के सूक्ष्म चिन्तन का परिणाम है। अघोष वर्णों का उच्चारण करते समय स्वर-तन्त्रियाँ एक दूसरे से दूर होती हैं जिससे वायु बिना घर्षण किये बाहर निकलती है और स्वर-तन्त्रियों में कम्पन नहीं होता। घोषवत् वर्णों का उच्चारण करते समय स्वर-तन्त्रियाँ एक दूसरे के समीप होती हैं परिणाम-स्वरूप उनमें वायु के घर्षण से कम्पन होता है। 'कोमल तथा कठोर और कृश तथा दृढ़ इत्यादि अन्य पदों से प्रकट किये गये अस्पष्ट अन्तरों के द्वारा विषय को बहुत दिनों तक पहेली की भाँति रखने के पश्चात् अब योरोपीय ध्वनिशास्त्री अन्ततः ठीक सिद्धान्त की ओर आते हुए प्रतीत हो रहे है। भारतीय ध्वनि-शास्त्री इस बात के लिये प्रशंसनीय हैं कि उन्होंने एकमत से अघोष तथा घोषवत् व्यञ्जन वर्णों के सही आधार को व्यक्त किया है।'[1]

वर्णोच्चारण में आभ्यन्तर प्रयत्न—मुख-विवर के अन्दर किये जाने वाले प्रयत्न को आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। प्रातिशाख्यों में आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए करण[2] या आस्यप्रयत्न[3] शब्द का भी प्रयोग हुआ है। बाह्य-प्रयत्न वर्णोच्चारण में तभी सफल होता है जब उसके साथ आभ्यन्तर प्रयत्न का योगदान हो। आभ्यन्तर प्रयत्न की सहायता से ही मुख के उच्चारणावयव नाद, श्वास और हकार रूप वायु से विभिन्न प्रकार के वर्णों को उत्पन्न करते हैं। जो मुखावयव उपसंहार करता है वह स्वरों का करण है तथा व्यञ्जन-

१. द्रष्टव्य, तै० प्रा० ह्विटनी द्वारा सम्पादित, पृ० ५३, ५४
२. तद्विशेषः करणम्। ऋ० प्रा० १३।८
३. समानस्थानकरणास्यप्रयत्नः सवर्णः। वा० प्रा० १।४३

वर्णों का करण वह मुखावयव है जिसके द्वारा स्पर्शन करता है।[1] इस प्रकार तै० प्रा० में वर्णोच्चारण में सक्रिय मुखावयवों के लिये करण शब्द का प्रयोग किया गया है। मुख के भीतर किये गये प्रयत्न को आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। तै० प्रा० में आभ्यन्तर प्रयत्नों का विधान नहीं किया गया है। तथापि वर्णों के उच्चारण-विषयक विधानों के आधार पर इनका विवेचन किया जा रहा है।

आभ्यन्तर-प्रयत्न के भेद—वर्णोच्चारण-विषयक सूत्रों की विवेचना के आधार पर तै० प्रा० में स्वीकृत वर्णों को तीन प्रकार के आभ्यन्तर-प्रयत्नों द्वारा उच्चरित माना जा सकता है। ये तीन आभ्यन्तर प्रयत्न हैं—(१) स्पृष्ट (२) ईषत्स्पृष्ट और (३) विवृत।

स्पृष्ट ( Contact )—जिस आभ्यन्तर प्रयत्न में दो उच्चारणावयव वर्णोच्चारण के लिये एक दूसरे का स्पर्श करते हैं उसे स्पृष्ट[2] आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। ये उच्चारणावयव स्पर्शन के पश्चात् शीघ्र ही एक दूसरे से अलग होकर वायु को मुख-विवर के बाहर जाने देते हैं। इस स्पर्श-व्यापार से उत्पन्न होने वाले अर्थात् स्पृष्ट आभ्यन्तर प्रयत्न से उत्पन्न वर्ण स्पर्शसंज्ञक होते हैं। इस प्रकार क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, त्, थ्, द्, ध्, न्, प्, फ्, ब्, भ्, म्—इन पच्चीस व्यञ्जनों को स्पर्शसंज्ञक वर्ण कहते हैं।[3] कवर्ग के उच्चारण में जिह्वा का हनुमूल में स्पर्श होता है, चवर्ग के उच्चारण में तालु में स्पर्श होता है, टवर्ग के उच्चारण में मूर्धा में स्पर्श किया जाता है, तवर्ग के उच्चारण में दाँतों में स्पर्श होता है तथा पवर्ग के उच्चारण में दोनों ओष्ठों का आपस में स्पर्श होता है।[4]

---

१. यदुपसंहरति तत्करणम्। येन स्पर्शयति तत्करणम्। तै० प्रा० २।३२, ३४

२. ऋ० प्रा० १३।९ मे स्पृष्ट प्रयत्न के लिये अस्थित विशेषण प्रयुक्त हुआ है। स्पर्श का निर्वचन करते हुए गार्ग्यगोपालयज्वा ने लिखा है—स्पृष्टप्रयत्न-जन्यत्वात्स्पर्श इत्याख्यायन्ते (१।७ पर वै० भा०) अर्थात् स्पृष्ट प्रयत्न से उत्पन्न होने के कारण इन्हें स्पर्श कहते हैं।

३. आद्याः पञ्चविंशतिः स्पर्शाः। तै० प्रा० १।७

४. हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गे स्पर्शयति। तालौ जिह्वामध्येन चवर्गे। जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे। जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु। ओष्ठाभ्यां पवर्गे। तै० प्रा० २।३५-३९

ईषत् स्पृष्ट (Slight Contact)—जिस आभ्यन्तरप्रयत्न में मुख के दो उच्चारणावयव स्पर्श-वर्णों की भाँति न तो एक दूसरे का पूर्णरूपेण स्पर्श करते हैं और न स्वर वर्णों की भाँति एक दूसरे से दूर ही स्थित रहते हैं उस प्रयत्न को ईषत्स्पृष्ट[1] आभ्यन्तर प्रयत्न कहते हैं। उच्चारणावयवों का अत्यल्प स्पर्श होने के कारण ही यह प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट कहलाता है। य्, र्, ल् तथा व्-इन अन्तःस्थासंज्ञक वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट होता है। यकार के उच्चारण में जिह्वा के मध्यभाग का तालु में अत्यल्प स्पर्श किया जाता है।[2] इसी प्रकार रेफ के उच्चारण में जिह्वाग्र के मध्यभाग से दन्तमूल के पीछे थोड़ा-सा स्पर्श होता है।[3] लकार के उच्चारण में जिह्वाग्रमध्य से दन्तमूल में थोड़ा-सा स्पर्श होता है[4]। वकार के उच्चारण में दोनों ओष्ठों का अपूर्ण स्पर्श किया जाता है।[5]

अन्तःस्था वर्ण, स्पर्शवर्णों तथा ऊष्म-वर्णों के मध्य में स्थित हैं। स्पर्श वर्णों का आभ्यन्तरप्रयत्न स्पृष्ट है तथा ऊष्म-वर्णों का आभ्यन्तरप्रयत्न विवृत (ईषद्-विवृत) है। दोनों के मध्य में स्थित होने के कारण भी इनका आभ्यन्तर प्रयत्न ईषत् स्पृष्ट होता है।

ईषद् विवृत—ऊष्म-वर्णों का आभ्यन्तर-प्रयत्न ईषद्विवृत होता है। तै० प्रा० में ईषद्विवृत संज्ञा का विधान नहीं प्राप्त होता है। जिस आभ्यन्तर-प्रयत्न में दो उच्चारणावयवों का परस्पर स्पर्श नहीं होता है, उसे विवृत आभ्यन्तर-प्रयत्न कहते हैं। ऊष्म-वर्णों के उच्चारण में करण के मध्यभाग को खुले होने का अर्थात् विवृत होने का विधान किया गया है[6] किन्तु प्रान्त भाग स्पर्श करते हैं। अतः ऊष्मवर्णों के उच्चारण में पूरी तरह विवृत आभ्यन्तरप्रयत्न नहीं होता है अपितु ईषद् विवृत आभ्यन्तर-प्रयत्न होता है। ऊष्म वर्ण हैं—ᳲक्, ᳳप्, श्, ष्, स् और ह्।

---

१. ऋ० प्रा० १३।१०, च० अ० १।३० तथा ऋ० तं० १।३ के अनुसार भी अन्तःस्था वर्णों का आभ्यन्तर-प्रयत्न ईषत्स्पृष्ट अथवा दुःस्पृष्ट है।
२. तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे। तै० प्रा० २।४०
३. रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यग्दन्तमूलेभ्यः। तै० प्रा० २।४१
४. दन्तमूलेषु च लकारे। तै० प्रा० २।४२
५. ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारे। तै० प्रा० २।४३
६. करणमध्यं तु विवृतम्। तै० प्रा० २।४५

विवृत – स्वर वर्णों अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ–का आभ्यन्तर प्रयत्न 'विवृत'[1] होता है। 'विवृत' का अर्थ है खुला हुआ। स्वरवर्णों के उच्चारण में उच्चारणावयव अधिक समीप अथवा अधिक दूर नहीं रहते हैं। करण पूर्णतया खुला रहता है, उसका किसी स्थान पर स्पर्श नहीं होता है अर्थात् स्वर-वर्णों के उच्चारण में करण विवृत होता है। इसलिये स्वर-वर्णों का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है।

आभ्यन्तर प्रयत्न के आधार पर विभक्त वर्णों को इस सारिणी द्वारा दिखलाया जा रहा है—

| स्पृष्ट | ईषत्स्पृष्ट | ईषद् विवृत | विवृत |
|---|---|---|---|
| क्, ख्, ग्, घ्, ङ् | य्, र्, ल्, व् | ≍ क्, ≍ प्, श्, | अ, आ, आ३, |
| च्, छ्, ज्, झ्, ञ् | | ष्, स्, ह् | इ, ई, ई३, उ, |
| ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् | | | ऊ, ऊ३, ऋ, |
| त्, थ्, द्, ध्, न् | | | ॠ, ऌ |
| प्, फ्, ब्, भ्, म् | | | |

## वर्णोच्चारण में स्थान तथा करण

वर्णों का उच्चारण करने में जिन मुखस्थ अवयवों की सहायता ली जाती है उन्हें भिन्न-भिन्न वर्णों के उच्चारण में स्थान[2] तथा करण[3] कहा जाता है।

---

१. ऋ० प्रा० १३।११ में विवृत के स्थान पर अस्पृष्ट संज्ञा का प्रयोग किया गया है और इसके विशेषण के रूप में 'स्थित' शब्द का प्रयोग किया गया है।

२. ऋ० प्रा० १।४९ में स्थान शब्द का निर्वचन करते हुए भाष्यकार उवट ने लिखा है—अधिकरणं वर्णानां स्थानशब्देनोच्यते अर्थात् वर्णों के आधार को स्थान शब्द से कहा जाता है। च० अ० १।१८ में कहा गया है कि जहाँ उपक्रमण किया जाता है वह स्थान है ( यदुपक्रम्यते तत्स्थानम् )।

३. ऋ० प्रा०, ऋ० तं० तथा पतञ्जलि के महाभाष्य में करण शब्द का प्रयोग आभ्यन्तर प्रयत्न के लिए किया गया है जब कि तै० प्रा०, वा० प्रा० और च० अ० में करण शब्द का प्रयोग जिह्वा आदि सक्रिय उच्चारणावयवों के लिए किया गया है। आभ्यन्तर प्रयत्न की दृष्टि से करण शब्द की भाव अर्थ में व्युत्पत्ति होती है—क्रियत इति करणम्।

तै० प्रा० में वर्णों के स्थान तथा करण का विशद विवरण प्रस्तुत किया गया है। २३।४ पर माहिषेय तथा सोमयार्य ने स्थान शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है कि जिस शरीरावयव-विशेष पर वर्ण स्थित होते हैं, वह वर्णों का स्थान है।[1] वर्णों का उच्चारण करने के लिए स्वर-यन्त्र में बाह्यप्रयत्न द्वारा विकृत होकर प्राप्त श्वास इत्यादि वायु को मुख के भीतर रोकना पड़ता है अथवा अन्य अनेक ढंग से विकृत करना पड़ता है। इस दशा में दो उच्चारणावयव आवश्यक हैं (१) स्थान—जहाँ वायु को स्पर्श द्वारा रोका जाय अथवा उपसंहार द्वारा विकृत किया जा सके तथा (२) करण—जिसकी सक्रियता से वायु को रोका जाय अथवा विकृत किया जाय। इस प्रकार स्थिर तथा निष्क्रिय रहने वाला उच्चारणावयव स्थान है। जिस स्थान पर वायु को विकृत करके जिस वर्ण का उच्चारण किया जाता है उसी स्थान को उस वर्ण-विशेष का स्थान कहा जाता है। यथा—जिनके उच्चारण में स्वरतन्त्रियों द्वारा विकृत वायु को तालु पर विकृत किया जाय तो उन वर्णों का तालु स्थान होगा। इसी प्रकार उस वायु को जिन वर्णों के उच्चारण में मूर्धा पर विकृत किया जाय उनका स्थान मूर्धा होगा। २।३१ तथा २।३३ में स्थानों का विधान करते हुए कहा गया है कि जिस स्थल पर (जिस मुखस्थ उच्चारणावयव पर) उपसंहार किया जाता है वह मुखावयव स्वर-वर्णों का स्थान है।[2] माहिषेय ने उपसंहार का अर्थ संस्पर्शन तथा अतिसंश्लेष किया है और त्रिभाष्य-रत्नकार ने उपसंहार का अर्थ संश्लेषविशेष किया है।[3] स्वरों के अतिरिक्त (व्यञ्जन) वर्णों का वह स्थान होता है जहाँ (जिस उच्चारणावयव पर)

---

सक्रिय उच्चारणावयव की दृष्टि से करण शब्द की करण अर्थ में व्युत्पत्ति होती है—क्रियते अनेन इति करणम्। इस प्रकार जिसके द्वारा वर्णों के उच्चारण के लिये आवश्यक व्यापार किया जाता है उस सक्रिय उच्चारणावयव को करण कहा गया है।

१. यैर्वाक् प्रकाश्यते। अस्मिन् तिष्ठन्तीति स्थानानि। तै० प्रा० २३।४ पर मा० भा०।
यैर्वाक् प्रयुज्यते यस्मिश्च तिष्ठति तत्स्थानम्। तै०प्रा० २३।४ पर त्रि० भा०।
२. स्वराणां यत्रोपसंहारस्तत्स्थानम्। तै० प्रा० २।३१
३. उपसंहारो नाम संस्पर्शनातिसंश्लेषः। तै० प्रा० २।३१ पर मा० भा०
उपसंहारो नाम संश्लेषविशेषः। तै० प्रा० २।३१ पर त्रि० भा०।

स्पर्शन होता है।[1] यहाँ पर त्रिभाष्यरत्नकार का कथन है कि व्यञ्जनों में साधारण सम्पर्क अथवा स्पर्श होता है जब कि स्वरों में सम्पर्क से ऊपर (अथवा सम्पर्क या स्पर्श न होना) का स्पर्श बताया गया है।[2] २।३३ में तु के अर्थ पर भाष्य करते हुए माहिषेय ने कहा है 'क सूत्र में तु पद का ग्रहण अनुस्वार तथा स्वरभक्ति के निराकरण के लिए है अर्थात् अनुस्वार तथा स्वरभक्ति में भी स्पर्श होता है किन्तु उस तरह का पूर्ण स्पर्श नहीं होता है जिस तरह का व्यञ्जनों में होता है। अतः अनुस्वार तथा स्वरभक्ति का ग्रहण न हो जाय इसलिये सूत्र में तु पद का ग्रहण किया गया है। त्रिभाष्यरत्नकार ने माहिषेय के इस मत को अपने भाष्य में उद्धृत किया है।[3]

करण वह शरीरावयव विशेष है जिसकी सहायता से उच्चारण के लिए अपेक्षित व्यापार (प्रयत्न) किया जाता है। वर्णों का उच्चारण करने में निःश्वास वायु को जिस सक्रिय अथवा गतिशील उच्चारणावयव द्वारा मुख के भीतर विकृत किया जाता है उसे करण कहते हैं। इस प्रकार वर्णोच्चारण में करण प्रमुख अङ्ग है। तै० प्रा० में स्वर-वर्णों तथा व्यञ्जन-वर्णों के करण का पृथक्-पृथक् विधान किया गया है। जो अङ्ग उपसंहार करता है, वह स्वर-वर्णों का करण है। अन्य वर्णों का वह करण होता है जिससे स्पर्श करता है।[4] तात्पर्य यह है कि जो उच्चारणावयव स्वरों को उनके स्थान की प्राप्ति कराता है या पहुँचाता है वह स्वर-वर्णों का करण है। स्वर-व्यतिरिक्त वर्णों (व्यञ्जनों) में जिसके द्वारा जिस-जिस व्यञ्जन का स्पर्श करता है उसका वह करण होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वरों के उच्चारण में उच्चारणावयवों में स्पर्शविशेष होता है जिससे दो उच्चारणावयव एक दूसरे के समीप में तो आ जाते हैं किन्तु एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते हैं। इसके विपरीत व्यञ्जन वर्णों के उच्चारण में दो उच्चारणावयवों का पूर्ण सम्पर्क होता है।

---

१. अन्येषां तु यत्र स्पर्शनं तत्स्थानम्। तै० प्रा० २।३३

२. तै० प्रा०, ह्विटनी द्वारा सम्पादित, पृष्ठ ७१।

३. अनुस्वारस्वरभक्त्योर्व्यञ्जनवत् स्पर्शमात्रकत्वनिवर्तक इति माहिषेय-भाषितम्। तै० प्रा० २।३३ पर त्रि० भा०।

४. यदुपसंहरति तत्करणम्। तै० प्रा० २।३२
येन स्पर्शयति तत्करणम्। तै० प्रा० २।३४

## स्वर-वर्णों का स्थान तथा करण

अवर्ण -अवर्ण के उच्चारण में ओष्ठ और हनु न तो अधिक समीप में होते हैं और न अधिक दूर होते हैं।[1] इस विषय में माहिषेय तथा सोमयार्य ने समान रूप से कहा है कि एकवर्ण का उच्चारण करने में दोनों निषेधों-अतिसंश्लिष्टता तथा अतिविवृतता का पालन करना संभव नहीं है। अतः विषय का विभाजन कर लेना चाहिए। अकार के उच्चारण में ओष्ठों और जबड़ों को अधिक निकट नहीं लाना चाहिए तथा आकार और प्लुत आकार (आ३) के उच्चारण में ओष्ठों और जबड़ों को अधिक दूर नहीं ले जाना चाहिए।[2] इसका अभिप्राय यह है कि अकार व आकार के उच्चारण में ओष्ठों और जबड़ों की स्थिति एक जैसी नहीं होती है। इस बात की पुष्टि इससे भी होती है कि जिन वर्णों के उच्चारण में ओष्ठों की स्थिति का आदेश नहीं किया गया है, उन वर्णों के उच्चारण में ओष्ठ उसी प्रकार रहते हैं जिसप्रकार अकार के उच्चारण के समय रहते हैं।[3] यदि अकार तथा आकार दोनों के उच्चारण में ओष्ठ एक ही दशा में रहते तो २।२१ में भी १।१२ की भाँति अवर्ण का प्रयोग होता अकार का नहीं। गार्ग्यगोपालयज्वा ने अवर्ण का उच्चारणस्थान जबड़ों तथा करण ओष्ठों को बतलाया है।[4] किन्तु अवर्ण के उच्चारण में हनु पर ओष्ठ का उपसंहार होता है अतः हनु अवर्ण का उच्चारण-स्थान है तथा ओष्ठ करण है।[5]

इवर्ण —इवर्ण के उच्चारण में जिह्वा के मध्य भाग को तालु के समीप

---

१. अवर्णे नात्युपसंहृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम्। तै० प्रा० २।१२

२. तदेकस्मिन् उभयं न शक्यते कर्तुम्, तत्र विषयविभागः क्रियते-अकारे नात्युपसंहृतः आकारे च प्लुते च नातिव्यस्तः। २।१२ पर मा० भा०। त्रिभाष्यरत्नकार ने भी समानार्थक भाष्य लिखा है—तै०प्रा० तदेतदेकस्मिन्नुभयथा न शक्यते कर्तुमिति योगविभागः कार्यः अकारे नात्युपसंहृतमाकारे च प्लुते च नातिव्यस्तमिति। तै० प्रा० २।१२ पर त्रि० भा०।

३. अकारवदोष्ठौ। तै० प्रा० २।२१

४ अत्रावर्णस्यहनू स्थानम्। ओष्ठौ करणम्। तै० प्रा० २।१२ पर वै० भा०

५. ऋ० प्रा० १।३८, वा० प्रा० १।७१ तथा ऋ० तं० २ में अवर्ण का उच्चारण स्थान कण्ठ बतलाया गया है जबकि तै० प्रा० में हनु को अवर्ण का उच्चारण-स्थान बतलाया गया है।

लाया जाता है। अतः इवर्ण का उच्चारणस्थान तालु है तथा करण जिह्वा का मध्यभाग है।[१]

उवर्ण—उवर्ण के उच्चारण में दोनों ओष्ठों का परस्पर उपसंहार होता है अर्थात् दोनों ओष्ठों को एक दूसरे के निकट लाते हैं।[२] इन दोनों ओष्ठों में से ऊपर वाला ओष्ठ स्थान होता है तथा नीचे वाला ओष्ठ करण होता है। उवर्ण के उच्चारण के समय ओष्ठों की अवस्था को बतलाते हुए सोमयार्य ने कहा है कि अवर्ण के उच्चारण में ओष्ठ न केवल एक दूसरे के अधिक समीप में आ जाते हैं अपितु फैलकर लम्बे हो जाते हैं।[३]

ऋवर्ण तथा ऌकार— ऋ, ॠ, तथा ऌ—इन तीनों वर्णों के उच्चारण में दोनों जबड़े अधिक समीप में आ जाते हैं तथा जिह्वा के अग्रभाग को बर्स्व (मसूड़ा) के समीप लाया जाता है।[४] इस प्रकार ऋकार, ॠकार तथा ऌकार का उच्चारण करते समय बर्स्व स्थान होता है तथा हनु और जिह्वाग्र करण होते हैं। बर्स्व का अर्थ—दन्त-पंक्ति के ऊपर वाला उच्च प्रदेश है।

एकार—एकार का उच्चारण करते समय दोनों ओष्ठ थोड़े से प्रकृष्ट अर्थात् फैले हुए होते हैं।[५] सूत्र में प्रयुक्त 'प्रकृष्टौ' यह द्विवचनान्त पद दोनों ओष्ठों का बोध कराता है। इस प्रकार एकार के उच्चारण में दोनों ओष्ठ थोड़े फैले होते हैं। दोनों जबड़े अधिक समीप में होते हैं तथा जिह्वा-मध्य के किनारों से ऊपर वाले जबड़े के मूल किनारों को स्पर्श करते हैं।[६]

तै० प्रा० २।१५-१७ में विहित उपर्युक्त नियम व्यञ्जनरहित एकार पर लागू होते हैं। व्यञ्जनयुक्त एकार का उच्चारण करने में जिह्वामध्य को तालु के समीप में ले जाते हैं।[७] यद्यपि इवर्ण का उच्चारण करते समय भी जिह्वामध्य

१. तालौ जिह्वामध्यमिवर्णे। तै० प्रा० २।२२
२. ओष्ठोपसंहार उवर्णे। तै० प्रा० २।२४
३. अत्रोपसंहारः पूर्ववन्न सन्निकृष्टतामात्रं किन्तु सन्निकृष्टावोष्ठौ दीर्घौ स्याता-मिति वक्ष्यते। तै० प्रा० २।२४ पर त्रि० भा०।
४. उपसंहृततरे च जिह्वाग्रमृकारर्कारल्कारेषु बर्स्वेषूपसंहरति। तै०प्रा० २।१८
५. ईषत्प्रकृष्टावेकारे। तै० प्रा० २।१५
६. उपसंहृततरे हनू। जिह्वामध्यान्ताभ्यां चोत्तराञ्जम्भ्यान्त्स्पर्शयति। तै० प्रा० २।१६-१७
७. एकारे च। तै० प्रा० २।२३

को तालु के समीप लाया जाता है किन्तु दोनों के उच्चारण में भेद है। इवर्ण के उच्चारण में जिह्वामध्य को तालु के अधिक समीप में ले जाया जाता है जब कि एकार के उच्चारण में जिह्वा को तालु के उतना अधिक समीप में नहीं लाया जाता है—कुछ कम समीप में लाया जाता है। इसका कारण यह है कि एकार अकार तथा इकार की सन्धि से निष्पन्न होता है। अकार का सम्बन्ध जिह्वामध्य तथा तालु से नहीं है। एकार में इकार की अपेक्षा यही वैशिष्ट्य है। यही कारण है कि एकार का उच्चारण करने में जिह्वा के मध्य भाग को तालु के उतना अधिक समीप में नहीं ले आते हैं जितना इवर्ण के उच्चारण में लाया जाता है।[१] एकार के दो उच्चारण स्थान हैं। व्यञ्जनरहित एकार का उच्चारण-स्थान हनुमूल और करण जिह्वामध्यान्त है तथा व्यञ्जनयुक्त एकार का उच्चारण-स्थान तालु और करण जिह्वा का मध्यभाग है।

ऐकार—ऐकार सन्ध्यक्षर है।[२] वह अ तथा इ का मिश्रित रूप है। ऐकार तथा औकार का आदि वाला भाग अकार का आधा होता है।[३] अकार का आधा होने का अर्थ है अकार की अर्धमात्रा काल के समान होता है। इसलिए ऐ का आदि भाग उच्चारण-स्थान तथा करण की दृष्टि से अकार के समान होता है। यतः अकार का उच्चारण-स्थान हनु है तथा करण ओष्ठ है अतः ऐकार के आदि अंश का भी उच्चारण स्थान हनु और करण ओष्ठ है। कतिपय आचार्यों के मतों को उद्धृत करते हुए तै० प्रा० में ऐकार के आदि वाले भाग का करण संवृततर माना गया है।[४] यद्यपि सूत्र में अकार के आधा का कथन

---

१. ननु विधौ समाने पृथक्सूत्रारम्भः किमर्थः ? उच्यते-इवर्णे यथा जिह्वामध्योपसंहारो न खल्वेवमेकारे। किन्तु ततो न्यून इत्यर्थः। कुतः ? अकारमिश्रितत्वादेकारस्य अकारस्य च तदेकदेशत्वाज्जिह्वामध्यान्तनिष्पाद्यत्वं न तु स्वतः। अत एव सोपाधिकत्वान्न्यूनत्वोपपत्तिः। "ईषत्प्रकृष्टौ" (२।१५) इत्यादि सूत्रत्रयेण एकारस्य स्थानकरणे निर्दिष्टे। इह तु ततोऽन्ये तस्यैव निर्दिश्येते। तदेकस्मिन्नुभयथा कर्तुं न शक्यते विरोधात्। तस्मादत्र योगविभागः कर्तव्यः अव्यञ्जने तल्लक्षणं सव्यञ्जने त्वेतत् इति।

तै० प्रा० २।२३ पर त्रि० भा०

२. ऐकार के सन्ध्यक्षरत्व पर आगे विचार किया जाएगा।

३. अकारार्धमैकारौकारयोरादिः। तै० प्रा० २।२५

४. संवृतकरणतरमेकेषाम्। तै० प्रा० २।२७

४

नहीं किया गया है तथापि पूर्ववर्ती सूत्र में कथित होने से प्रस्तुत सूत्र में भी सान्निध्य से उसका ग्रहण किया गया है।[१] ये आचार्य ऐकार तथा औकार के आदि अर्ध मात्रा वाले अकार अंश का उच्चारण करने में ओष्ठ तथा जबड़े को और अधिक समीप में मानते है। ऐकार का परवर्ती अंश डेढ़ गुणा इकार होता है।[२] अतः इकार के स्थान और करण उस अंश में विद्यमान होते हैं। इकार का उच्चारण-स्थान तालु है तथा करण जिह्वामध्य है। इसलिए ऐकार का उच्चारण करने में उसके परवर्ती अंश का उच्चारण-स्थान तालु तथा करण जिह्वामध्य होता है। इस प्रकार अ + इ रूप दो वर्णों का मिश्रण होने से ऐकार के दो उच्चारण-स्थान तथा दो करण होते हैं। प्रथम अकार के समान तथा द्वितीय इकार के समान। इसलिए ऐकार का उच्चारण-स्थान हनु तथा तालु है और करण ओष्ठ तथा जिह्वामध्य है।

ओकार—ओकार भी सन्ध्यक्षर है। यह अ तथा उ का मिश्रित रूप है। अवर्ण के उच्चारण में ओष्ठ और हनु न तो अधिक समीप में होते हैं और न अधिक दूर रहते हैं।[३] तथा उवर्ण का उच्चारण करने में ओष्ठों का उपसंहार (समीप लाना) होता है।[४] ओकार के उच्चारण में ये दोनों विशिष्टताएँ विहित हैं। ओकार के उच्चारण में जबड़े अधिक दूर नहीं होते हैं तथा ओष्ठ अधिक समीप में होते हैं।[५] अकार का उच्चारणस्थान हनु और करण ओष्ठ है तथा उकार का उच्चारणस्थान ऊपर का ओष्ठ और करण नीचे का ओष्ठ है। इस

---

१. सान्निध्यादकारार्धमिति लभ्यते। तै०प्रा० २।१७ पर त्रि०भा०। ऋ०प्रा० १।४२ में ऐकार का उच्चारण-स्थान तालु कहा गया है। च० अ० १।२१ में जिह्वामध्य को तालव्य वर्णों का करण बतलाया गया है। इस प्रकार च० अ० में भी ऐकार का उच्चारण-स्थान तालु को तथा करण जिह्वा-मध्य को माना गया हैं। अन्य सभी प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में ऐ तथा औ का उच्चारण-स्थान समान ही बतलाया गया है।

२. इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः। तै० प्रा० २।२८

३. अवर्णे नात्युपसंहृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम्। तै० प्रा० २।१२

४. ओष्ठोपसंहार उवर्णे। तै० प्रा० २।२४

५. ओकारे च। ओष्ठौ तूपसंहृततरौ। तै० प्रा० २।१३-१४

प्रकार ओकार का उच्चारणस्थान हनु तथा ऊपर वाला ओष्ठ है और करण नीचे वाला ओष्ठ है। इस विषय में त्रिभाष्यरत्नकार ने २।१४ पर भाष्य में माहिषेय तथा वररुचि के मतों को उद्धृत किया है। वररुचि का कथन है कि व्यञ्जनयुक्त तथा व्यञ्जनरहित—दोनों ही दशाओं में ओकार का उच्चारण करते समय ओष्ठों को एक दूसरे से अधिक दूर नहीं ले जाना चाहिए। किन्तु माहिषेय का कथन है कि केवल व्यञ्जनयुक्त ओकार का उच्चारण करते समय ओष्ठों को एक दूसरे से अधिक दूर नहीं रखना चाहिए।[1] व्यञ्जनरहित ओकार में ओष्ठ एक दूसरे से दूर रह सकते है।

औकार—औकार सन्ध्यक्षर है। यह भी अ और उ का मिश्रित रूप है। औकार का आदि भाग अकार का आधा होता है[2] और परवर्ती अवशिष्ट भाग डेढ़ गुणा ( १½ ) उकार होता है।[3] अकार का उच्चारणस्थान हनु और करण ओष्ठ है तथा उकार का उच्चारणस्थान ऊपर का ओष्ठ और करण नीचे का ओष्ठ है। इस प्रकार औकार के आदि वाले भाग अकार का भी उच्चारणस्थान हनु और करण ओष्ठ हुआ तथा औकार के परवर्ती अवशिष्ट भाग उकार के उच्चारणस्थान और करण ओष्ठ हुए। अतः औकार का उच्चारण स्थान हनु और ऊपर का ओष्ठ है तथा करण अधरोष्ठ है।

तै० प्रा० में ओष्ठ्य स्वरों के उच्चारण के विषय में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तथा वैज्ञानिक विचार प्रस्तुत किये गये हैं। उ, ऊ तथा ओ, औ इन ओष्ठ्य स्वरों के उच्चारण में ओष्ठों को एक दूसरे के समीप में लाया जाता है। ओष्ठों को एक दूसरे के समीप में लाने की क्रिया को ओष्ठोपसंहार कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक ओष्ठ्य स्वर के उच्चारण में ओष्ठोपसंहार अपेक्षित है। यदि एक पद में एक ओष्ठ्य स्वर है तो केवल एक बार ओष्ठोपसंहार होना चाहिये। यदि दो ओष्ठ्य स्वर है तो दो बार ओष्ठोपसंहार किया जाय, इसी प्रकार

---

१. तुशब्द ओष्ठयोः पूर्वोक्तविधिं निवारयतीति वररुचिरुवाच। माहिषेयस्तु बभाषे-'बन्धोरित्यादिकमोकारं सव्यञ्जनं व्यस्तता निवारयतीति।
—तै० प्रा० २।१४ पर त्रि० भा०।

२. अकारार्द्धमैकारौकारयोरादिः। तै० प्रा० २।२६

३. उकारस्तूत्तरस्य। तै० प्रा० २।२९

यदि दो से अधिक ओष्ठ्य स्वर हैं तो ओष्ठोपसंहार भी दो से अधिक होना चाहिए। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। सभी स्थलों में एक मात्रा का व्यवधान होने पर, पहले किये गये ओष्ठोपसंहार के बाद में पृथक् ओष्ठोपसंहार करना चाहिए।[१] किन्तु दो ओष्ठ्य स्वरों के मध्य एक मात्राकाल से कम अर्थात् अर्धमात्रा काल का व्यवधान होने पर पृथक् ओष्ठोपसंहार नहीं होता है, एक बार ही ओष्ठोपसंहार होता है। दो ओष्ठ्य स्वरों के बीच में एक मात्रा काल या उससे अधिक का व्यवधान होने पर पृथक् ओष्ठोपसंहार होगा और अर्धमात्राकाल का व्यवधान होने पर पृथक् ओष्ठोपसंहार न होकर एक बार ही ओष्ठोपसंहार होगा।

तै० प्रा० २।२५ पर विस्तृत विचार किया गया है जिसके आधार पर अधोलिखित तथ्य प्रकाश में आते हैं।

(१) एक ओष्ठ्य स्वर तथा दूसरे ओष्ठ्य स्वर के मध्य में एक अथवा एक से अधिक मात्राकाल का व्यवधान होने पर प्रत्येक ओष्ठ्य स्वर के उच्चारण में पृथक् ओष्ठोपसंहार होगा। यथा उत्पूतशुष्मम्।[२] यहाँ पर ओष्ठ्य स्वरों के बीच में क्रमशः एक तथा एक से अधिक मात्राकाल का व्यवधान होने के कारण प्रत्येक ओष्ठ्य स्वर के लिये पृथक् ओष्ठोपसंहार किया जायेगा।

(२) दो या अधिक ओष्ठ्य स्वरों के मध्य में आधी मात्राकाल का व्यवधान होने पर प्रत्येक ओष्ठ्य स्वर के लिये पृथक् ओष्ठोपसंहार नहीं होता है। प्रथम ओष्ठोपसंहार से ही द्वितीय आदि ओष्ठ्य स्वरों का भी उच्चारण किया जायेगा। अभिप्राय यह है कि आधी मात्राकाल से व्यवहित होने पर एक ही ओष्ठोपसंहार से। द्वितीय आदि ओष्ठ्य स्वरों का उच्चारण हो जायेगा। यथा—कुसुरुबिन्दः।[३] प्रस्तुत स्थल में तीन ओष्ठ्य स्वर (उकार) हैं। प्रथम तथा द्वितीय और द्वितीय तथा तृतीय के बीच में आधी-आधी मात्राकाल का व्यवधान है। अतः यहाँ प्रत्येक ओष्ठ्य स्वर के लिये अलग-अलग ओष्ठोपसंहार नहीं किया जायगा। तीनों ओष्ठ्य स्वरों का उच्चारण एक ही ओष्ठोपसंहार से हो जायगा।

---

१. एकान्तरस्तु सर्वत्र प्रकृतात्। तै० प्रा० २।२५

२. सं० पा० १।६।१

३. सं० पा० ७।२।२

(३) परवर्ती ओष्ठ् स्वर के ओकार होने पर आधी मात्राकाल से व्यवहित रहने पर भी प्रत्येक के लिये पृथक् ओष्ठोपसंहार किया जायगा। यथा—अथो ओषधीषु[1] यहाँ पर अथो से परवर्ती स्वर ओकार है। इसलिए अथो के ओ और ओषधिषु के ओ दोनों ओष्ठ्य स्वरों के लिए पृथक् पृथक् ओष्ठोपसंहार किया जायेगा।

(४) व्यञ्जन (आधी-मात्रा) का व्यवधान होने पर तथा परवर्ती स्वर औकार होने पर ओष्ठोपसंहार का औकार (=अ+ऊ) की अन्तिम मात्रा से सम्बन्ध होने के कारण एक मात्राकाल का व्यवधान होता है।[2] इसलिए पृथक्-पृथक् ओष्ठोपसंहार किया जाता है। यथा—देवश्रुतौ देवेष्वघोषे।[3] यहाँ प्रथम ओष्ठ्य स्वर श्रु (उकार) हैं। उसके पश्चात् तौ का औकार आया है। यह 'औ' सन्ध्यक्षर है, इसका आदि भाग अ (आधी मात्रा) काल और शेष उ है। अतः 'श्रु' के उकार और 'तौ' (अ+उ के उकार के मध्य एक मात्राकाल (त्=½ मात्रा+अ=½ मात्रा) का व्यवधान है। अतः उच्चारण करते समय 'श्रु' और 'तौ' के ओष्ठ्य स्वरों के मध्य में एक मात्राकाल का व्यवधान होने से दोनों के लिये पृथक्-पृथक् ओष्ठोपसंहार होगा।

(५) दो ओष्ठ्य स्वरों के मध्य में एक से अधिक (डेढ़=१½) मात्रा का व्यवधान होने पर भी सम्बद्ध ओष्ठ्य स्वरों के लिये पृथक्-पृथक् ओष्ठोपसंहार का विधान किया गया है। यद्यपि २।२५ सूत्र में एक मात्रा से व्यवहित होने पर ही पृथक् ओष्ठोपसंहार विहित है तथापि डेढ़ मात्रा का कथन करने पर उसके अन्तर्गत ही एक मात्रा का अन्तर्भाव हो जाता है। यतः एक मात्राकाल का व्यवधान होने पर पृथक् ओष्ठोपसंहार होता है। अतः डेढ़ मात्राकाल का व्यवधान होने पर पृथक् ओष्ठोपसंहार होगा ही। अधिक का तो निषेध नहीं किया जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि एक मात्राकाल का व्यवधान होने पर पृथक् ओष्ठोपसंहार होता है तब डेढ़ मात्रा का व्यवधान होने

---

१. सं० पा० ३।५।५

२. तै. प्रा. २।२६ तथा २।२९ के अनुसार औकार के आदि में अकार की आधी मात्रा है तथा शेष अंश डेढ़ गुणा उकार है। उकार ओष्ठ्य स्वर है। अतः ओष्ठोपसंहार औकार=अ (½ मात्रा)+उ (१½ मात्रा) की अन्तिम मात्रा 'उ' से सम्बद्ध है।

३. सं० पा० १।२।१३

पर तो पृथक् ओष्ठोपसंहार अवश्य होगा।[1] यथा—योऽ<sup></sup>ँशुम्[2] यहाँ अनुस्वार का काल एक मात्रा है और शकार आधी मात्रा काल वाला है अतः ओकार तथा उकार के मध्य में डेढ़ मात्रा काल का व्यवधान है। इसलिये यहाँ भी पृथक् पृथक् ओष्ठोपसंहार किया जायगा।

कवर्ग—कवर्ग[3] अर्थात् क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, का उच्चारण करते समय जिह्वा के मूल से जबड़े के मूल में वर्गों को स्पर्श करता है[4] अर्थात् कवर्ग के उच्चारण में जिह्वामूल का हनुमूल में स्पर्श होता है। अतः कवर्ग का उच्चारण-स्थान हनुमूल है तथा जिह्वामूल करण है।

चवर्ग—चवर्ग[5] अर्थात् च्, छ्, ज्, झ्, ञ् का उच्चारण करते समय जिह्वा के मध्यभाग से तालु पर स्पर्श किया जाता है[6]। इस प्रकार चवर्ग को उच्चारण करने के लिए जिह्वा के मध्य से वर्णों को तालु पर स्पर्श कराना चाहिए। अतः चवर्ग का उच्चारण-स्थान तालु तथा जिह्वामध्य करण है।

टवर्ग—टवर्ग[7] अर्थात् ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् का उच्चारण करते समय जिह्वा के अग्रभाग

---

१. योऽँशुम्-इत्यत्रानुस्वारस्य मात्राकालः शकारस्यार्धमात्राकालः। एवमध्यर्धमात्रत्वे सत्येकान्तरत्वाभावात् कथं पृथगोष्ठोपसंहारसिद्धिः। उच्यते-शते पञ्चाशन्न्यायेन सिद्ध्यति। अध्यर्धमात्रत्वेऽप्येकमात्रत्वं सुतरामस्ति। तेन कार्यं भवत्यधिकं तु न निषिध्यते। स्त्रायोगव्यवच्छेदकत्वादेकशब्दस्य। तै० प्रा० २।२५ पर त्रि० भा०।

२. सं० पा० ३।३।४

३. ऋ० प्रा० १।४१, वा० प्रा० १।६५ तथा ऋ० तं० ४ में कवर्ग का उच्चारण-स्थान जिह्वामूल बतलाया गया है जब कि तै० प्रा० में जिह्वामूल करण है। अन्य प्रातिशाख्यों में करण का विधान नहीं किया गया है। तै० प्रा० के विपरीत च० अ० १।२० में जिह्वामूल को कवर्ग का स्थान तथा हनुमूल को करण बतलाया गया है।

४. हनुमूले जिह्वामूलेन कवर्गं स्पर्शयति। तै० प्रा० २।३५

५. सभी प्रातिशाख्यों में चवर्ग का उच्चारण-स्थान तालु कहा गया है।

६. तालौ जिह्वामध्येन चवर्गं। तै० प्रा० २।३६

७. सभी प्रातिशाख्यों में टवर्ग का उच्चारण-स्थान मूर्धा कहा गया है। टवर्ग के वर्णों का उच्चारण करने में जिह्वा के अग्र-भाग (नोक) को ऊपर की ओर ले जाकर और तब पीछे की ओर मोड़कर मूर्धा का स्पर्श किया

से मोड़कर ( अर्थात् जिह्वा के अग्रभाग को मोड़कर उससे ) वर्णों को मूर्धा में स्पर्श किया जाता है।[१] इस प्रकार टवर्ग का उच्चारण-स्थान मूर्धा है तथा जिह्वा का अग्रभाग करण है। मुख के ऊपर स्थित आवरण शिर कहलाता है—शिर इत्यास्यस्योपरि प्रावरणमुच्यते।[२] वस्तुतः मूर्धा शब्द का अर्थ है—सिर। किन्तु सिर से वर्णोच्चारण करना असंभव है। अतः मूर्धा का गौण अर्थ हुआ — मुख-विवर का सर्वोपरि प्रदेश क्योंकि जिह्वा की पहुँच की दृष्टि से यह सिर का सर्वोपरि भाग है। यहाँ मूर्धा शब्द से मुख-विवर का सबसे ऊपर वाला भाग ही विवक्षित है।

तवर्ग—तवर्ग[३] अर्थात् त्, थ्, द्, ध्, न् का उच्चारण करते समय जिह्वा के अग्र-भाग से दाँतों के मूल में स्पर्श किया जाता है।[४] अतः तवर्ग का उच्चारण-स्थान दन्त-मूल है तथा जिह्वाग्र करण है।

पवर्ग—पवर्ग[५] अर्थात् प्, फ्, ब्, भ्, म् का उच्चारण करते समय दोनों ओष्ठों का परस्पर स्पर्श करना चाहिए।[६] पवर्गीय स्पर्श वर्णों के उच्चारण में ऊपरी ओष्ठ स्थिर रहता है तथा गतिमान निचला ओष्ठ उस पर स्पर्श करता है इस प्रकार इन स्पर्शों के उच्चारण में ऊपर वाला ओष्ठ स्थान तथा नीचे वाला ओष्ठ करण होता है।

यकार—यकार का उच्चारण करते समय जिह्वा के मध्यभाग के किनारों से तालु पर स्पर्श करना चाहिए।[७] इस प्रकार यकार का उच्चारण-स्थान तालु तथा करण जिह्वामध्यान्त है।

---

जाता है। मुड़ी हुई जिह्वा ही टवर्ग का उच्चारण करने के लिए समर्थ होती है।

१. जिह्वाग्रेण प्रतिवेष्ट्य मूर्धनि टवर्गे। तै० प्रा० २।३७
२. तै० प्रा० २।३ पर वै० भा०
३. ऋ० प्रा० तवर्ग का उच्चारण-स्थान दन्तमूल मानता है लेकिन वा० प्रा० १।६९ तथा ऋ० तं० ७ में तवर्ग का स्थान दन्त बतलाया गया है।
४. जिह्वाग्रेण तवर्गे दन्तमूलेषु। तै० प्रा० २।३८
५. ऋ० प्रा० १।४७ के अनुसार पवर्ग का उच्चारण-स्थान ओष्ठ है।
६. ओष्ठाभ्यां पवर्गे। तै० प्रा० २।३९
७. तालौ जिह्वामध्यान्ताभ्यां यकारे। तै० प्रा० २।४०
सभी प्रातिशाख्य तालु को यकार का उच्चारण-स्थान मानते हैं।

रेफ – रेफ अर्थात् र् का उच्चारण करते समय जिह्वा के अग्र-भाग के मध्य से दाँतों के मूल के अन्दर की ओर[1] स्पर्श किया जाता है।[2] इस प्रकार रेफ का उच्चारण-स्थान दन्तमूल है तथा करण जिह्वाग्रमध्य है।

लकार – लकार का उच्चारण करते समय जिह्वा के अग्रभाग के मध्य से दाँतों के मूल पर अन्दर की ओर स्पर्श किया जाता है।[3] इस प्रकार दाँतों के मूल के समीप में अन्दर की ओर विद्यमान प्रदेश लकार का उच्चारणस्थान है तथा जिह्वाग्रमध्य करण है।

वकार—वकार का उच्चारण ओष्ठों के किनारों से दाँतों की सहायता से किया जाता है।[4] अर्थात् ओष्ठों के किनारे से दाँतों पर स्पर्श करने से वकार का उच्चारण होता है। अतः वकार का उच्चारणस्थान दन्त है तथा नीचे वाला ओष्ठ करण है।

ऊष्म-वर्णों के स्थान तथा करण—ऊष्म-वर्णों का क्रम से वही स्थान होता है जो स्पर्श वर्गों का होता है अर्थात् ऊष्म-वर्ण क्रम से स्पर्श-वर्गों के स्थानों में उच्चरित होते हैं।[5] उदाहरणार्थ जिह्वामूलीय ( ᳵ क् )[6] ऊष्म-वर्ण

---

१. सोमयार्य ने सूत्र में प्रयुक्त प्रत्यक् शब्द का अर्थ किया है—अन्दर की ओर-प्रत्यगित्यभ्यन्तर उपरिभाग इत्यर्थः। तै० प्रा० २।४१ पर त्रि० भा०।

२. रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यग्दन्तमूलेभ्यः। तै० प्रा० २।४१
ऋ० प्रा० १।४६ में रेफ का उच्चारणस्थान बर्स्व कहा गया है तथा वा० प्रा० १।५८ में रेफ का उच्चारणस्थान दन्तमूल बतलाया गया है।

३. दन्तमूलेषु च लकारे। — तै० प्रा० २।४२
वा० प्रा० १।६९ में लकार का उच्चारण-स्थान दन्त कहा गया है।

४. ओष्ठान्ताभ्यां दन्तैर्वकारो। तै० प्रा० २।४३
ऋ० प्रा० १।४७, वा० प्रा० १।७० तथा ऋ० तं० ९ में ओष्ठ को वकार का उच्चारणस्थान बतलाया गया है जबकि तै० प्रा० में ओष्ठ को करण कहा गया है। वा० प्रा० १।८१ में दन्तमूल को वकार का उच्चारणस्थान कहा गया है।

५. स्पर्शस्थानेषूष्माण आनुपूर्व्येण। तै० प्रा० २।४४
च० अ० १।२० जिह्वामूलीय वर्णों का करण (-सक्रिय-उच्चारणावयव)

का उच्चारण कवर्ग के स्थान से किया जाता है। अतः जिह्वामूलीय ( ≍ क् ) का उच्चारण स्थान कवर्ग के समान हनुमूल है तथा करण जिह्वामूल है। जिह्वामूल से उच्चरित होने के कारण ही इसको जिह्वामूलीय कहा जाता है। शकार का उच्चारण चवर्ग के स्थान से किया जाता है। चवर्ग का उच्चारण-स्थान तालु तथा करण जिह्वामध्य है। अतः शकार का उच्चारण-स्थान भी तालु तथा करण जिह्वामध्य है। षकार का उच्चारण टवर्ग के स्थान से किया जाता है। टवर्ग का उच्चारण-स्थान मूर्धा है तथा करण जिह्वाग्र है। अतः षकार का भी उच्चारण-स्थान मूर्धा तथा करण जिह्वा का अग्रभाग है। सकार का उच्चारण तवर्ग के स्थान से किया जाता है। तवर्ग का उच्चारण-स्थान दन्तमूल है तथा करण जिह्वाग्र है। तवर्ग के स्थान से उच्चरित किये जाने के कारण उसके समान ही सकार का उच्चारण स्थान दन्तमूल तथा करण जिह्वाग्र है। उपध्मानीय ( ≍ प् ) का उच्चारण पवर्ग के स्थान से किया जाता है। पवर्ग का उच्चारणस्थान उत्तरोष्ठ है तथा करण अधरोष्ठ है। उपध्मानीय (≍ प्) के भी उच्चारणस्थान तथा करण क्रमशः उत्तरोष्ठ तथा अधरोष्ठ हैं।

हकार तथा विसर्जनीय—हकार तथा विसर्जनीय[1] को कण्ठस्थानीय

---

कोमल तालु ( हनुमूल ) को माना गया है। यतः वर्णों का नामकरण उनके उच्चारण स्थान के आधार पर किया जाता है अतः जिह्वामूल उच्चारण स्थान से उच्चरित होने के कारण इन वर्णों का नाम जिह्वामूल है। इस मत के विपरीत तै० प्रा० में कोमल तालु (हनुमूल) को इन वर्णों का स्थान तथा जिह्वामूल को करण माना गया है। तै०प्रा० के अनुसार कवर्ग के उच्चारण में जिह्वामूल से कोमल तालु (हनुमूल) का स्पर्श किया जाता है। इस प्रकार तै० प्रा० का मत अधिक संगत प्रतीत होता है क्योंकि सक्रिय उच्चारणावयव को करण माना जाता है तथा तदपेक्षया निष्क्रिय अवयव को स्थान माना जाता है।

जिह्वामूलीय वर्णों के उच्चारण में दो क्रियाएं अपेक्षित हैं (१) जिह्वा का मूल ऊपर उठकर कोमल तालु (हनुमूल) का स्पर्श करता है। (२) हनुमूल ऊपर उठकर नासिका-विवर के मार्ग को बन्द कर देता है।

१. ऋ० प्रा० १।४० में हकार के उच्चारण के विषय में कतिपय आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि हकार और विसर्जनीय का

कहा गया है।[1] इससे यह तो ज्ञात हो जाता है कि हकार तथा विसर्जनीय दोनों का उच्चारणस्थान कण्ठ है किन्तु वर्णों के उच्चारण में सक्रिय उच्चारणावयव क्या है इसका कथन नहीं हुआ है। गार्ग्यगोपालयज्वा ने कतिपय विशिष्टताओं का उल्लेख करते हुए कहा है कि वर्गों के अन्तिम स्पर्श अथवा अन्तःस्था वर्ण बाद में होने पर हकार को छाती (उरस्) से उत्पन्न समझना चाहिए अर्थात् पञ्चम स्पर्श अथवा अन्तःस्था वर्ण बाद में होने पर हकार का उच्चारण स्थान उरस् होता है। अन्य दशाओं में हकार कण्ठ स्थान वाला होता है। वैदिकाभरणकार का कथन है कि करण का कथन न किये जाने पर स्थान को ही करण समझना चाहिए।[2] माहिषेय तथा सोमयार्य ने हकार तथा विसर्जनीय वर्णों में करण का अभाव बतलाया है।[3]

तै० प्रा० में हकार का उच्चारण करने के सम्बन्ध में कतिपय आचार्यों के मतों को उद्धृत किया गया है।

(१) कतिपय आचार्य हकार को अपने बाद वाले स्वर के आदि अंश के समान उच्चारण-स्थान वाला मानते हैं।[4] अर्थात् हकार के बाद में आने वाले स्वर के आदिभाग के उच्चारण-स्थान के समान ही हकार का भी उच्चारण-स्थान होता है। समानाक्षरों में प्रत्येक समूह (यथा-अ, आ, आ३-एक समूह है) के वर्णों का एक-एक समान उच्चारण-स्थान होता है। यथा

---

स्थान उरस् है। च० अ० १।१९ की व्याख्या में ह्विट्नी ने इन महाप्राण ध्वनियों को छाती से उत्पन्न मानने पर भारतीय आचार्यों की प्रशंसा की है।

तै० प्रा० तथा अन्य सभी प्रातिशाख्यों ने हकार तथा विसर्जनीय को कण्ठस्थानीय माना है।

१. कण्ठस्थानौ हकारविसर्जनीयौ। तै० प्रा० २।४६

२. हकारस्य तूत्तमान्तस्थापरस्योरस्यत्वं वेदितव्यम्। ...... तदर्थमेव 'उरः कण्ठ' (२—३) इत्युरोपि स्थानतयोक्तम्। ... करणानुक्तौ स्थानमेव करणं च वेदितव्यम्। तै० प्रा० २।४६ पर वै० भा०

३. करणाभाव एतयोः। तै० प्रा० २।४६ पर मा० भा०। अनयोः करणाभावः। २।४६ पर त्रि० भा०।

४. उदयस्वरादिसस्थानो हकार एकेषाम्। तै० प्रा० २।४७

अवर्ण का उच्चारण-स्थान हनु है, इवर्ण का तालु तथा उवर्ण का ओष्ठ है। अतः अ, आ, आ३ का एक उच्चारण स्थान है। इ, ई, ई३ का एक उच्चारण-स्थान है तथा उ, ऊ, ऊ३ का एक उच्चारण स्थान है। यतः अवर्ण, इवर्ण तथा उवर्ण में आदि तथा अन्त रूप पृथक्करण न होने से आदि अंश तथा अन्तिम अंश के लिए भिन्न-भिन्न उच्चारण-स्थान का अभाव है अतः इन आचार्यों द्वारा विहित यह नियम केवल ए, ऐ, ओ तथा औ इन[1] असमानाक्षर संज्ञक[2] वर्णों पर ही लागू होता है। तात्पर्य यह है कि हकार अपने बाद आने वाले ए, ऐ, ओ तथा औ के आदि भाग के उच्चारण-स्थान के समान उच्चारण-स्थान वाला होता है, एकार, ऐकार, ओकार तथा औकार-इन चारो वर्णों में आदि अंश अकार है, अतः हकार का उच्चारण-स्थान अकार के समान हनु होता है। प्रस्तुत नियम में करण का विधान नहीं किया गया है किन्तु स्थान और करण का साथ-साथ सम्बन्ध होता है। इससे परवर्ती स्वर के आदि अंश का जो उच्चारण-स्थान विहित है तथा जो करण विहित है, वही उच्चारण-स्थान तथा करण हकार का भी समझना चाहिए। इस प्रकार अकार का करण हीं हकार का भी करण होगा। यतः अकार के उच्चारण-स्थान और करण क्रमशः हनु तथा ओष्ठ हैं अतः हकार भी हनु उच्चारण-स्थान वाला तथा ओष्ठ करण वाला होता है।

विसर्जनीय अपने पूर्ववर्ती स्वर के अन्त वाले भाग के समान उच्चारण

---

१. तै० प्रा० में ए तथा ओ का विभाजन नहीं लतलाया गया है। किन्तु २ २६, २८, २९ में कहा गया है कि ऐ = अ(½ मात्रा) + इ(१½ मात्रा) तथा औ = अ(½ मात्रा) + उ(१½ मात्रा) होता है। इस आधार पर यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि ऐ तथा औ दो स्वरों की सन्धि से उत्पन्न वर्ण हैं। व्याकरण से पता चलता है कि ए तथा ओ भी दो स्वरों की सन्धि से निष्पन्न होते हैं—ए = अ + इ, ओ = अ + उ। अतः ए, ऐ, ओ तथा औ-इन चारों वर्णों का दो स्वरों की सन्धि से निष्पन्न होना निश्चित हो जाता है। दो स्वरों से उत्पन्न होने से प्रत्येक के लिए दो उच्चारण-स्थान तथा दो करण होते हैं।

२. इस ग्रन्थ में समानाक्षर संज्ञक वर्णों से भिन्न स्वरों के लिये असमानाक्षर संज्ञा का प्रयोग किया गया है। उल्लेखनीय है कि समानाक्षर से भिन्न स्वर वर्णों के लिए तै० प्रा० में कोई संज्ञा विहित नहीं है।

स्थान वाला होता है।[१] तात्पर्य यह है कि विसर्जनीय का वही स्थान होता है जो उससे पूर्ववर्तीस्वर के अन्त वाले भाग का होता है। यतः ए, ऐ ओ तथा औ में आदि अंश अकार है किन्तु अन्तिम भाग इ अथवा उ है अतः विसर्जनीय बाद में होने पर उस विसर्जनीय का उच्चारण-स्थान तथा करण वही होगा जो इ अथवा उ का है। इसे उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—(१) अग्नेः[२] यहाँ विसर्जनीय से पूर्ववर्ती स्वर एकार (अ + इ) है जिसका अन्तिम अंश इकार है। अतः इकार के उच्चारण-स्थान तालु तथा करण जिह्वामध्य के समान विसर्जनीय का भी उच्चारण-स्थान तालु तथा करण जिह्वामध्य होगा।[३] (२) आऽयं गौः[४] यहाँ विसर्जनीय से पूर्ववर्ती औकार (अ + उ) स्वर है जिसका अन्तिम अंश उकार है। अतः उकार के उच्चारण-स्थान तथा करण ओष्ठ होने से विसर्जनीय का भी उच्चारण-स्थान तथा करण ओष्ठ होंगे।

अनुस्वार—अनुस्वार तथा वर्गों के अन्तिम स्पर्श वर्ण अनुनासिक हैं।[५] अनुनासिक का अर्थ स्पष्ट करते हुए सोमयार्य ने कहा है कि ये नासिका का अनुगमन करते हैं। इसलिए नासिका से उच्चरित होने के कारण इन्हें अनुनासिक कहते हैं।[६] अनुस्वार तथा वर्गों के अन्तिम स्पर्श-वर्णों का उच्चारण घ्राण-बिल के विस्तार से होता है।[७] इन अनुनासिक वर्णों का उच्चारण मुख तथा नासिका दोनों से होता है।[७] वर्गों के अन्तिम स्पर्श वर्णों ङ्, ञ्, ण्, न्, म् का

---

१. पूर्वान्तसस्थानो विसर्जनीयः। तै० प्रा० २।४८
२. सं० पा० १।१।१०
३. शुद्ध अकार तथा ए, ऐ, ओ, औ के आदि में विद्यमान अकार के उच्चारण-स्थान तथा करण में अत्यल्प अन्तर है। शुद्ध अकार के उच्चारण में ओष्ठ तथा हनु एक दूसरे के अधिक निकट नहीं आते हैं किन्तु ए, ऐ ओ तथा औ के आदि में विद्यमान अकार के उच्चारण में ओष्ठ तथा जबड़े परस्पर अधिक समीप में आ जाते हैं। प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट हो जाता है कि हकार का उच्चारण करते समय ओष्ठ तथा जबड़े अधिक समीप में रहते है।
४. सं० पा० १।५।२
५. अनुस्वारोत्तमाः अनुनासिकाः। तै० प्रा० २।३०
६. नासिकामनुवर्तन्त इत्यनुनासिकाः। तै०-प्रा० २।३० पर त्रि० भा०
७. नासिकाविवरणादानुनासिक्यम्। तै० प्रा० २।५२

उच्चारण करने में मुख और नासिका दोनों आवश्यक हैं किन्तु अनुस्वार का उच्चारण नासिका से होता है। इस प्रकार अनुस्वार का उच्चारणस्थान नासिका-विवर है और वर्गों के अन्तिम स्पर्श वर्णों का उच्चारण-स्थान मुख तथा नासिका दोनों हैं।

गार्ग्यगोपालयज्वा ने अनुस्वार को अर्धगकाररूप बतलाया है। उनके अनुसार तैत्तिरीय शाखा में वर्गों के अन्तिम स्पर्श वर्णों की भाँति अनुस्वार भी व्यञ्जन है।[1] अर्थात् जिस प्रकार से वर्गों के अन्तिम स्पर्श-वर्ण व्यञ्जन हैं उसी प्रकार अनुस्वार भी व्यञ्जन है और उसका उच्चारण आधे गकार की भाँति होता है। गकार का उच्चारण मुख से किया जाता है। अतः अनुस्वार का का उच्चारण-स्थान मुख भी है। २।३० के अनुसार अनुस्वार अनुनासिक है उसका उच्चारण नासिका विवर से होता है। इस प्रकार अनुस्वार के दो उच्चारण-स्थान हुए—मुख और नासिका। कतिपय आचार्यों ने अनुस्वार के उच्चारण में दोनों जबड़ों का उपसंहार बतलाया है।[2] अर्थात् ये दोनों जबड़ों को अनुस्वार का उच्चारण-स्थान मानते हैं। किन्तु तैत्तिरीय शाखा में अनुस्वार अनुनासिक है अर्थात् उसका उच्चारण-स्थान नासिका-विवर है।[3]

**यम तथा नासिक्य वर्णों का स्थान और करण**—नासिक्य (यम[4] तथा नासिक्य) वर्णों को नासिका-विवर से उच्चारित किया जाता है अथवा मुख तथा नासिका से उच्चारित किया जाता है।[5] इन नासिक्य वर्णों के करण का विधान करते हुए कहा गया है कि नासिक्य वर्णों में वर्ग के समान करण होता है।[6] तात्पर्य यह है कि जिस वर्ग के बाद नासिक्य वर्ण होगा उसी वर्ग के

---

१. अनुस्वारोऽप्युत्तमवद्व्यञ्जनमेव अस्मच्छाखायाम्। अर्धगकाररूपत्वात्।
तै० प्रा० २।३० पर वै० भा०

२. एकेषामनुस्वारस्वरभक्त्योश्च। तै० प्रा० २।१९

३. एकेषामन्येषां मतेन अनुस्वारे हनूपसंहारः कार्यः।""""स्वमते तु अनुस्वारस्य वक्ष्यति आनुनासिक्यम्। तै० प्रा० २।१८ पर वै० भा०

४. वैदिकाभरणकार ने यमों को पृथक् वर्ण नहीं माना है और इन यमों का ग्रहण नासिक्यवर्णों के अन्तर्गत किया है।

५. नासिक्या नासिकास्थानाः। मुखनासिक्या वा। तै० प्रा० २।४९-५०

६. वर्गवच्चैषु। तै० प्रा० २।५१

समान उसका करण भी होगा। उदाहरणार्थ कवर्गीय स्पर्शों से परे स्थित नासिक्य का करण जिह्वामूल होगा क्योंकि कवर्गीय स्पर्श वर्णों का करण जिह्वामूल है। जहाँ तक उच्चारण-स्थान का प्रश्न है २।५० में प्रयुक्त मुख शब्द से यहाँ पाँचों वर्गों के स्थानों का ग्रहण होता है अर्थात् पाँचों वर्गों के बाद में आने के कारण और पाँचों वर्गों के वर्णों का मुख से उच्चारण होने कारण नासिक्य-वर्णों का प्रथम उच्चारण स्थान मुख है। इनमें से कवर्गीय वर्ण से बाद में स्थित नासिक्य का हनुमूल द्वितीय स्थान होगा। चवर्गीय स्पर्श वर्णों से परवर्ती नासिक्य का तालु द्वितीय स्थान होगा। इसी प्रकार तत्तद्वर्गीय स्पर्श-वर्णों से परवर्ती नासिक्यों का उस-उस वर्ग का स्थान उस नासिक्य का दूसरा स्थान होगा।

गार्ग्यगोपालयज्वा का कथन है कि स्पर्श वर्णों से बाद में विद्यमान प्रथम आदि नाम वाले नासिक्य ( यम ) मुख तथा नासिका स्थान वाले होते हैं किन्तु हकार से परवर्ती नासिक्य वर्ण केवल नासिका स्थान वाला होता है।[1] त्रिभाष्यरत्नकार ने यमों की संख्या चार बतलाया है तथा एक नासिक्य वर्ण माना है।

ळकार —यद्यपि वर्णमाला में इसका ग्रहण किया गया है तथापि तै० सं० में प्रयोग में न आने के कारण सूत्रकार तथा भाष्यकारों ने इसके उच्चारण-स्थान आदि का विधान नहीं किया है।[2]

स्वर-भक्ति—तै० प्रा० में कतिपय आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि स्वरभक्ति का उच्चारण करते समय जिह्वा के अग्र-भाग को मसूड़ों के समीप में लाया जाता है।[3] ऋ का उच्चारण करते समय जिह्वा के अग्र-

---

१. मुखं च नासिका च मुखनासिकम्। तत्र भवाः मुखनासिक्याः।.... स्पर्शेभ्यः परे प्रथमादिव्यपदेशभाजो मुखनासिक्याः। हकारात्परस्तु नासिकामात्र-स्थान इति। तै० प्रा० २।५० पर वै० भा०

२. ळकार पर विचार करते हुए ऋग्वेदप्रातिशाख्य में कहा गया है कि डकार दो स्वरों के मध्य में आकर ळकार हो जाता है—'द्वयोश्चास्य स्वरयोर्मध्यमेत्य संपद्यते स डकारो ळकारः।' ऋ० प्रा० १।५२ मूलतः डकार होने के कारण ळकार का उच्चारण-स्थान भी डकार के समान मूर्धा और करण जिह्वाग्र है।

३. एकेषामनुस्वारस्वरभक्त्योश्च। तै० प्रा० २।१९

भाग को मसूड़ों (बर्स्व) के समीप में लाया जाता है।[1] २।१८ में यह विधान किया गया है कि ऋकार का उच्चारण-स्थान बर्स्व और करण जिह्वाग्र है। इस आधार पर भी ऋकार के समान होने से स्वरभक्ति का भी उच्चारण-स्थान बर्स्व तथा करण जिह्वाग्र है। गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार, स्वरभक्ति का उच्चारण-स्थान आदि रेफ के तुल्य होता है[2] क्योंकि २१।१५ के अनुसार रेफ और ऊष्म-वर्णों का संयोग होने पर रेफ स्वरभक्ति होती है।[3] इस लिए स्वरभक्ति का उच्चारण-स्थान तथा करण वही होता है जो रेफ का उच्चारण-स्थान तथा करण है यतः २।४१ में कहा गया है कि रेफ का उच्चारण-स्थान दन्तमूल और करण जिह्वाग्रमध्य है[4] अतः स्वरभक्ति का उच्चारण-स्थान भी दन्तमूल तथा करण जिह्वाग्रमध्य है।

## वर्णों के उच्चारण-स्थान की सारिणी

| कण्ठ | हनु | हनुमूल | तालु | हनु और तालु | मूर्धा | दन्तमूल | दन्त | बर्स्व | उत्तरोष्ठ | नासिका | हनु और उत्तरोष्ठ | मुख और नासिका |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ह् | अ | क् | इ | ऐ | ट् | त् | व् | ऋ | उ | हँ् | ओ | अं |
| अः | आ | ख् | ई | | ठ् | थ् | | ॠ | ऊ | कँ् | औ | |
| | आ३ | ग् | ई३ | | ड् | द् | | ऌ | ऊ३ | खँ् | | |
| | | घ् | ए | | ढ् | ध् | | | प् | गँ् | | |
| | | ङ् | च् | | ण् | न् | | | फ् | घँ् | | |
| | | ≍क् | छ् | | ष् | स् | | | ब् | | | |
| | | | ज् | | | र् | | | भ् | | | |
| | | | झ् | | | ल् | | | म् | | | |
| | | | ञ् | | | | | | ≍प् | | | |
| | | | य् | | | | | | | | | |
| | | | श् | | | | | | | | | |

१. जिह्वाग्रमृकारर्कारल्कारेषु बर्स्वेषूपसंहरति। तै० प्रा० २।१८
२. स्वरभक्तेस्तु रेफस्थानादिकं भवति। तै० प्रा० २१।१९ पर वै० भा०
३. रेफोष्मसंयोगे रेफस्स्वरभक्तिः। तै० प्रा० २१।१५
४. रेफे जिह्वाग्रमध्येन प्रत्यग्दन्तमूलेभ्यः। तै० प्रा० २।४१

**करण के आधार पर वर्णों का वर्गीकरण**—वर्णोच्चारण में मुख्यरूप से करण[1] (सक्रिय मुखावयव) दो हैं – (१) ओष्ठ[2] तथा (२) जिह्वा

जिह्वा चार प्रकार के रूपों में सक्रिय उच्चारणावयव (करण) का कार्य करती है अर्थात् उच्चारण की दृष्टि से जिह्वा के पाँच प्रदेश हैं—(१) जिह्वामूल (२) जिह्वामध्य (३) प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र (४) जिह्वाग्र तथा (५) जिह्वाग्रमध्य।

अब ओष्ठ आदि करणों से निष्पन्न वर्णों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

ओष्ठ—(अधरोष्ठ) – अ, आ, आ३, उ, ऊ, ऊ३, ओ, औ, प्, फ्, ब्, भ्, म् तथा व्—इन वर्णों का करण अधरोष्ठ है।[3]

---

१. ऋ० प्रा० में करण संज्ञा नहीं विहित है। वा० प्रा० तथा च० अ० में करण का विधान तो किया गया है किन्तु वह विधान तै०प्रा० के विधान से साम्य नहीं रखता है। प्रायः तै० प्रा० में जो उच्चारणावयव उच्चारण-स्थान के रूप में उल्लिखित हैं उन्हें वा० प्रा० तथा च० अ० में करण कहा गया है। यथा-वा० प्रा० में अवर्ण का करण जबड़े के मध्य भाग को माना गया है जब कि तै० प्रा० में जबड़े को अवर्ण का उच्चारण-स्थान माना गया है। वा० प्रा० १।८३ तथा च० अ० १।२० में हनुमूल को जिह्वामूलीय वर्णों का करण कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि ये प्रातिशाख्य जिह्वामूल को स्थान मानते हैं। इसके विपरीत तै० प्रा० २।३५ में हनुमूल को कवर्ग तथा जिह्वामूलीय (ᳵ क्) का उच्चारण-स्थान कहा गया है। वस्तुतः तै० प्रा० का मत ही समीचीन है क्योंकि यह अधिक ध्वनिवैज्ञानिक है। अपेक्षाकृत निष्क्रिय मुखावयव स्थान होते हैं तथा सक्रिय (गतिशील) मुखावयव करण। अतः हनुमूल तथा दन्तमूल इत्यादि अवयव अपेक्षाकृत निष्क्रिय होने से स्थान हैं तथा जिह्वा-मूल इत्यादि अवयव सक्रिय होने से करण हैं।

२. ऊपर वाले ओष्ठ की अपेक्षा अधिक गतिशील होने से नीचे वाले ओष्ठ—अधरोष्ठ को करण माना गया है।

३. वा० प्रा० १।८४ में जबड़े के मध्य भाग को अवर्ण का करण कहा गया है तथा च० अ० में कण्ठ के निचले हिस्से को करण कहा गया है। वा० प्रा० १।८१ में दाँतों के अग्रभाग को वकार का करण माना गया है।

जिह्वामूल—क्, ख्, ग्, घ्, ङ् तथा ≍क् का करण जिह्वामूल है। इन वर्णों का उच्चारण करते समय जिह्वामूल से हनुमूल में स्पर्श किया जाता है।[1] जिह्वामूलीय वर्णों का उच्चारण करते समय दो क्रियाएँ होती हैं—(१) जिह्वा का मूल ऊपर उठकर हनुमूल (कोमल तालु) का स्पर्श करता है तथा (२) हनुमूल ऊपर उठकर नासिकाविवररूप मार्ग को अवरुद्ध कर देता है।

जिह्वामध्य – इ, ई, ई३, ए, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्, य् तथा श्—इन वर्णों का करण जिह्वा का मध्यभाग है। इन वर्णों का उच्चारण करते समय जिह्वामध्य से तालु पर स्पर्श किया जाता है।

ओष्ठ तथा जिह्वामध्य —ऐ का करण ओष्ठ तथा जिह्वामध्य दोनों है।[2]

प्रतिवेष्टितजिह्वाग्र—ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण् और ष् वर्णों का करण प्रतिवेष्टित (ऊपर की ओर मुड़ा हुआ) जिह्वाग्र है।

जिह्वाग्र—ऋ, ॠ, ऌ, त्, थ्, द्, ध्, न्, और स् इन वर्णों का करण जिह्वाग्र अर्थात् जिह्वा का अगला भाग है।[3]

---

१. जिह्वामूलीय वर्णों के उच्चारण के सन्दर्भ में प्रातिशाख्यकारों में वैमत्य है। ऋ० प्रा० १।४१, वा० प्रा० १।१६५ तथा च० अ० १।२० में जिह्वामूल को इन वर्णों का उच्चारण-स्थान माना गया है। वा० प्रा० १।८३ तथा च० अ० १।२० में हनुमूल को इन वर्णों का करण माना गया है। इसके विपरीत तै० प्रा० में हनुमूल को इन वर्णों का उच्चारण-स्थान तथा जिह्वा-मूल को करण माना गया है। यहाँ पर यह मत विचारणीय है कि मूर्धन्य, तालव्य तथा ओष्ठ्य आदि वर्णों में नीचे वाले अधिक सक्रिय उच्चारणावयवों को करण माना गया है तथा ऊपर वाले अपेक्षाकृत निष्क्रिय अवयवों को स्थान माना गया है अतः जिह्वामूल को करण तथा हनुमूल को स्थान मानना उचित है।

२. वा० प्रा० १।७९ तथा च० अ० १।२१ में ऐ का करण केवल जिह्वामध्य बतलाया गया है, किन्तु तै० प्रा० में इसके लिये दो करणों का विधान किया गया है क्योंकि ऐकार में दो स्वरों अ + इ की उपलब्धि होती है।

३. वा० प्रा० १।७६ में दन्त्य वर्ण ऌ का करण जिह्वाग्र और १।८३ में ऋ, ॠ का करण हनुमूल बतलाया गया है। वा० प्रा० में ऋ और ॠ वर्णों को जिह्वामूलीय वर्ण माना गया है। च० अ० १।२० में ऋ, ॠ, ऌ इन तीनों स्वरों का करण हनुमूल माना गया है।

५

जिह्वाग्रमध्य—र् तथा ल् का करण जिह्वा के अगले भाग का मध्यवर्ती हिस्सा है। रेफ तथा लकार का उच्चारण करते समय जिह्वाग्र के मध्यभाग से दन्तमूल में स्पर्श किया जाता है।[1]

यम तथा नासिक्य वर्णों का करण स्पर्श-वर्णों के वर्ग के अनुसार होता है।[2] इस प्रकार कवर्गीय यम तथा नासिक्य वर्णों का करण जिह्वामूल, चवर्गीय वर्णों का जिह्वामध्य, टवर्गीय वर्णों का प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र, तवर्गीय वर्णों का जिह्वाग्र और पवर्गीय वर्णों का करण अधरोष्ठ है।

## वर्णों के करण की सारिणी

| अधरोष्ठ | जिह्वामूल | जिह्वामध्य | अधरोष्ठ तथा जिह्वामध्य | प्रतिवेष्टित जिह्वाग्र | जिह्वाग्र | जिह्वाग्र-मध्य |
|---|---|---|---|---|---|---|
| अ, आ, आ३ | क्, ख्, ग्, | इ, ई, ई३ | ऐ | ट्, ठ्, ड्, | ऋ, ॠ, लृ, | र् |
| उ, ऊ, ऊ३ | घ्, ङ्, ⁀क्, | ए, च्, छ् | | ढ्, ण्, ष्, | त्, थ्, द्, | |
| ओ, औ | कँ्, खँ्, गँ्, | ज्, झ्, ञ् | | टँ् ठँ् डँ् | ध्, न्, तँ् | |
| प्, फ्, ब् | घँ् | य्, श्, चँ् | | ढँ् | थँ् दँ् धँ् | |
| भ्, म् | | छँ्, जँ्, झँ् | | | | |
| ⁀प्, व् | | | | | | |
| पँ् फँ् बँ् भँ् | | | | | | |

## उच्चारण-काल

मात्रा विचार—प्रत्येक वर्ण के उच्चारण में कुछ न कुछ समय लगता है। इस समय का मापन मात्रा द्वारा किया जाता है। मात्रा समय की वह इकाई

---

१. वा० प्रा० १।७७ में जिह्वा के अग्रभाग को रेफ का करण माना गया है। च० अ० १।२८ में दन्तमूल को रेफ का करण बतलाया गया है। तै० प्रा० में दन्तमूल रेफ का उच्चारण-स्थान है। वा० प्रा० १।७६ तथा च० अ० १।२४ में जिह्वा के अगले भाग को लकार का करण बतलाया गया है।

२. वा० प्रा० में नासिक्य (ह्ँ) का करण ओष्ठ तथा यम-वर्णों का करण नासिका-मूल कहा गया है। च० अ० में नासिक्य वर्णों का करण नासिका को माना गया है। तै० प्रा० में नासिका को नासिक्य वर्णों का स्थान माना गया है।

है जिसके द्वारा वर्णों के उच्चारण में लगे समय का मापन होता है। एक मात्रा काल के विषय में अनेक प्रकार के विधान प्राप्त होते हैं। गार्ग्यगोपालयज्वा ने क्रमशः १।३३, १।३५ और १।३६ के भाष्य में नीलकण्ठ (चाष) की बोली के समय को एक मात्रा काल, कौए (वायस) की बोली के समय को दो मात्रा काल और मयूर की बोली के समय को तीन मात्राकाल माना है। इसी तथ्य का उद्घाटन आचार्य शौनक ने भी ऋ० प्रा० १३।५० में किया है।[1] व्यास शिक्षा के अनुसार चुटकी बजाने में जितना समय लगता है उतने समय को एक मात्रा काल समझना चाहिए।[2] नारदी शिक्षा के अनुसार पलक गिरने में लगने वाला समय एक मात्राकाल होता है।[3]

**उच्चारण-काल के आधार पर स्वरों का विभाजन**—स्वर-वर्णों के उच्चारण में लगने वाले समय के परिमाण के आधार पर तै० प्रा० के स्वरों का तीन श्रेणियों में विभाजन किया जाता है—(१) ह्रस्व (२) दीर्घ तथा (३) प्लुत।

**ह्रस्व**—ऋकार, ऌकार ह्रस्व संज्ञक स्वर हैं।[4] अकार भी ह्रस्व संज्ञक स्वर है[5] तथा उस अकार के समान उच्चारणकाल वाला अर्थात् इकार तथा उकार भी ह्रस्व संज्ञक हैं।[6] साथ ही अनुस्वार वर्ण को भी ह्रस्व संज्ञक माना गया है।[7] इस प्रकार ये स्वर-वर्ण ह्रस्व हैं—अ, इ, उ, ऋ, ऌ।

**दीर्घ**—ह्रस्व स्वर से द्विगुण काल का स्वर दीर्घ[8] होता है।[9] तात्पर्य यह है

---

१. चाषस्तु वदते मात्रां द्विमात्रां वायसोऽब्रवीत्।
शिखी त्रिमात्रो विज्ञेय एष मात्रापरिग्रहः॥ ऋ० प्रा० १३।५०
२. अंगुलीस्फोटनं यावान् तावान् कालस्तु मात्रिकः। व्यास शिक्षा २७।३
३. निमेषकाला मात्रा स्यात्। नारदी शिक्षा श्लोक ८
४. ऋकारल्कारौ ह्रस्वौ। तै० प्रा० १।३१
५. अकारश्च। तै० प्रा० १।३२
६. तेन च समानकालस्वरः। तै० प्रा० १।३३
७. अनुस्वारश्च। तै० प्रा० १।३४
८. बढ़ना अर्थ वाली द्राघृ धातु से दीर्घ शब्द निष्पन्न होता है। ह्रस्वसंज्ञक स्वरों की अपेक्षा अधिक समय लगने के कारण इन्हें दीर्घ कहा जाता है। सभी प्रातिशाख्यों में दीर्घ स्वर का उच्चारण-काल दो मात्रा कहा गया है।
९. द्विस्तावान्दीर्घः। तै० प्रा० १।३५

कि ह्रस्वस्वर का उच्चारण करने में जितने मात्रा-काल का परिमाण लगता है उससे दुगुने मात्रा-काल के परिमाण का उपयोग दीर्घ संज्ञक वर्णों के उच्चारण में लगता है। ये स्वर-वर्ण हैं—आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ और औ।

प्लुत—ह्रस्व स्वर से त्रिगुण काल वाला स्वर प्लुत[१] संज्ञक होता है।[२] तात्पर्य यह है कि ह्रस्व स्वर के उच्चारण-काल में लगने वाले परिमाण के तिगुने परिमाण से प्लुत स्वरों का उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार प्लुत स्वर का उच्चारण तीन मात्रा काल के परिमाण से होता है। ये स्वर केवल तीन हैं—आ३ ई३ तथा ऊ३।

इस प्रकार ह्रस्वस्वर के उच्चारण में एक मात्रा-काल, दीर्घस्वर के उच्चारण में दो मात्रा-काल तथा प्लुत स्वर के उच्चारण में तीन मात्रा-काल का समय लगता है।

स्वरों के उच्चारण काल की सारिणी

| ह्रस्व (एक मात्रा) | दीर्घ (दो मात्रा) | प्लुत (तीन मात्रा) |
|---|---|---|
| अ इ उ ऋ ऌ | आ ई ऊ ॠ<br>ए ऐ ओ औ | आ३ ई३ ऊ३ |

व्यञ्जन का काल—१।३७ में यह विधान किया गया है कि ह्रस्व स्वर के उच्चारण में लगनें वाले काल का आधा अर्थात् आधी मात्रा काल का परिमाण

१. गति करना तथा लम्बा करना अर्थ वाली प्लु धातु से प्लुत शब्द निष्पन्न होता है। आ३ ई३ तथा ऊ३ इसलिए प्लुत कहे जाते हैं क्योंकि ये स्वर ह्रस्व तथा दीर्घ की अपेक्षा अधिक लम्बे (तीन मात्राओं वाले) होते हैं। ऋ० तं० १।४४ में प्लुत के लिए वृद्ध संज्ञा प्रयुक्त हुई है। प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में प्लुत स्वरों की संख्या के विषय में मतभेद है। ऋ० प्रा० में केवल ई३ प्लुत संज्ञक माना गया है। वा० प्रा० में सभी स्वरों के प्लुत रूपों का ग्रहण किया गया है।

२. त्रिः प्लुतः। तै० प्रा० १।३६

व्यञ्जन वर्णों को उच्चारित करने में लगता है।[1] तात्पर्य यह है कि व्यञ्जन वर्ण ह्रस्व स्वर से आधे समय में उच्चारित होता है।[2]

**वर्णों के स्वरूप में भिन्नता**—सभी वर्णों की उत्पत्ति में वायु ही मूलकारण है। निःश्वास द्वारा फेफड़े से निकली हुई वायु से ही सभी वर्णों का उच्चारण होता है फिर भी उनके श्रूयमाण स्वरूप में भेद हो जाता है। अनुप्रदान, संसर्ग, स्थान, करणविन्यय तथा उच्चारण-काल के कारण उनके स्वरूप में यह भेद होता है। इसी तथ्य का उद्घाटन तैत्तिरीयप्रातिशाख्यकार ने भी किया है।[3]

**अनुप्रदान**—बाह्य-प्रयत्न को अनुप्रदान कहा जाता है।[4] अघोष तथा सघोष ( घोषवत् ) वर्णों के उच्चार्यमाण स्वरूप में भेद अनुप्रदान के कारण ही होता है। यथा—वर्गों के प्रथम स्पर्श तथा तृतीय स्पर्श में भेद का कारण अनुप्रदान ही है। इस प्रकार क का ग से, च का ज से, ट का ड से, त का द से और प का ब से भिन्नता का कारण अनुप्रदान ही है। वर्गों के प्रथम स्पर्श विवार अनुप्रदान से तथा तृतीय स्पर्श संवार अनुप्रदान से उच्चरित होते हैं। इसी प्रकार अनुप्रदान के ही कारण वर्गों के द्वितीय स्पर्श का चतुर्थ स्पर्श से भेद होता है। वर्गों का द्वितीय स्पर्श विवार तथा चतुर्थ स्पर्श संवार अनुप्रदान से उच्चरित होता है जिससे ख का घ से, छ का झ से, ठ का ढ से, थ का ध से और फ का भ से पृथक् श्रवण होता है।

**संसर्ग**—संसर्ग का अर्थ है संश्लेष। वर्णों के उच्चार्यमाण स्वरूप में भिन्नता का दूसरा कारण संसर्ग है। अल्पप्राण तथा महाप्राण स्पर्शों में भेद संसर्ग के कारण होता है। अल्पप्राण स्पर्शों में ऊष्म-वर्णों का संश्लेष होने से महाप्राण स्पर्श उच्चरित होते हैं। अल्पप्राण स्पर्शों में तत्स्थानीय ऊष्म-वर्णों का संश्लेष होने पर वे महाप्राण उच्चरित होते हैं। इसलिए महाप्राण वर्णों को सोष्मन् भी

---

१. ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम्। तै० प्रा० १।३७। च० अ० १।६० में व्यञ्जन का काल एक मात्रा कहा गया है।

२. व्यञ्जनं ह्रस्वार्धतुल्यकालमर्धमात्राकालं भवति। तै० प्रा० १।३७ पर वै० भा०।

३. अनुप्रदानात्संसर्गात्स्थानकरणविन्ययात्। जायते वर्णवैशेष्यं परीमाणाच्च पञ्चमादिति॥ तै० प्रा० २३।२

४. द्रष्टव्य पृष्ठ २९-३५

कहा जाता है। 'सोष्मन्' का अर्थ है ऊष्म-वर्णों के सहित। अघोष अल्पप्राण स्पर्श ( वर्गों के प्रथम स्पर्श ) में तत्स्थानीय ऊष्म-वर्ण का संसर्गहोने पर वह अघोष महाप्राण ( द्वितीय-स्पर्श ) उच्चरित होता है। इसी प्रकार सघोष अल्पप्राण ( तृतीय ) स्पर्श में तत्स्थानीय सघोष ऊष्म-वर्ण का संसर्ग होने पर वह सघोषमहाप्राण (चतुर्थ स्पर्श) उच्चरित होता है। यथा — क तथा ग में जिह्वामूलीय के संसर्ग से क्रमशः ख तथा घ का उच्चारण होता है, च तथा ज में तत्स्थानीय श् के संसर्ग से क्रमशः छ तथा झ का श्रवण होता है। ट तथा ड में तत्स्थानीय ष् के संसर्ग से क्रमशः ठ तथा ढ का उच्चारण होता है। त तथा द में तत्स्थानीय स् के संसर्ग से क्रमशः थ तथा ध का श्रवण होता है और प तथा ब में तत्स्थानीय उपध्मानीय के संसर्ग से क्रमशः फ तथा भ का उच्चारण होता है। इस सन्दर्भ में कतिपय आचार्य हकार का संसर्ग सोष्मता का कारण मानते हैं तथा कुछ आचार्य इस अल्पप्राणता तथा महाप्राणता में अकार का संसर्ग स्वीकार करते हैं। वर्गों के चतुर्थ तथा पञ्चम वर्णों में भेद का कारण नासिक्य ध्वनि है। चतुर्थ स्पर्श का नासिक्य से संसर्ग होने पर पञ्चम स्पर्श श्रुतिगोचर होता है।

**स्थान**—कतिपय वर्णों में वैशिष्ट्य का कारण स्थान होता है। स्थान से ही कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्गों के स्पर्शों में परस्पर भिन्नता का श्रवण होता है। क च ट त प में परस्पर भेद का कारण स्थान ही है क्योंकि क का स्थान हनुमूल, च का तालु, ट का मूर्धा, त का दन्त और प का ओष्ठ होने के कारण इन वर्णों में परस्पर भेद हो जाता है। इसी प्रकार ख छ ठ थ फ, ग ज ड द ब, घ झ ढ ध भ, और ङ ञ ण न म में भी परस्पर भेद का कारण स्थान ही है। अन्तःस्था वर्णों में य का स्थान तालु, रेफ का प्रत्यग्दन्तमूल, ल का दन्तमूल और व का ओष्ठान्त होने से उच्चारण में परस्पर भेद हो जाता है। इसी प्रकार ऊष्म-वर्णों में भी परस्पर भेद स्थान के कारण ही होता है। अवर्ण, इवर्ण, उवर्ण, ऋवर्ण, लृ, ए, ऐ, ओ, औ में भी परस्पर भेद का कारण स्थान ही है।

**करणविन्यय**—करणविन्यय का अर्थ है—करण द्वारा स्पर्श का प्रकार। वस्तुतः मुख में आई श्वास अथवा नाद नामक वायु मुख में स्थान पर करण के विभिन्न प्रकार से स्पर्श द्वारा विकृत होकर विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति में मूलकारण होता है। स्थान पर करण के स्पर्श में यह विशेष आभ्यन्तर प्रयत्न से

होता है। इस प्रकार इस आभ्यन्तर प्रयत्न के कारण भी वर्णों के उच्चारण में भेद हो जाता है। वर्गों के प्रथम स्पर्श तथा तत्सस्थानीय ऊष्म-वर्णों में भेद होने का कारण करणविन्यय है। इसी प्रकार वर्गों के तृतीय स्पर्श तथा सस्थानीय अन्तस्था और स्वरों में भेद भी इसी कारण हो जाता है।

उच्चारणकाल—समान स्थानीय स्वर वर्णों में परस्पर भेद का कारण उच्चारण काल है। इसी के कारण स्वरों में ह्रस्व, दीर्घ तथा प्लुत रूपों का उच्चारण-भेद होता है। जैसे अ, आ और आ३ का परस्पर भेद इसी कारण से होता है। इसी प्रकार अन्य सस्थानीय स्वरों को भी समझ लेना चाहिए।

वर्गों के प्रथम स्पर्श तथा तत्स्थानीय ऊष्म-वर्णों में भेद होने का कारण करणविन्यय है। इसी प्रकार वर्गों के तृतीय स्पर्श तथा सस्थानीय अन्तस्था और स्वरों में भेद का कारण भी करणविन्यय है।

## वर्णों के स्वरूप विषयक विशेष

पूर्वोक्त वर्णों में से कतिपय वर्णों के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये यहाँ पर विशेष विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

**ए ऐ ओ तथा औ का सन्ध्यक्षरत्व**—ए, ऐ, ओ तथा औ के लिए तै० प्रा० में सूत्रकार ने कहीं भी सन्ध्यक्षर संज्ञा का विधान नहीं किया है।[1] सन्ध्यक्षर शब्द का अर्थ है—वह अक्षर जो सन्धि के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से ए, ऐ तथा ओ, औ भी सन्ध्यक्षर वर्ण हैं। तै० प्रा० के अनेक सूत्रों तथा उन पर लिखे गये भाष्यों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ए, ऐ और ओ तथा औ वर्ण दो स्वरों की सन्धि से उत्पन्न हुए हैं।[2]

---

१. अन्य प्रातिशाख्यों में इन चारो स्वरों के लिए सन्ध्यक्षर संज्ञा विहित है। द्रष्टव्य ऋ० प्रा० १/२, वा० प्रा० १/४५, च० अ० १/४० तथा ऋ० तं० १/२

२. अकारार्धमैकारौकारयोरादिः। तै० प्रा० २/२६
अकारस्यार्धमकारार्धम्। तदैकारस्य च औकारस्य च आद्यवयवो भवति। वै० भा०
इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः। तै० प्रा० २/२८
अध्यर्धमात्र इकारः पूर्वस्य ऐकारस्य शेषो भवति। वै० भा०
उकारस्तूत्तरस्य। तै० प्रा० २/२९

**एकार का सन्ध्यक्षरत्व**—एकार के सन्ध्यक्षरत्व के विषय में सूत्रकार ने तो कोई विधान नहीं किया है किन्तु त्रिभाष्यरत्नकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि २।२२ के विधान-इवर्ण के उच्चारण में जिह्वामध्य को तालु के समीप में ले जाना चाहिए—के पश्चात् २।२३ में, एकार का उच्चारण करने के लिये समान विधान होने का कारण यह है कि एकार में अकार मिला हुआ है और इस प्रकार अकार को एकार का एक भाग होने से जिह्वामध्य के किनारे से एकार का उच्चारण करना चाहिए। इसी विशेषता से युक्त होने के कारण एकार के उच्चारण में जिह्वामध्य को तालु के उतना समीप नहीं ले जाया जाता जितना इवर्ण के उच्चारण में ले जाया जाता है।[1]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि एकार सन्ध्यक्षर है जिसमें अकार तथा इकार मिले हुए हैं।

**ऐकार का सन्ध्यक्षरत्व**—सूत्रकार ने ऐकार के सन्दर्भ में कहा है कि इसका आदि अंश अकार का आधा होता है।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि ऐकार का प्रथम भाग अकार है और वह आधी मात्रा काल के समान होता है। ऐकार का अवशिष्ट अंश डेढ़ गुणा इकार होता है[3] अर्थात् ऐ ( दो मात्रा ) = अ (½ मात्रा) + इ (१½ मात्रा)। इस विवरण से ऐकार का सन्ध्यक्षर होना स्पष्ट हो जाता है।

**ओकार का सन्ध्यक्षरत्व**—एकार की भाँति ओकार के भी सन्ध्यक्षरत्व के विषय में सूत्रकार ने कोई विधान नहीं किया है किन्तु २।१३ के भाष्य में त्रिभाष्य-रत्नकार ने लिखा है कि ओकार का उच्चारण करते समय दोनों जबड़े अधिक दूर

---

. उकारोऽध्यर्धमात्रः औकारस्य शेषः। वै० भा०
अवर्णनात्युपसंहृतमोष्ठहनु नातिव्यस्तम्। ओकारे च। तै० प्रा० २।१२-१३
तालौजिह्वामध्यमिवर्णे। एकारे च। तै० प्रा० २।२२-२३

१. अकारमिश्रितत्वादेकारस्य। अकारस्य च तदेकदेशत्वाज्जिह्वामध्यान्तनिष्पाद्यत्वम्। न तु स्वतः। अत एव सोपाधिकत्वान्न्यूनत्वोपपत्तिः।
तै० प्रा० २।२३ पर त्रि० भा०।

२. अकारार्द्धमैकारौकारयोरादिः। तै० प्रा० २।२६

३. इकारोऽध्यर्धः पूर्वस्य शेषः। तै० प्रा० २।२८

नहीं रहते हैं।[१] २।१२ में यह विधान किया गया है कि अवर्ण का उच्चारण करते समय ओष्ठ तथा जबड़े न तो अधिक समीप में होते हैं और न अधिक दूर होते हैं।[२] २।१४ के अनुसार ओकार के उच्चारण में ओष्ठ अधिक पास में होते हैं।[३] २।२४ के अनुसार उवर्ण का उच्चारण करते समय भी ओष्ठों को एक दूसरे के समीप में लाया जाता हैं।[४] इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि ओकार के उच्चारण में आधा कार्य अवर्ण की भाँति तथा आधा कार्य उवर्ण की भाँति होता है। अतः ओकार का अकार तथा उकार का मिश्रित रूप होना निश्चित हो जाता है। इस प्रकार ओकार सन्ध्यक्षर है।

**औकार का सन्ध्यक्षरत्व**—२।२६ में ऐकार तथा औकार के सन्दर्भ में बतलाया गया है कि ऐकार तथा औकार का प्रारंभिक अंश अकार का आधा होता है।[५] इससे ज्ञात होता है कि औकार का भी प्रारंभिक तत्त्व अ है जो आधी मात्रा-काल के तुल्य होता है। २।२९ के भाष्य में भाष्यकारों ने सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि औकार का परवर्ती अवशिष्ट भाग डेढ़ गुना (१½) उकार होता है।[६] अतः औ ( २ मात्रा ) = अ (½ मात्रा) + उ (१½ मात्रा)। इस विवरण के आधार पर औकार का सन्ध्यक्षर वर्ण होना स्पष्ट हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि ए, ऐ, ओ तथा औ—इन चारो

---

१. 'ओकारे' उच्चार्यमाणे हनू अतिव्यस्ते न भवतः।
तै० प्रा० २।१३ पर त्रि० भा०।

२. अवर्णे नात्युपसंहृतमोष्ठहनू नातिव्यस्तम्। तै० प्रा० २।१२

३. ओष्ठौ तूपसंहृततरौ। तै० प्रा० २।१४

४. ओष्ठोपसंहार उवर्णे। तै० प्रा० २।२४

५. अकारार्द्धमैकारौकारयोरादिः। तै० प्रा० २।२६

६. उकारस्तूत्तरस्य। तै० प्रा० २।२९
अध्यर्ध उकार औकारशेषो भवति। तै० प्रा० २।२९ पर त्रि० भा०।
उकारोऽध्यर्धकालसमः। उत्तरस्यौकारस्यार्धशेषोभवति। तै० प्रा० २।२९ पर मा० भा०।

स्वर-वर्णों की निष्पत्ति दो स्वरों की सन्धि से हुई है। इसीलिये प्रातिशाख्यों में इन्हें सन्ध्यक्षर कहा गया है।[1]

एकार तथा ओकार का उच्चारण-वैशिष्ट्य—उच्चारण की दृष्टि से ए तथा ओ समानाक्षर के समान हैं। प्रातिशाख्यकाल में ए तथा ओ का उच्चारण समानाक्षर की भाँति होने लगा था। संभव है इसी कारण से तै० प्रा० में एकार तथा ओकार के विभाग का विधान नहीं हुआ है। विभिन्न प्रातिशाख्य-ग्रन्थों के विधानों[2] से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रातिशाख्यकाल में एकार तथा ओकार का उच्चारण एक वर्ण के समान होता था अर्थात् समानाक्षर की

---

१. ऋ० प्रा० १।२ के भाष्य में उवट ने स्पष्ट रूप से कहा है—अकारस्य इकारेण उकारेण एकारेण ओकारेण च सह संधौ यान्यक्षराणि निष्पद्यन्ते तानि तथोच्यन्ते। अर्थात् अकार की इकार, उकार, एकार तथा ओकार के साथ संधि होने पर क्रमशः एकार, ओकार, ऐकार तथा औकार की निष्पत्ति होती है।

२. ऋ० प्रा० १३।४० के अनुसार अ और इ तथा अ और उ की मात्राओं के मिल जाने से पहले वाले दो अर्थात् ए तथा ओ, ऐ तथा औ से पृथक् सुनाई पड़ते हैं। इसकी व्याख्या में भाष्यकार उवट ने कहा है कि अ और इ तथा अ और उ की मात्राओं के मिल जाने से ए और ओ पृथक् सुनाई नहीं पड़ते हैं अर्थात् इनमें अ और इ तथा अ और उ का श्रवण पृथक्-पृथक् नहीं होता है। जल तथा दूध की भाँति मिश्रित हो जाने से यह पता नहीं चलता है कि कहाँ अ समाप्त होता है तथा कहाँ से इ अथवा उ प्रारंभ होता है। यही कारण है कि ए और ओ तथा ऐ और औ के श्रूयमाण स्वरूप में भेद है।

वा० प्रा० १।७३ में भी एकार तथा ओकार को एक वर्ण के समान मानकर इनके अवयवात्मक तत्वों का विधान न करके केवल ऐकार तथा औकार के स्वरूप को बतलाते हुए कहा गया है कि ऐकार और औकार में पूर्ववर्ती मात्रा कण्ठ्य (अकार की) है तथा परवर्ती मात्रा क्रमशः तालव्य और ओष्ठ्य (इ तथा उ) की है। च० अ० १।४०-४१ के अनुसार, सन्ध्यक्षर (ए, ओ, ऐ और औ) दो स्वरों के मेल से उत्पन्न होते हैं तथा इनका उच्चारण एक वर्ण के समान होता है। परन्तु स्थान की दृष्टि से ऐकार तथा औकार एकवर्ण के सदृश उच्चरित नहीं होते हैं।

भाँति होता था किन्तु ऐकार तथा औकार का उच्चारण एक वर्ण के समान नहीं होता था प्रत्युत सन्ध्यक्षर के रूप में होता था क्योंकि उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वरों में मात्रा-परिमाण की भिन्नता थी। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रातिशाख्य-ग्रन्थ ए तथा ओ को सन्ध्यक्षर नहीं मानते थे। मूलतः ये चारो स्वर सन्ध्यक्षर हैं। यद्यपि तै० प्रा० में एकार तथा ओकार के विभाग का विधान नहीं किया गया है तथापि ऐकार और औकार की भाँति एकार और ओकार भी सन्ध्यक्षर हैं। सामान्य व्याकरण भी यही बतलाता है कि अ + इ से ए तथा अ + उ से ओ बना है। अतः ए, ऐ, ओ तथा औ सन्ध्यक्षर हैं।

अनुस्वार —तै० प्रा० में वर्णमाला के आदि में स्थित सोलह वर्णों को स्वर-संज्ञक कहा गया है[1] तथा स्वर-वर्णों से अवशिष्ट सम्पूर्ण वर्ण-राशि को व्यञ्जन संज्ञक कहा गया है।[2] यतः सोलह स्वर-वर्णों के अन्तर्गत अनुस्वार का ग्रहण नहीं किया गया है अतः अनुस्वार का व्यञ्जन होना निश्चित हो जाता है। तै० प्रा० के आठ सूत्रों[3] में अनुस्वार शब्द का व्यवहार किया गया है। इन सभी सूत्रों के सम्यक् अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुस्वार का प्रयोग वर्ण-विशेष के रूप में किया गया है। त्रिभाष्यरत्नाकर ने व्यञ्जन वर्णों की गणना करते समय १|१ के भाष्य में अनुस्वार के स्वरूप का इस प्रकार कथन किया है—कालविशेष पर आश्रित होने के कारण अनुस्वार गुणी ( वर्णविशेष ) है अनुनासिक के सदृश गुण नहीं है।[4] इसी प्रकार १|३४ के भाष्य में त्रिभाष्यरत्नकार ने कहा है—अनुस्वार तथा स्वरभक्ति पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग होते हैं। २१|६ के द्वारा स्वर के प्रति अङ्गता का विधान होने से अनुस्वार का व्यञ्जनत्व सिद्ध है।[5]

---

१. षोडशादितः स्वराः। तै० प्रा० १|५

२. शेषो व्यञ्जनानि। तै० प्रा० १|६

३. द्रष्टव्य तै० प्रा० १|१८, ३४, २|१९, ३०, १५|३, १७|१, ३, २१|६।

४. कालविशेषाश्रयत्वादसौ धर्मी न त्वनुनासिकवद्धर्मः। तै० प्रा० १|१ पर त्रि० भा०

५. भवत्यनुस्वारश्च ह्रस्वसंज्ञः।.........अनुस्वारः स्वरभक्तिश्च (२१|६) इति स्वरप्रत्यङ्गत्वविधानात् अनुस्वारस्य व्यञ्जनत्वम्। तै० प्रा० १ ३४ पर त्रि० भा०।

तै०प्रा०१।३४ में अनुस्वार का उच्चारण-काल एक मात्रा कहा गया है।[1] इस सूत्र पर भाष्यकारों ने विचार तो किया है किन्तु अनुस्वार के स्वरूप को स्पष्ट नहीं किया है जिसके कारण अनुस्वार के व्यञ्जन होने में सन्देह उत्पन्न होने लगता है। कारण यह है कि १।३७ में व्यञ्जन को आधी मात्रा काल वाला कहा गया है।[2] अतः व्यञ्जन होने के कारण अनुस्वार का काल भी आधी मात्रा होना चाहिए किन्तु ह्रस्व स्वर वर्ण की भाँति अनुस्वार का काल एक मात्रा है। अतः अनुस्वार स्वर है या व्यञ्जन—इस विषय में सन्देह उत्पन्न होता है। इस सन्देह का निवारण २१।६ से हो जाता है। इसके अनुसार अनुस्वार पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है।[3] निरपेक्ष होने के कारण एक स्वर दूसरे स्वर का अङ्ग नहीं हो सकता है। इस अवस्था में यदि अनुस्वार स्वर होता तो उसके अङ्गत्व-विधान की आवश्यकता न होती क्योंकि स्वर-वर्ण बिना किसी सहायता के स्वयं उच्चरित किये जाते हैं। व्यञ्जन वर्ण स्वर वर्ण का अङ्ग होता है।[4] त्रिभाष्यरत्नकार ने २१।१ पर भाष्य में कहा है कि व्यञ्जन सापेक्ष होता है तथा अकेला टिक नहीं सकता है।[5] यतः अनुस्वार अकेला टिक नहीं सकता है तथा पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है, अतः अनुस्वार व्यञ्जन है—यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है।

अनुस्वार का उच्चारण नासिका-विवर से किया जाता है।[6] कतिपय आचार्यों के मतानुसार अनुस्वार का उच्चारण करते समय दोनों जबड़े अत्यन्त समीप में रहते हैं।[7] २।३० में अनुस्वार के लिये अनुनासिक संज्ञा प्रयुक्त हुई है।[8] अनुनासिक वर्ण का उच्चारण नासिका-विवर से होता है। २।३० पर भाष्य

१. अनुस्वारश्च। तै० प्रा० १।३४
२. ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम्। तै० प्रा० १।३७
३. अनुस्वारस्स्वरभक्तिश्च। तै० प्रा० २१।६
४. व्यञ्जनं स्वराङ्गम्। तै० प्रा० २१।१
५. व्यञ्जनं केवलमवस्थातुं न शक्नोति। किन्तु सापेक्षः। तै० प्रा० २१।१ त्रि० भा०
६. नासिकाविवरणादानुनासिक्यः। तै० प्रा० २।५२
७. उपसंहृततरे च जिह्वाग्रमृकारर्कारल्कारेषु बर्स्वेषूपसꣳहरति। एकेषामनुस्वारस्वरभक्त्योश्च। तै० प्रा० २।१८-१९।
८. अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः। तै० प्रा० २।३०

में सोमयार्य ने कहा है कि नासिका का अनुगमन करने के कारण अनुनासिक कहलाते हैं।[१] तात्पर्य यह है कि नासिका से उच्चरित होने के कारण अनुस्वार अनुनासिक कहलाता है। अनुस्वार में अनुनासिक गुण होने की पुष्टि सूत्रकार द्वारा उद्धृत शैत्यायन तथा भारद्वाज ऋषियों के मतों से भी होती है। शैत्यायन के मत से अनुस्वार में अनुनासिक गुण तीव्र होता है[२] जब कि भारद्वाज ऋषि के मत से अनुस्वार में अनुनासिक गुण सूक्ष्मतम होता है।[३]

अनुनासिक - तै० प्रा० के अनेक सूत्रों[४] में अनुनासिक शब्द का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः अनुनासिक शब्द का प्रयोग तीन प्रकार के अर्थों में हुआ है—(१) वर्गों के अन्तिम स्पर्श-वर्ण यथा—ङ्, ञ्, ण्, न् तथा म्। २।३० के अनुसार, अनुस्वार तथा वर्गों के पञ्चम स्पर्श अनुनासिक होते हैं।[५] (२) अनेक सूत्रों[६] में अनुनासिक शब्द का प्रयोग स्वर-वर्णों की विशेषता बतलाने के लिए किया गया है। ५।३१ के विधान के अनुसार उत्तम संज्ञक नकार अथवा मकार का अभाव होने पर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है यह आत्रेय का मत है।[७] १०।११ में यह विधान किया गया है कि दो स्वरों की जिस सन्धि में पूर्ववर्ती या परवर्ती स्वर अनुनासिक हो तो वहाँ सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न अक्षर भी अनुनासिक होता है।[८] १५।१ में कहा गया है कि नकार का रेफ होने पर, ऊष्म-वर्ण होने पर, यकार होने पर, उस यकार का लोप होने पर और मकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है।[९] (३) अन्तःस्था वर्णों की विशेषता बतलाने के

---

१. नासिकामनुवर्तन्त इत्यनुनासिकाः : तै० प्रा० २।३० पर त्रि० भा०।
२. तीव्रतरमानुनासिक्यमनुस्वारोत्तमेष्विति शैत्यायनः। तै० प्रा० १७।१
३. अनुस्वारेऽणिव्रति भारद्वाजः। तै० प्रा० १७।३
४. द्रष्टव्य २।३०, ५।२६, २७, २८, ३१, १०।११, १५।१, ६, २२।१४।
५. अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः। तै० प्रा० २।३०
६. द्रष्टव्य ५।३१, १०।११; १५।१, ६।
७. उत्तमलभावात् पूर्वोऽनुनासिक इत्यात्रेयः। तै० प्रा० ५।३१
८. अनुनासिके अनुनासिकम्। तै० प्रा० १०।११
९. नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः। तै० प्रा० १५।१

लिए। ५।२६ के अनुसार लकार बाद में होने पर नकार अनुनासिक लकार हो जाता है।[१] ५।२८ में कहा गया है कि अन्तःस्था वर्ण बाद में होने पर मकार सवर्ण अनुनासिक हो जाता है अर्थात् अनुनासिक अन्तःस्था हो जाता है।[२] इस प्रकार इन दोनों सूत्रों में अनुनासिक शब्द का ग्रहण अन्तःस्था वर्णों के विशेषण के रूप में किया गया है। ५।२७ के अनुसार, स्पर्श-वर्ण बाद में होने पर मकार उस स्पर्श के समान स्थान वाले अनुनासिक को प्राप्त कर लेता है।[3] इन तीन अर्थों के अतिरिक्त, २२।१४ में गुरु संज्ञा का विधान करते हुए भी अनुनासिक संज्ञा का प्रयोग किया गया है।[४]

**अनुस्वार तथा अनुनासिक में अन्तर**—तै० प्रा० में अनुस्वार को एक वर्ण-विशेष के रूप में स्वीकार किया गया है तथा अनुनासिक को वर्णों का धर्म माना गया है। २।३० के अनुसार अनुस्वार तथा वर्गों के अन्तिम स्पर्श वर्ण अनुनासिक होते हैं।[५] इससे यह ज्ञात होता है कि अनुनासिकत्व वर्णों का गुण है। इसी विचार को ध्यान में रखते हुए १।१ के भाष्य में त्रिभाष्यरत्नकार ने कहा है कि काल-विशेष पर आधृत होने के कारण अनुस्वार धर्मी (वर्ण-विशेष) है, अनुनासिक के समान धर्म नहीं है।[६] अनुनासिक धर्म से पृथक् धर्मी अनुस्वार का पृथक् वर्ण होना इस नियम से भी ज्ञात होता है कि अनुस्वार का उच्चारण-काल एक मात्रा है।[७] यदि अनुनासिक भी वर्ण विशेष होता तो उसके विषय में भी उच्चारण-काल का विधान अवश्य किया गया होता। अनुस्वार अपने पूर्ववर्ती स्वर का ही अङ्ग होता है।[८] अनुस्वार की भाँति अनुनासिक की स्वर

---

१. नकारोऽनुनासिकम्। तै० प्रा० ५।२६

२. अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम्। तै० प्रा० ५।२८

३. मकारस्पर्शपरस्तस्य सस्थानमनुनासिकम्। तै० प्रा० ५।२७

४. ...संयोगपूर्वं च तथाऽनुनासिकम्। एतानि सर्वाणि गुरूणि विद्यात्... । तै० प्रा० २२।१४।

५. अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः। तै० प्रा० २।३०

६. ... कालविशेषाश्रयत्वादसौ धर्मी न त्वनुनासिकवद्धर्मः.... । तै० प्रा० १।१ पर त्रि० भा०।

७. अनुस्वारश्च। तै० प्रा० १।३४

८. अनुस्वारस्स्वरभक्तिश्च। तै० प्रा० २१।६

के प्रति अङ्गता का विधान नहीं किया गया है। कोई भी वर्ण अनुनासिक हो सकता है अर्थात् अनुनासिकत्व रूप धर्म से युक्त हो सकता है यथा—यँ, वँ, लँ अनुनासिक अन्तःस्था वर्ण हैं तथा अँ, आँ, इँ इत्यादि अनुनासिक स्वर-वर्ण हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनुस्वार एक स्वतन्त्र वर्ण है तथा अनुनासिक (अर्थात् अनुनासिकत्व) वर्णों का गुण है।[1]

नासिक्य -तै० प्रा० में नासिक्य ध्वनि तथा यम ध्वनि के लिये नासिक्य संज्ञा का व्यवहार किया गया है। माहिषेय तथा त्रिभाष्यरत्नकार ने नासिक्य तथा यम को पृथक्-पृथक् ध्वनि के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु वैदिकाभरणकार नासिक्य तथा यम वर्णों का पृथक्-पृथक् ग्रहण न करके दोनों को एक ही ध्वनि मानते हैं तथा नासिक्य वर्णों की संख्या पाँच बतलाते हैं। १।१ पर भाष्य में सोमयार्य का कथन है कि नासिक्य वर्ण का उच्चारण नासिका से किया जाता है—इस नियम से नासिक्य ध्वनि को रङ्ग कहा गया है।[2] २१।१२-१३ में कुछ आचार्यों के मतानुसार नासिक्य संज्ञा यम के रूप में की गयी है—उत्तम स्पर्श वर्ण बाद में होने पर अनुत्तम स्पर्श से बाद में क्रमानुसार नासिक्यों का आगम होता है। उन नासिक्यों को कुछ आचार्य यम कहते हैं।[3] २१।१४ के अनुसार न्, ण् अथवा म् बाद में होने पर हकार के पश्चात् नासिक्य का आगम होता है।[4] इससे नासिक्य का एक वर्णविशेष होना सिद्ध हो जाता है। तै० प्रा०

---

१. ऋ० प्रा० तथा वा० प्रा० में अनुस्वार के लिये अनुनासिक शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। अ० अ० में अनुस्वार तथा अनुनासिक में कोई भेद नहीं माना गया है। च० अ० में अनुस्वार संज्ञा का प्रयोग नहीं किया गया है तथा नासिका से उच्चरित होने वाली सभी ध्वनियों का समावेश अनुनासिक में ही कर लिया गया है।

२. नासिकाविवरणादानुनासिक्यमिति रङ्ग उक्तः।
तै० प्रा० १।१ पर त्रि० भा०।

३. स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः। तान्यमानेके।
तै० प्रा० २१।१२-१३।

४. हकारान्नणमपरान्नासिक्यम् । तै० प्रा० २१।१४

के कुल छः सूत्रों में नासिक्य संज्ञा का व्यवहार किया गया है।[1] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि नासिक्य एक पृथक् ध्वनि है।[2] २।४९ के अनुसार नासिक्य वर्ण का उच्चारण-स्थान नासिका है।[3]

इस प्रकार तै० प्रा० में वर्णों के उच्चारण से सम्बन्धित विधानों का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन प्राप्त होता है। वर्णोच्चारण में वायु का योगदान सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण होता है। निःश्वास वायु को विभिन्न अवस्थाओं में विकृत करके विभिन्न स्थानों पर उपसंहार करने से विभिन्न वर्णों की उपलब्धि होती है। अनुप्रदानादि मूलकारणों का वर्णोत्पत्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान होता हैं। ध्वनि का अनुप्रदानादि मूलकारणों से रूप-भेद होने पर वर्ण-भेद हो जाता है। इसी से भिन्न-भिन्न वर्णों की उत्पत्ति होती है। दीर्घ ॡ तथा ळकार का तै० सं० में प्रयोग न होने के कारण तै० प्रा० में इन वर्णों के उच्चारण पर विचार नहीं किया गया है। नासिक्य को पृथक् वर्ण माना गया है और उसके स्वरूप पर विचार किया गया है। वर्णों के उच्चारण से सम्बन्धित सूक्ष्म-विधान तै० प्रा० को ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बना देते हैं।

---

१. द्रष्टव्य १।१८, २।४९-५०, २१।८, १२, १४।

२. वा० प्रा० ८।२३ तथा ऋ० तं० २ के अनुसार 'हुं' यह नासिक्य है। च० अ० १।१०० में नासिक्य संज्ञा की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि अनुनासिक स्पर्श बाद में होने पर हकार से बाद में नासिक्य का आगम होता है।

३. नासिक्या नासिकास्थानाः। तै० प्रा० २।४९

## ३ : संयोग-प्रकरण

स्वरभक्ति

यम

द्वित्व

अनन्त्यश्च भवेत्पूर्वो ह्यन्त्यश्च परतो यदि ।
तत्र मध्ये यमस्तिष्ठेद्वर्णः पूर्वंवर्णयोः ।।

नारदीशिक्षा, २।१।८

# संयोग-प्रकरण

संयोग—स्वर से अव्यवहित व्यञ्जनों का मेल संयोग कहलाता है। इस प्रकार जब संहिता में दो या दो से अधिक व्यञ्जन एकत्र आते हैं तो उस स्थल को संयोग कहा जाता है। संयोग में सम्मिलित व्यञ्जन संयुक्त व्यञ्जन कहलाते हैं।

संयोग में कतिपय स्थलों पर व्यञ्जनों के उच्चारण में कुछ न कुछ कठिनाई होती है। उस स्थल पर संयुक्त व्यञ्जनों के उच्चारण में कुछ न कुछ विशेषता आ जाती है, इस विशेषता को संयुक्त व्यञ्जनों का उच्चारण वैशिष्ट्य नाम से अभिहित किया जा सकता है। तै० प्रा० में स्वरभक्ति, यम तथा द्वित्व-इन तीन उच्चारणवैशिष्ट्यों पर विचार हुआ है जिनका विवेचन यहाँ किया जा रहा है—

## स्वरभक्ति

संयोग के कुछ स्थलों पर संयुक्त व्यञ्जनों के उच्चारण में उच्चारण की सुकरता के लिये एक स्वर का आगम हो जाता है जिसे स्वरभक्ति कहते हैं। यद्यपि यह आगम तो प्रायः अल्प या अत्यल्प मात्रा में सर्वत्र संयोग में होता है परन्तु प्रातिशाख्य-ग्रन्थों में स्वरभक्ति का क्षेत्र इतना व्यापक नहीं माना गया है। इन ग्रन्थों में परवर्ती व्यञ्जन के साथ रेफ का संयोग होने पर ही स्वरभक्ति का विधान प्राप्त होता है। रेफ का परवर्ती व्यञ्जन से संयोग होने पर दोनों के मध्य में एक अतिह्रस्वस्वर का आगम होता है। संयोग में इस अतिह्रस्वस्वर को ही स्वरभक्ति कहा गया है।

स्वरभक्ति का स्वरूप—स्वरभक्ति का अर्थ है स्वर का अंश। माहिषेय तथा सोमयार्य के अनुसार स्वर की भक्ति स्वरभक्ति है। भक्ति का अर्थ है—अवयव, एकदेश। रेफ के उच्चारणावयव वाला जो स्वर है उसकी भक्ति होती है। इस रेफ के समान धर्म वाला स्वर ऋकार ही है। क्योंकि रेफ के समान इस ऋकार का उच्चारणावयव जिह्वा का अग्र भाग है और यह र् के समान सुनाई पड़ता है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि यह ऋकार का अवयव होती है। इस व्याख्या से स्पष्ट हो जाता है कि स्वरभक्ति ऋकार का भाग होती है।[1]

---

१. रेफस्य ऊष्मणश्च संयोगे रेफः स्वररूपं भक्तिं भजते। योऽस्य समानकरणः

गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार भक्ति का अर्थ है धर्म। स्वर के समान भक्ति (धर्म) है जिसका वह स्वरभक्ति है। इस प्रकार स्वरभक्ति का अर्थ है—स्वर-धर्म। यह (धर्म) किस स्वर के समान होता है, इसका निवारण करते हुए उनका कथन है कि जो रेफ के सदृशतर ऋकार है उसी के समान यह स्वर-भक्ति होती है।[1]

स्वरभक्ति में स्वर-वर्ण का अंश बतलाने के लिये त्रिभाष्यरत्नकार ने वररुचि के मत को उद्धृत करते हुए कहा है कि ऋकार के आदि में अणुमात्रा[2] (¼ भाग) स्वर की है, मध्य में रेफ की आधी मात्रा (½) है तथा अन्त में अणु मात्रा (¼ भाग) स्वर की है।[3] अभिप्राय यह है कि एक मात्राकाल वाले ऋकार के आदि वाले स्वर का अंश अणु (¼ = चौथाई) मात्राकाल वाला है।

---

स्वरः तद्भक्तिर्भवितुमर्हति। ऋकारश्चास्य जिह्वाग्रकरणत्वेन सधर्मा। भक्तिरवयव एकदेश इत्यनर्थान्तरम्। एतदुक्तं भवति-ऋकारावयवो भवतीति यावत्। ऋकारस्य तु आदितः स्वरपरः पादमात्रः अन्ते वा मध्यमे रेफोऽर्ध-मात्रः। वै० प्रा० २१।१५ पर मा० भा०।

स्वरस्य भक्तिः स्वरभक्तिः। भक्तिः भागः अवयवः एकदेश इति यावत्। योऽस्य रेफस्य समानकरणः स्वरस्तद्भक्तिः स्यात्। ऋकारश्चास्य जिह्वाग्रकरणत्वेन रश्रुत्या च समानधर्मः। एतदुक्तं भवति-ऋकारस्यावयवो भवतीत्यर्थः। तै० प्रा० २१।१५ पर त्रि० भा०।

१. भज्यत इति भक्तिः, धर्मः। स्वरस्येव भक्तिर्यस्य स तथोक्तः। स्वरधर्मा भवतीति यावत्। केनास्य स्वरेण साधर्म्यं विधीयते? योऽस्य सदृशतरः ऋकारः। वै० प्रा० २१।१५ पर वै० भा०

२. त्रिभाष्यरत्नकार ने अणु शब्द की व्याख्या करते हुए शंभुशिक्षा के ४६ वें श्लोक को उद्धृत करके कहा है कि यह जो अणु मात्रा है वह इन्द्रिय का विषय नहीं है, विद्वानों के द्वारा ऐसा कहा जाता है। चार अणु मात्राओं से एक मात्रा बनती है—

इन्द्रियाविषयो योऽसावणुरित्युच्यते बुधैः।
चतुर्भिरणुभिर्मात्रापरिमाणमिति स्मृतम्॥

तै० प्रा० २१।१५ पर त्रि० भा०।

३. स्वरभक्तिस्वरूपं तु विस्पष्टं व्याचष्टे वररुचिः। ऋकारादिरणुमात्रा रेफोऽर्धमात्रा मध्ये शेषा-स्वरभक्तिरिति। तै०प्रा० २१।१५ पर त्रि० भा०।

मध्य में स्थित रेफ आधी मात्राकाल (½) वाला है तथा अन्त में स्थित स्वर का भाग अणु (¼=चौथाई) मात्रा काल वाला है। यह ऋकार का स्वरूप है। ऋकार के मध्य भाग में स्थित रेफ की आधी मात्रा विभक्त होने पर वे दोनों भाग—पूर्ववर्ती तथा परवर्ती प्रत्येक अणुमात्रा (¼ स्वर भाग) के साथ स्वरभक्ति नाम को प्राप्त करते हैं।[1]

गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार स्वरभक्ति होने पर रेफ का ऊष्म-वर्ण से विश्लेष (=अलगाव) हो जाता है। अतः रेफ का उच्चारण एक मात्राकाल से अल्पकाल में नहीं हो सकता है। रेफ और ऊष्म इन दोनों व्यञ्जनों के मध्य में विराम भी नहीं होता। इसलिये रेफ का उच्चारण करने के लिये एक मात्राकाल की आवश्यकता होती है।[2] इससे स्पष्ट है कि रेफ के पूर्ण उच्चारण में आधी मात्रा रेफ की और आधी मात्रा स्वरभक्ति की अपेक्षित है। इस प्रकार वैदिकाभरणकार के मत में भी स्वरभक्ति आधी मात्राकाल वाली होती है।

तै० प्रा० स्वरभक्ति को व्यञ्जन-वर्ण मानता है। १।३७ में विहित है कि व्यञ्जन वर्ण आधी मात्राकाल वाला होता है।[3] इस प्रकार स्वरभक्ति भी आधी मात्राकाल वाली होती है।[4]

---

१. मात्रिकस्य ऋकारस्यादिरणुमात्रः स्वरभागो मध्ये रेफोऽर्धमात्रा शेषोऽप्यणुमात्रा स्वरभागः। एतद् ऋकारस्वरूपम्। अत्र रेफेऽर्धमात्रे भज्यमाने सति तौ भागौ पूर्वोत्तरावणुसहितौ प्रत्येकं स्वरभक्तिनामधेयं भजते।
तै० प्रा० २१।१५ पर त्रि० भा०।

२. असंश्लिष्टोऽत्र रेफ ऊष्मणेति ह्रस्वकालादल्पतरेण कालेन न शक्यते प्रयोक्तुम्। न च व्यञ्जनयोर्मध्ये विरामोऽस्ति। अतोऽत्र रेफस्य मात्रिकत्वमवश्याभ्युपगन्तव्यम्। तै० प्रा० २१।१५ पर वै० भा।

३. ह्रस्वार्धकालं व्यञ्जनम्। तै० प्रा० १।३७

४. ऋ० प्रा० में दो प्रकार की स्वरभक्तियाँ मानी गयी हैं—(१) ह्रस्व स्वरभक्ति तथा (२) दीर्घ स्वरभक्ति। द्वित्व को प्राप्त ऊष्म वर्ण बाद में होने पर ह्रस्व स्वरभक्ति होती है तथा ऊष्म वर्ण बाद में होने पर दीर्घ स्वरभक्ति होती है। ह्रस्व स्वरभक्ति चौथाई (¼) मात्राकाल वाली होती है तथा दीर्घ स्वरभक्ति आधी मात्राकाल वाली होती है। तै० प्रा० में द्वित्व को प्राप्त ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर स्वरभक्ति नहीं होती है। च०

स्वरभक्तिरूप आगम को मुद्रित ग्रन्थों में दिखलाया नहीं जाता है क्योंकि यह संयुक्त व्यञ्जनों का उच्चारणवैशिष्ट्य है न कि लिपिवैशिष्ट्य। स्वरभक्ति के उच्चारण के विषय में प्रातिशाख्यकारों में मतभेद है। इसका कारण यह है कि वेद की विभिन्न शाखाओं में इसका उच्चारण ऋकार, एकार, उकार, अकार, और इकार आदि पूर्ववर्ती तथा परवर्ती स्वरों के आधार पर होता है।

स्वरभक्ति का स्थल—रेफ तथा ऊष्म वर्ण का संयोग होने पर रेफ स्वरभक्ति होती है।[1] अर्थात् ऊष्म वर्ण बाद में होने पर रेफ और ऊष्म वर्ण के मध्य में एक अति ह्रस्व स्वर का उच्चारण होता है। यह अतिह्रस्व स्वर-वर्ण

---

अ० १।१०१-२ के अनुसार भी यदि रेफ के बाद में ऊष्म-वर्ण और ऊष्म-वर्ण के बाद में स्वर-वर्ण हो तो स्वरभक्ति आधी मात्राकाल वाली होती है (अथवा १/४ मात्राकाल वाली होती है) तथा अन्य स्थलों पर अर्थात् व्यञ्जन या द्वित्व को प्राप्त ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर १/४ या १/८ मात्राकाल वाली स्वरभक्ति होती है।

वा० प्रा० में स्वरभक्ति संज्ञा का प्रयोग नहीं किया गया है किन्तु ४।१७ में विधान किया गया है कि रेफ तथा लकार के बाद में ऊष्म-वर्ण अथवा स्वर-वर्ण होने पर सर्वत्र दोनों के मध्य में क्रमशः ऋ तथा ऌ स्वरों की आंशिक ध्वनि का आगम होता है। च० अ० १।१०२ में स्वरभक्ति के सन्दर्भ में कहा गया है कि स्वर है बाद में जिसके ऐसा ऊष्म वर्ण बाद में होने पर रेफ के बाद में अकार से आधी मात्रा (१/२ मात्रा) काल वाली अथवा १/४ मात्राकाल वाली स्वरभक्ति उत्पन्न होती है। ऊष्म के अतिरिक्त अन्य किसी व्यञ्जन से पूर्व तथा रेफ से बाद में आने वाली स्वर-भक्ति १/२ या १/८ मात्राकाल वाली होती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जहाँ तै० प्रा० में केवल रेफ तथा ऊष्म-वर्णों के संयोग में ही स्वरभक्ति विहित है वहाँ अन्य प्रातिशाख्य रेफ तथा ऊष्म-व्यतिरिक्त व्यञ्जनों का संयोग होने पर भी स्वरभक्ति मानते हैं।

१. रेफोष्मसंयोगे रेफस्वरभक्तिः। तै० प्रा० २१।१५।

शषसेषु स्वरोदयां हकारे व्यञ्जनोदयाम्।
शषसेषु तु विवृतां हकारे संवृतां विदुः॥

तै० प्रा० २१।१५ पर त्रि० भा० द्वारा उद्धृत।

ही स्वरभक्ति कहलाता है। जैसे—दर्शपूर्णमासौ[1], वर्षम्[2], वर्समम्[3], बार्हस्पत्यः[4]।

शिक्षाकार के मत को उद्धृत करते हुए भाष्यकार ने पाँच प्रकार की स्वरभक्तियों का नामोल्लेख तथा उदाहरण[5] प्रस्तुत किया है—

(१) करेणु– र् तथा ह् के संयोग में यह स्वरभक्ति होती है। यथा-बर्हिः[6] यहाँ रेफ के बाद में ऊष्म-वर्ण हकार है। रेफ और हकार के संयोग का उच्चारण करना कठिन है अतः रेफ तथा हकार के बीच में एक अतिह्रस्व स्वरवर्ण का उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार बर्हि का उच्चारण बर् (ऋ) हि किया जाता है। (ऋ) यह अतिह्रस्व-स्वर वर्ण स्वरभक्ति है जिसका उच्चारण तो होगा किन्तु ग्रन्थों में मुद्रित नहीं किया जायेगा। (२) कर्विणी-लकार तथा हकार के संयोग में यह स्वरभक्ति होती है। यथा—मल्हाः[7] यहाँ पर लकार तथा हकार के संयोग में स्वरभक्ति है। (३) हरिणी—रेफ तथा श, स के संयोग में हरिणी नामक स्वरभक्ति बतलायी गयी है। यथा-दर्शपूर्णमासौ[1]। यहाँ रेफ तथा ऊष्म-वर्ण शकार के संयोग में स्वरभक्ति है। (४) हारिता-यह स्वरभक्ति लकार तथा शकार के संयोग में होती है। यथा- सहस्रवल्शाः[8]। यहाँ पर लकार तथा ऊष्म वर्ण शकार के संयोग में स्वरभक्ति है[9]। (५) हंसपदा-रेफ तथा षकार के संयोग

---

१. तै० सं० २।२।५ २. तै० सं० ५।४।६
३. तै० सं० २।५।७ ४. तै० सं० ५।६।५
५. करेणुः कर्विणी चैव हरिणी हारितेति च।
हंसपदेति विज्ञेयः पञ्चैताः स्वरभक्तयः॥
करेणू रहयोर्योगे कर्विणी लहकारयोः।
हरिणी रशसानाञ्च हारिता लशकारयोः॥ इत्यादि
तै० प्रा० २१।१५ पर त्रि० भा० में उद्धृत।
६. तै० सं० १।१।२, ७. तै० सं० २।१।२,
८. तै० सं० ६।३।३
९. तै० प्रा० में केवल रेफ तथा ऊष्म वर्ण के संयोग में स्वरभक्ति होने का विधान किया गया है। लकार तथा ऊष्म वर्ण के संयोग में स्वरभक्ति होने का विधान सूत्रकार ने नहीं किया है किन्तु लकार तथा ऊष्म वर्ण के संयोग में भी स्वरभक्ति होती है—इस बात का स्पष्टीकरण भाष्यकारों द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों के आधार पर हो जाता है।

में हंसपदा स्वरभक्ति होती है। यथा—वर्षाभ्यः[१]। यहाँ पर रेफ तथा षकार का संयोग होने पर स्वरभक्ति है।

शिक्षाकारों ने इस प्रकार पाँच स्वरभक्तियों का नामोल्लेख किया है किन्तु तै० प्रा० में नामग्रहण पूर्वक इनका उल्लेख नहीं किया गया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि सूत्रकार ने विस्तृत रूप से स्वरभक्ति पर विचार नहीं किया है किन्तु भाष्यकारों ने स्वरभक्ति के विभिन्न स्थलों का निर्देश करते हुए स्वरभक्ति का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

**स्वरभक्ति का निषेध**—ऊष्म-वर्ण का द्वित्व होने पर अथवा ऊष्म-वर्ण के बाद प्रथम स्पर्श वर्ण होने पर स्वरभक्ति का निषेध हो जाता है अर्थात् स्वरभक्ति नहीं होती है[२]। ऊष्म का द्वित्व होने पर जैसे दार्श्यम्[३]। ऊष्मपर प्रथम स्पर्श होने पर जैसे—वर्ष्ट्वा[४]।

**स्वरभक्ति का उच्चारण**—स्वरभक्ति का उच्चारण करते समय जिह्वा के अग्रभाग को बर्स्व के समीप में ले जाते हैं—ऐसा कतिपय आचार्य स्वीकार करते हैं।[५] इस आधार पर स्वरभक्ति का उच्चारण-स्थान बर्स्व है तथा करण जिह्वा का अग्रभाग है।

## यम

संयुक्त व्यञ्जनों के उच्चारणवैशिष्ट्य के सन्दर्भ में प्राचीन भारतीय आचार्यों का यमविषयक विधान वैदिक ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में उनके सूक्ष्म चिन्तन का परिचायक है। ध्वनि-विज्ञान के क्षेत्र में यम-विषयक चिन्तन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा वैज्ञानिक हैं। अननुनासिक स्पर्श के बाद में अनुनासिक स्पर्श होने पर

---

१. तै० सं० ७।२।१०

२. न क्रमे प्रथमपरे। तै० प्रा० २१।१६

३. तै० सं० ३।२।२; वस्तुतः द्वित्व संयुक्त व्यञ्जनों का उच्चारण-वैशिष्ट्य है, लिपिविषयक नहीं। अतएव संहिता में 'दार्श्यम्' रूप ही उपलब्ध होता है किन्तु उसका उच्चारण द्वित्व के साथ-दार्श्श्यम्-किया जाता है।

४. तै० सं० ७।५।२०

५. उपसंहृततरे च जिह्वाग्रमृकारर्कारल्कारेषु बर्स्वेषूपसंहरति। एकेषामनुस्वारस्वरभक्त्योश्च। तै० प्रा० २।१८-१९

दोनों के मध्य में पूर्ववर्ती स्पर्श के समान स्थान वाली एक नासिक्य ध्वनि उत्पन्न होती है। यही नासिक्य ध्वनि यम कहलाती है।

**यम का ध्वनि-वैज्ञानिक आधार**—यम को ध्वनि-विज्ञान के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। संस्कृत में पुरोगामी समीकरण की अपेक्षा पश्चगामी समीकरण अधिक प्रभावशाली रहा है। परवर्ती ध्वनि अपने पूर्ववर्ती ध्वनि को प्रभावित कर लेती है। पुनः नासिका का थोड़ा भी प्रभाव पड़ने पर ध्वनि नासिक्य हो जाती है। प्रस्तुत स्थल में अननुनासिक तथा अनुनासिक स्पर्श वर्णों के उच्चारण में दो उच्चारणावयवों का स्पर्श किया जाता है। अननुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए प्राणवायु उच्चारण-स्थान पर आती है और दो उच्चारणावयवों का स्पर्श होता है। उसके ठीक पश्चात् अनुनासिक स्पर्श का उच्चारण करना होता है जिसके उच्चारण में दो अङ्गों का स्पर्श अन्य स्पर्श-वर्णों के समान ही होता है किन्तु साथ ही साथ निःश्वास वायु नासिका-विवर से बाहर निकलती है। जिस समय पूर्ववर्ती अननुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए दो उच्चारणावयवों का स्पर्श होता है उसी समय परवर्ती अनुनासिक स्पर्श के उच्चारण के लिए दो अन्य उच्चारणावयव तैयार हो जाते हैं। उसी समय वायु का नासिकाविवर से निकलना प्रारम्भ हो जाता है। इस कारण से पूर्ववर्ती अननुनासिक स्पर्श भी नासिक्य हो जाता है। इस दृष्टि से नासिक्य बने हुए वर्ण को ही यम कहते हैं।

**यम का उच्चारण-स्थान**—यम वर्ण के दो उच्चारणस्थान हैं—(१) नासिका तथा (२) मुख। सभी यम वर्णों के लिए नासिका को सामान्य उच्चारण-स्थान माना गया है।[1] यम वर्णों का दूसरा विशिष्ट उच्चारण-स्थान मुख माना गया है।[2] किस यम वर्ण का उच्चारण करते समय कौन-सा उच्चारण-स्थान होता है—इस विषय में वै० भा० में कहा गया है कि स्पर्शों से बाद में विद्यमान प्रथम इत्यादि नाम वाले नासिक्य (यम) मुख तथा नासिका स्थान वाले हैं। हकार से

---

१. नासिक्याः नासिकास्थानाः। तै० प्रा० २।४९
ऋ० प्रा० १।४८, वा० प्रा० १।७४ तथा च० अ० १।२६ में भी यम वर्णों का उच्चारण-स्थान नासिका बतलाया गया है।

२. मुखनासिक्या वा। तै० प्रा० २।५०

परवर्ती नासिक्य केवल नासिका-स्थान वाला होता है।[1] माहिषेय तथा त्रिभाष्य-रत्नकार ने सभी यम वर्णों का उच्चारण-स्थान मुख तथा नासिका दोनों को स्वीकार किया है। नासिक्य (यम) वर्णों का करण अपने-अपने वर्ग के अनुसार होता है[2] अर्थात् कवर्ग के पश्चात् यदि नासिक्य (यम) का आगम होता है तो कवर्ग का ही करण इस नासिक्य वर्ण का भी होता है। कवर्ग का करण जिह्वा-मूल है अतः उस यम का करण भी जिह्वामूल होगा। नासिक्य वर्णों में अपने वर्ग के समान स्थान का योग होता है। २।५० में मुख शब्द का जो ग्रहण किया गया है उससे पाँचो वर्णों के स्थानों का ग्रहण किया गया है। जैसे कवर्ग के बाद यदि नासिक्य वर्ण का आगम होता है तो हनुमूल उसका दूसरा उच्चारण-स्थान होता है। इस प्रकार जिस-जिस वर्ग के बाद नासिक्य-वर्ण का आगम होता है उस-उस वर्ग के समान उस (नासिक्य) का उच्चारण-स्थान जानना चाहिए।[3] पहला उच्चारण-स्थान तो नासिका ही है। जैसे—विद्मा ते अग्ने[4]। यहाँ पर तवर्ग के तृतीय स्पर्श-वर्ण दकार के पश्चात् नासिक्य (यम) का आगम होगा। अतः तवर्ग का उच्चारण-स्थान दन्तमूल होने से यम का भी द्वितीय उच्चारण-स्थान दन्तमूल होगा। इस प्रकार प्रत्येक यम-वर्ण के दो उच्चारण-स्थान होते हैं—(१) नासिका तथा (२) जिस स्पर्श-वर्ण के पश्चात् उसका आगम होता है उसके तुल्य स्थान।

यमों की संख्या—तै० प्रा० के सूत्रों में यमों की संख्या का निर्देश नहीं किया गया है। इस सम्बन्ध में त्रिभाष्यरत्नकार ने १।१ में प्रकाश डाला है। उनके अनुसार २१।१२ सूत्र के आधार पर चार यम वर्ण बतलाये गये हैं।[5]

---

१. ...स्पर्शेभ्यः परे प्रथमादिव्यपदेशभाजो मुखनासिक्याः। हकारात्परस्तु नासिकामात्रस्थान इति। वै० प्रा० २।५० पर वै० भा०।

२. वर्गवच्चैषु। वै० प्रा० २।५१

३. ... तेषु वर्गवत्स्थानयोगो भवति।... मुखशब्देनात्र पञ्चापि वर्गस्थानानि संगृहीतानि। तत्र कवर्गीयात्परस्य नासिक्यस्य हनुमूलं तावद्द्वितीयं स्थानं भवति।...एवं तत्तद्वर्गीयात्परस्य तत्तद्वर्गस्थानं द्वितीयस्थानमित्यवगन्तव्यम्। वै० प्रा० २।५१ पर वै० भा०।

४. तै० सं० ४।२।२

५. स्पर्शादनुत्तमादिति चत्वारो यमा उक्ताः। तै० प्रा० १।१ पर त्रि० भा०।
ऋ० प्रा० १।५० पर भाष्यकार उवट ने कहा है कि ऋग्वेदियों के

प्रत्येक यम वर्ण नासिका से साथ ही अपने पूर्ववर्ती अननुनासिक स्पर्श के समान उच्चारण-स्थान से उच्चरित होता है। अननुनासिक स्पर्श वर्ण २० हैं, अतः इन स्पर्शों से प्रभावित होने के कारण स्वरूप की दृष्टि से यम भी बीस होंगे।

त्रिभाष्यरत्नकार द्वारा बतलायी गयी यमों की चार संख्या का आधार यह प्रतीत होता है कि उन्होंने प्रत्येक वर्ग के प्रथम स्पर्श वर्णों को एक इकाई मानकर, द्वितीय स्पर्श वर्णों को दूसरी इकाई मानकर, तृतीय स्पर्श वर्णों को तीसरी इकाई मानकर तथा चतुर्थ संज्ञक स्पर्श वर्णों को चौथी इकाई मानकर चार यम-वर्णों की गणना की है जो इस प्रकार से हैं—

(१) अघोष अल्पप्राण यम—कँ्, चँ्, टँ्, तँ्, पँ्

(२) अघोष महाप्राण यम—खँ्, छँ्, ठँ्, थँ्, फँ्

(३) सघोष अल्पप्राण यम—गँ्, जँ्, डँ्, दँ् बँ्

(४) सघोष महाप्राण यम—घँ्, झँ् ढँ्, धँ्, भँ्

## द्वित्व

किसी विशेष अवस्था में जब किसी व्यञ्जन के पूर्व में उसी व्यञ्जन का आगम हो जाता है तो उसके फलस्वरूप मूलभूत व्यञ्जन के उच्चारण के पूर्व उसी व्यञ्जन का एक और उच्चारण हो जाता है जिसे द्वित्व कहते हैं। संयोग-विषयक उच्चारण-वैशिष्ट्य की दृष्टि से द्वित्व का विशेष महत्त्व है। २१।१६ में द्वित्व के लिए 'क्रम' संज्ञा का प्रयोग हुआ है।[1] क्रम का शाब्दिक अर्थ है द्वित्व। वै० भा० के अनुसार भी द्वित्व को क्रम कहते हैं।[2] क्रम-पाठ का सन्देह न हो अतः इसे कभी-कभी वर्ण-क्रम भी कहते हैं।

द्वित्व के स्थल—तै० प्रा० के चौदहवें अध्याय के सत्रह सूत्रों[3] में द्वित्व का

---

बीस यम होते हैं किन्तु स्वरूप की दृष्टि से यम चार ही हैं। वा० प्रा० ८।२४ तथा ऋ० तं० १।२ के अनुसार कुँ, खुँ, गुँ, घुँ यम हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये प्रातिशाख्य भी स्वरूप की दृष्टि से चार यमों को स्वीकार करते हैं।

१. न क्रमे प्रथमपरे। तै० प्रा० २१।१६
२. क्रमो नाम द्वित्वम्। तै० प्रा० २१।१६ पर वै० भा०
३. तै० प्रा० १४।१-४, १५-२३, २५-२८।

विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। साथ ही नवें अध्याय के दो सूत्रों[1] में भी द्वित्व का विवरण प्राप्त होता है। तै० प्रा० में विहित द्वित्व के स्थल निम्न हैं—

१—स्वर-वर्ण पूर्व में होने पर तथा व्यञ्जन बाद में होने पर (संयोग के प्रथम) व्यञ्जन का द्वित्व हो जाता है।[2] यथा—उरुप्प्रथस्व[3]। यहाँ पर संयोग के प्रथम वर्ण-पकार का द्वित्व हो गया है, क्योंकि इसके पूर्व में स्वर-वर्ण (उ) है तथा बाद में व्यञ्जन-वर्ण (र्) है। व्यञ्जन पूर्व में होने पर यथा-यत् प्राच[4] तथा स्वर बाद में होने पर यथा—उरुकृदुरु णः[5] द्वित्व नहीं होता है। अतः स्वर-वर्ण का पूर्व में होना तथा व्यञ्जन वर्ण का बाद में होना द्वित्व के लिये आवश्यक है।

२—पौष्करसादि शाखा के आचार्यों के मत में ल् अथवा व् पूर्व में होने पर स्पर्श वर्ण भी द्वित्व को प्राप्त करता है।[6] यथा—कल्प्पाञ्जुहोति[7]; अनुल्ब्बणं[8]—इन उदाहरणों में लकार पूर्व में होने से पकार तथा बकार का द्वित्व हुआ है। दधिक्राव्ण्णो[9]; विभूदाव्न्ने[10] —इन उदाहरणों में वकार पूर्व में होने से स्पर्श वर्णों-ण् तथा न् का द्वित्व हुआ है। स्पर्शवर्ण का ग्रहण करने से कल्याणी रूपसमृद्धा[11] आदि उदाहरणों में द्वित्व नहीं हुआ है। इसी प्रकार ल् या व् पूर्व में होने पर—ऐसा ग्रहण करने पर कूश्मां छकभिः[12] तथा तस्मादेतत्[13] उदाहरणों में द्वित्व का निषेध है।

---

१. तै० प्रा० ९।१८-१९

२. स्वरपूर्वं व्यञ्जनं व्यञ्जनपरं द्विवर्णमापद्यते। तै०प्रा० १४।१ पर त्रि०भा०
ऋ० प्रा० ६।१ के अनुसार भी स्वर या अनुस्वार पूर्व में होने पर संयोग का प्रथम वर्ण द्वित्व को प्राप्त करता है। वा० प्रा० ४।९९ तथा च० अ० ३।२८ के अनुसार स्वर पूर्व में होने पर संयोग का आदि व्यञ्जन सर्वत्र द्वित्व को प्राप्त करता है।

३. तै० सं० १।१।८ ४. तै० सं० ५।२।५ ५. तै० सं० ८।६।११

६. पौष्करसादेर्मते लकारपूर्वो वकारपूर्वो वा स्पर्शो द्विवर्णमापद्यते।
तै० प्रा० १४।२ पर त्रि० भा०

७. तै० सं० ५।४।८ ८. तै० सं० ३।४।२

९. तै० सं० १।५।११ १०. तै० सं० ३।५।८, ९

११. तै० सं० ७।१।६

१२. तै० सं० ५।७।२३ १३. तै० सं० ६।३।११

३—कतिपय आचार्यों के मतानुसार लकार या वकार पूर्व में स्थित होने पर केवल स्पर्श ही द्वित्व को प्राप्त करता है।[१] यथा-दधिक्राव्ण्णः[२]। यहाँ वकार से परवर्ती स्पर्श ण् द्वित्व को प्राप्त हो गया है तथा वकार का भी द्वित्व हो गया है।

४—रेफ से बाद में स्थित व्यञ्जन भी द्वित्व को प्राप्त करता है।[३] यथा-अर्क्कपर्णेन जुहोति[४]; सूर्य्यस्य पुत्त्रा[५]; अर्च्चन्त्यर्क्कमर्क्किणः[६] इत्यादि। इन उदाहरणों में रेफ से परवर्ती व्यञ्जनों ( क्, य् तथा च् ) का द्वित्व हुआ है।

५—स्वर-वर्ण बाद में होने पर तथा ह्रस्वस्वर पूर्व में होने पर पद के अन्त में स्थित ङकार द्वित्व को प्राप्त करता है[७]। यथा—न्यङ्ङग्निश्चेतव्या[८]। तमु त्वा दध्यङ्ङ् ऋषिः[९]। इन उदाहरणों में ङकार के बाद में क्रमशः अ तथा ऋ स्वर-वर्ण है तथा उसके ( ङकार के ) पूर्व में अकार ( ह्रस्व स्वर ) है अतः ङकार द्वित्व को प्राप्त हो गया है। यहाँ ह्रस्वस्वरपूर्वत्व तथा स्वर-परत्व अनिवार्य है। इनका अभाव होने पर क्रमशः पराङावर्तते[१०] तथा प्रत्यङ्क् षडहः[११] उदाहरणों में द्वित्व नहीं हुआ है।

६—बाद में स्वरवर्ण होने पर तथा ह्रस्वस्वर पूर्व में होने पर नकार भी द्वित्व को प्राप्त करता है[१२]। यथा—निरवपन्निन्द्राय[१३]। अब्रुवन्न् ऋध्नवत्[१४]। इन उदाहरणों में क्रमशः इकार तथा ऋकार स्वर बाद में होने पर तथा ह्रस्व स्वर अकार पूर्व में होने पर नकार का द्वित्व हो गया है। स्वरपरत्व तथा

---

१. स्पर्श एवैकेषामाचार्याणाम्। तै० प्रा० १४।३

२. तै० सं० १।५।११

३. रेफात्परञ्च। तै० प्रा० १४।४

४. तै० सं० ५।४।३, ५. तै० सं० ४।१।२

६. तै० सं० १।६।१२

७. ह्रस्वपूर्वो ङकारो द्वित्वर्णम्। तै० प्रा० ९।१८

८. तै० सं० ५।५।३, ९. तै० सं० ४।१।३

१०. तै० सं० ३।२।९, ११. तै० सं० ७।४।२

१२. नकारश्च। तै० प्रा० ९।१९

१३. तै० सं० २।४।२ १४. तै० सं० १।५।१

ह्रस्वपूर्वत्व न होने पर निरवपन्यानि[1] तथा यानग्नयोऽन्वतप्यन्त[2] इत्यादि उदाहरणों में द्वित्व नहीं प्राप्त होता है।

द्वित्व का निषेध—तै० प्रा० के तेरह सूत्रों[3] में उन स्थलों को निर्दिष्ट किया गया है जहाँ पूर्वोक्त नियमों द्वारा प्राप्ति होने पर भी द्वित्व का अभाव रहता है। इन स्थलों का यहाँ पर विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

१.—पद के अवसान में विद्यमान वर्ण, रेफ, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय (वर्ण) द्वित्व को नहीं प्राप्त करते हैं।[4] उदाहरण—(१) ऊर्क्[5]। यहाँ १४।४ के अनुसार रेफ के बाद में स्थित ककार के द्वित्व की प्राप्ति होती है किन्तु प्रस्तुत नियम के द्वारा इसके द्वित्व का निषेध किया गया है। (२) ऊर्जस्वती:[6] अतिमाच्छंति[7]। (३) घनाघनः क्षोभणः[8]। मनः क्षेमे। (४) यᳲकामयेत[10]। (५) वनस्पतयः फलम्[11]। यᳲपाप्मना[12]। इन स्थलों में १४।१ से प्राप्त द्वित्व का निषेध है। १४।१५ पर त्रि० भा० का कथन है कि सूत्र में प्रयुक्त अवसान का अभिप्राय विराम से है, अतः सन्धि के स्थल में द्वित्व का निषेध नहीं होता है।[13] सन्धि होने पर वह पद का अवसान नहीं होता है इसलिये द्वित्व की प्राप्ति होती है। उदाहरण—ऊक्र्क् च मे सूनृता[5]। यहाँ ककार का द्वित्व हो गया है क्योंकि ककार के बाद में अवसान नहीं है। ऊर्क् की च के साथ सन्धि हो जाने से प्रस्तुत स्थल में द्वित्व का निषेध नहीं हुआ अपितु द्वित्व हो गया है।

२—स्वर-वर्ण बाद में होने पर ऊष्म-वर्ण द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है।[14] यहाँ ऊष्म-वर्ण से तात्पर्य श्, ष्, स् तथा ह् से है क्योंकि जिह्वामूलीय तथा

---

१. तै० सं० २।४।१ २. तै० सं० ३।२।८
३. तै० प्रा० १४।१५-२३, २५-२८।
४. अवसाने रविसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयाः। तै० प्रा० १४।१५
५. तै० सं० ४।७।४ ६. तै० सं० १।१।१
७. तै० सं० २।२।४ ८. तै० सं० ४।६।४
९. तै० सं० ५।२।१ १०. तै० सं० २।१।२
११. तै० सं० २।५।६ १२. तै० सं० २।३।१३
१३. अवसानवचनं विरामाभिप्रायम्। तस्मान्न सन्धाने निषेधः। तै० प्रा० १४।१५ पर त्रि० भा०
१४. ऊष्मा स्वरपरः। तै० प्रा० १४।१६

उपध्मानीय के द्वित्व होने का निषेध पूर्ववर्ती नियम में किया जा चुका है। उदाहरण—(१) दर्शपूर्णमासौ[1]। (२) मूर्धानं दधिषे सुवर्षाम्[2]। वर्षाभ्यः[3]। (३) बर्सं नह्यति[4]। (४) अद्भिर्हवींषि[5]। बर्हिषा[6]।

३—प्लाक्षि तथा प्लाक्षायण आचार्यों के अनुसार प्रथम स्पर्श बाद में होने पर ऊष्म-वर्ण का द्वित्व नहीं होता है।[7] इसका अभिप्राय यह है कि ऊष्म-वर्ण के बाद यदि किसी भी वर्ग का प्रथम स्पर्श आता है तो ऊष्म-वर्ण द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है। उदाहरण—(१)सुश्चन्द्र दस्म[8]। (२)आग्नेयमष्टाकपालम्[9]। अष्टौ कृत्वः[10] —इन उदाहरणों में ऊष्मवर्ण शकार तथा षकार के पश्चात् प्रथम स्पर्श चकार तथा टकार विद्यमान हैं अतः ऊष्म को द्वित्व नहीं हुआ है। १४।१ से प्राप्त द्वित्व का प्रस्तुत स्थल में निषेध किया गया है। 'प्रथम-स्पर्श बाद में होने पर' यह कहने से तस्मादेवं विदुषा[11] तथा तान्देवा इष्ट्वा च[12] उदाहरणों में उत्तम स्पर्श तथा वकार परे रहने से द्वित्व का निषेध नहीं होगा अर्थात् १४।१ से[13] यहाँ द्वित्व हो जायेगा—'तस्स्मादेवं[11]' तथा 'इष्ष्ट्वा[12]'।

४—हारीत आचार्य के अनुसार अघोष ऊष्म-वर्ण द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है[14]। केवल स्वर अथवा प्रथम स्पर्श बाद में होने पर ही नहीं अपितु कोई भी वर्ण बाद में होने पर अघोष ऊष्म-वर्ण द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है। जैसे,—(१) वैश्यो मनुष्याणाम्[15]। (२) पुष्यति प्रजया पशुभिः[16]।

---

१. तै० सं० २।२।५
२. तै० सं० ४।४।४
३. तै० सं० ७।४।१३
४. तै० सं० २।५।७
५. तै० सं० २।६।५
६. तै० सं० १।७।४
७. प्रथमपरश्च प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः। तै० प्रा० १४।१७
८. तै० सं० ४।४।४
९. तै० सं० १।८।२
१०. तै० सं० ६।४।५
११. तै० सं० ६।४।९
१२. तै० सं० ५।७।३
१३. स्वरपूर्वं व्यञ्जनं द्विवर्णं व्यञ्जनपरम्। तै० प्रा० १४।१
१४. ऊष्माघोषो हारीतस्य। तै० प्रा० १४।१८
१५. तै० सं० ७।१।१
१६. तै० सं० २।१।९

अष्टाकपालम्।[1] (३) वैश्वानरस्य रूपम्।[2] नास्यापरूपम्[3]—इन स्थलों में अघोष ऊष्म-वर्ण द्वित्व को नहीं प्राप्त हुआ है।

५—हारीत आचार्य के अनुसार रेफ बाद में होने पर हकार द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है।[4] जैसे—दुदुह्रे अह्वयः[5]।

६—हारीत आचार्य के ही अनुसार तवर्ग बाद में होने पर टवर्ग द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है।[6] उदाहरण—(१) वषट् ते विष्णो[7]। (२) विड् द्रविणम्[8]। इन स्थलों पर टवर्गीय—ट् तथा ड् के बाद में तवर्गीय—त् तथा द् हैं। अतः यहाँ पर द्वित्व नहीं हुआ है।

७—हारीत आचार्य के मत में यकार तथा वकार बाद में होने पर लकार तथा तवर्ग का द्वित्व नहीं होता है।[9] लकार के उदाहरण—कल्याणी[10]। ततो बिल्व उदतिष्ठत्[11]। बैल्वो यूपो भवति[12]। तवर्ग के उदाहरण—कन्येव तुन्ना[13]। इषे त्वोर्जे त्वा[14]। इन उदाहरणों में लकार के बाद यकार तथा वकार होने पर लकार के द्वित्व का निषेध और तवर्ग (न् तथा त्) के बाद यकार तथा वकार होने पर तवर्ग के द्वित्व का निषेध हो गया है।

८—हारीत के ही अनुसार परवर्ती निमित्त अर्थात् वकार भी द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है।[15] यथा—विभूदाव्ने[16]। ग्राव्णः[17]।

९—सवर्ण तथा सवर्गीय वर्ण बाद में होने पर व्यञ्जन द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है।[18] सवर्ण का उदाहरण (१) अन्वक्काम[19]। (२) अत्ता हवींषि[20]।

---

१. तै० सं० १।८।२ २. तै० सं० ५।२।३ ३. तै० सं० ३।५।७
४. रेफपरश्च हकारः। तै० प्रा० १४।१९ ५. तै० सं० १।५।५
६. टवर्गश्च तवर्गपरः। तै० प्रा० १४।२०
७. तै० सं० २।२।१२ ८. तै० सं० १।८।१३
९. लतवर्गौ यवकारपरौ। तै० प्रा० १४।२१
१०. तै० सं० ७।१।६ ११. तै० सं० २।१।८
१२. तै० सं० २।१।८ १३. तै० सं० ३।१।११
१४. तै० सं० १।१।१ १५. परश्च। तै० प्रा० १४।२२
१६. तै० सं० ३।५।८ १७. तै० सं० ६।३।२
१८. सवर्णसवर्गीयपरः। तै० प्रा० १४।२३
१९. तै० सं० ७।५।१२ २०. तै० सं० २।६।१२

(३) पिप्पका ते[१]। (४) संयत्ताः[२]। (५) यल्लोहितम्[३]। इन स्थलों में क्, त्, प्, त् तथा ल् के पश्चात् इनके समान वर्ण क्, त्, प्, त् तथा ल् हैं अतः प्रस्तुत नियम से द्वित्व नहीं हुआ है। सवर्गीय का उदाहरण — (१) अङ्कौ न्यङ्कौ[४]। (२) प्राञ्चमुप[५]। (३) काण्डात्काण्डात्[६]। (४) तंते दुश्चक्षाः[७]। (५) अम्भास्स्थ[८]। इन स्थलों में ङ्, ञ्, ण्, न्, म् के पश्चात् इनका सवर्गीय वर्ण क्, च्, ड्, त् और भ् स्थित हैं। अतः द्वित्व का निषेध हो गया है।

## द्वित्व के निषेध का अपवाद

उत्तम स्पर्श परे रहते अनुत्तम स्पर्श के द्वित्व का निषेध नहीं होता है[९]। तात्पर्य यह है कि वर्ग के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ स्पर्श के पश्चात् यदि उत्तम (पञ्चम) स्पर्श हो तो प्रथमादि वर्ण द्वित्वनिषेध को नहीं प्राप्त करते हैं अर्थात् द्वित्व को प्राप्त करते हैं। १४।२३ से द्वित्व का निषेध प्राप्त होने पर प्रस्तुत कथन निषेध का निषेध करता है। उदाहरण–याच्ञा[१०]। यज्ञे यज्ञे नः[११]। आग्ग्नगारः[१२]। आत्त्मानमेव दीक्षया[१३]। त्रिद्द्मा[१४]। पाप्प्मानम्[१५]। इन सभी स्थलों पर अनुत्तम स्पर्श से बाद में उत्तम स्पर्श हैं। अतः अनुत्तम स्पर्शों का द्वित्व हो गया है। १४।२३ सूत्र से प्राप्त द्वित्व का निषेध नहीं हुआ।

## द्वित्वनिषेध-विषयक कतिपय आचार्यों के मत

(१) हकार, शकार तथा वकार बाद में होने पर लकार द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है[१६]। यथा—(१) मल्हा आलभन्त[१७]। (२) शतवल्शं विरोह[१८]।

---

१. तै० सं० ५।५।१९ | २. तै० सं० १।५।१
३. तै० सं० २।१।७ | ४. तै० सं० १।७।७
५. तै० सं० ५।२।७ | ६. तै० सं० ४।२।९
७. तै० सं० ३।२।१० | ८. तै० सं० १।५।६
९. नानुत्तम उत्तमपरः। तै० प्रा० १४।२४
१०. तै० सं० १।५।७ | ११. तै० सं० ३।१।११
१२. तै० सं० ५।६।५ | १३. तै० सं० ६।२।२
१४. तै० सं० ४।२।२ | १५. तै० सं० १।४।४१
१६. अथैकेषामाचार्याणाम् लकारो हशवकारपरः। तै० प्रा० १४।२५-२६
१७. तै० सं० २।१।२ | १८. तै० सं० १।१।२

७

(३) ततो बिल्वः[१] । इन उदाहरणों में लकार के पश्चात् ह्, श् तथा व् हैं । अतः लकार का द्वित्व नहीं हुआ है ।

(२) स्पर्श बाद में होने पर स्पर्श वर्ण द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है[२] । उदाहरण—संवत्सरो वा अब्दो मासा[३] । वाग्देवी[४] । अपामोज्मानम्[५] । सप्रत्नवत्[६] । इन उदाहरणों में स्पर्श वर्ण ( ब्, ग्, ज् तथा त् ) के पश्चात् स्पर्शवर्ण ( द्, म् तथा न् ) हैं अतः द्वित्व नहीं हुआ है ।

(३) स्पर्श से व्यतिरिक्त व्यञ्जन बाद में होने पर प्राकृत पन्दात वर्ण द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है[७] । इसका तात्पर्य यह है कि सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न न होने वाला (प्राकृत) स्पर्श पद के अन्त में विद्यमान होने पर द्वित्व को नहीं प्राप्त करता है यदि उसके पश्चात् स्पर्श व्यतिरिक्त अर्थात् अन्तःस्था तथा ऊष्म-वर्ण हो । उदाहरण—जनान् यातयति[८] । ओमन्वती ते[९] । एतान् होमान्[१०] । इन उदाहरणों में पद के अन्त में विद्यमान प्राकृत स्पर्श (नकार) के पश्चात् स्पर्शव्यतिरिक्त व्यञ्जन यकार, वकार तथा हकार है । अतः प्रकृत नियम से द्वित्व का निषेध हो गया है ।

---

१. तै० सं० २।१।८
२. स्पर्शः स्पर्शपरः । तै० प्रा० १४।२७
३. तै० सं० ५।६।४
४. तै० सं० १।७।१०
५. तै० सं० ४।६।६
६. तै० सं० २।२।१२
७. पदान्तश्च व्यञ्जनपरः प्राकृतः । तै० प्रा० १४।२८
८. तै० सं० ३।४।११
९. तै० सं० २।६।९
१०. तै० सं० १।५।४

# ४ : स्वर-प्रकरण

स्वर उच्चः स्वरो नीचः स्वरः स्वरित एव च ।
स्वरप्रधानं त्रैस्वर्यं व्यञ्जनं तेन सस्वरम् ।।

याज्ञवल्क्यशिक्षा, ११८

# स्वर–प्रकरण

स्वर—इस प्रकरण में 'स्वर'[1] शब्द का प्रयोग उदात्तादि स्वर धर्मों के लिए किया गया है। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में स्वर शब्द का प्रयोग (१) वर्ण-विशेष के अर्थ में (२) स्वर वर्णों के धर्म के रूप में और (३) क्रुष्टादि स्वरों के अर्थ में प्राप्त होता है। विभिन्न स्वर-वर्णों का उच्चारण कभी उच्च ध्वनि से, कभी निम्न ध्वनि से तथा कभी मध्यम ध्वनि से किया जाता है। वेदार्थनिर्णय में उदात्तादि स्वरों का ज्ञान अति महत्त्वपूर्ण है। शबरस्वामी ने मीमांसा-सूत्र के भाष्य में लिखा है—उदात्तादि तीन स्वरों की व्यवस्था मन्त्रों के अर्थ-ज्ञान के लिये है[2]। यही कारण है कि प्राचीन काल में उपाध्याय (आचार्य) उदात्त स्वर के स्थान पर अनुदात्त स्वर का उच्चारण करने वाले अपने शिष्य के मुँह पर चाटा मारकर उसके उच्चारण-दोष का निराकरण करते थे[3]।

वैदिक संहिताओं में अकारादि कोई भी स्वर-वर्ण उदात्तादि स्वरों के बिना उच्चारित नहीं किया जाता है। ये उदात्तादि स्वर स्वर-वर्णों के धर्म हैं। धर्म और धर्मी में अतिशय सम्बन्ध होने के कारण ही इन स्वर-धर्मों को भी स्वर कहते हैं। स्वर-वर्णों का उच्चारण स्वतन्त्र रूप से होता है इसीलिए ये स्वर-वर्ण निरपेक्ष कहे जाते हैं। इस प्रकार उदात्तादि स्वर-धर्मों का स्वर वर्णों पर आश्रित होना स्पष्ट हो जाता है। व्यञ्जन-वर्णों का उच्चारण अन्य वर्ण (स्वर-वर्ण) की सहायता के बिना नहीं हो सकता, अतः उनमें उदात्तादि उच्चारण धर्म कैसे रह सकते

---

१. निघण्टु २।१४ में 'स्वरति' पद गत्यर्थक धातुओं में पठित है। अतएव 'स्वर' शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया जा सकता है—स्वर्यन्तेऽर्था एभिः अर्थात् इनसे पदों के अर्थ प्राप्त किये जाते हैं, जाने जाते हैं। इस दृष्टि से वेदार्थ ज्ञान में सहायक होने के कारण उदात्तादि को स्वर कहा जाता है 'स्वर' शब्द 'स्वृ' धातु से 'घ' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है।

२. अथ त्रैस्वर्यादीनां कथं समाम्नानमिति ? अर्थावबोधनार्थं भविष्यति।
—शबर, जै० मी० सू० भा० ६।२।३१

३. उदात्तस्य स्थाने अनुदात्तं ब्रूते खण्डिकोपाध्यायः तस्मै शिष्याय चपेटिकां ददाति। १।१।१ पर पतञ्जलिमहाभाष्य।

हैं[1]। व्यञ्जन स्वर-सापेक्ष होते हैं। अतः उदात्तादि स्वर-वर्णों के आधार पर ही व्यञ्जन स्वर-धर्मों से युक्त होते हैं। व्यञ्जन जिस स्वर-वर्ण का अङ्ग होता है, उसी स्वर- वर्ण के समान स्वर-धर्म वाला हो जाता है। तै० प्रातिशाख्य में स्वर के लिए यम[2] शब्द का भी प्रयोग प्राप्त होता है।

स्वरों का महत्त्व—वैदिक भाषा की प्रमुख विशेषता है–स्वरांकन। सभी संहिताएँ, तैत्तिरीय ब्राह्मण, शतपथ-ब्राह्मण आदि वैदिक ग्रन्थ उदात्तादि स्वरों से अङ्कित प्राप्त होते हैं। स्वराङ्कन की सहायता से ही वेद के मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण सम्भव हो पाता है और मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट हो पाता है। यज्ञादि में विनियुक्त मन्त्र का उदात्तादियुक्त शुद्ध उच्चारण अपरिहार्य होता है। मन्त्रों का अशुद्ध उच्चारण करने पर अनिष्ट की प्राप्ति होती है। अभीष्ट की प्राप्ति हो, इसके लिए मन्त्रों का शुद्ध उच्चारण करना अत्यावश्यक है। शुद्ध उच्चरित मन्त्र ही वाञ्छित अर्थ को प्राप्त कराने वाला होता है। इस मत की पुष्टि में पाणिनीय शिक्षा में एक श्लोक प्राप्त होता है जो इस प्रकार है—स्वर तथा वर्ण से हीन मन्त्र, मिथ्या रूप से प्रयुक्त होने के कारण अभीष्ट अर्थ को नहीं कहता है, वह वाणीरूपी वज्र बनकर यजमान का ही घातक हो जाता है जैसे स्वर के अपराध से इन्द्रशत्रु पद यजमान (वृत्र) का विनाशक बन गया[3]। इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व[4] इस मन्त्र में विवक्षित अर्थ था कि इन्द्र का शत्रु अर्थात् घातक (वृत्र) वृद्धि को प्राप्त करे। इस दृष्टि से 'इन्द्रशत्रुः' पद में 'इन्द्रस्य शत्रुः' यह षष्ठी तत्पुरुष समास का अर्थ अभीष्ट था और तत्पुरुष होने के कारण यहाँ 'समासस्य'[5]

---

१. व्यञ्जनं केवलमवस्थातुं न शक्नोति, किन्तु सापेक्षं स्वरस्तु निरपेक्षः। सापेक्षनिरपेक्षयोर्निरपेक्षमेव विशिष्टमाचक्षते प्रेक्षावन्तः। स्वराणामेवोदात्तादयो धर्माः व्यञ्जनं तु तदङ्गतया। तै० प्रा० २१।१ पर त्रि० भा०

२. यम शब्दस्स्वरवाची। तै० प्रा० १९।३ पर वै० भा०
यमो नाम स्वरः उदात्त इत्यर्थः। तै० प्रा० १५।९ पर त्रि० भा०

३. मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति
यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥ पा० शि० ५२

४. तै० सं० २।४।१२

५. ६।१।२२३ पा० सू०

सूत्र से अन्तोदात्त होना चाहिए किन्तु ऋत्विजों ने अन्तोदात्त के स्थान पर आद्युदात्त उच्चारण कर दिया। फलस्वरूप 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'[1] सूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर से यह बहुव्रीहि बन गया—इन्द्रः शत्रुः हन्ता यस्य सः और इसका अर्थ हो गया इन्द्र है घातक ( मारने वाला ) जिसका ऐसा (वृत्र)। इस प्रकार मन्त्र का उच्चारण दोषयुक्त होने के कारण मन्त्र का विवक्षित अर्थ नहीं प्राप्त हो सका जिसमें वृत्र वृद्धि को प्राप्त अवश्य हुआ किन्तु उसका मारने वाला इन्द्र ही हुआ। इसलिए स्वर-गत त्रुटियों का परिहारपूर्वक शुद्ध उच्चारण करना चाहिए।

**तै० प्रा० में स्वर-विधान**—तै० प्रा० के पहले, दसवें, बारहवें, चौदहवें, पन्द्रहवें, इक्कीसवें और तेईसवें, अध्याय के कुछ सूत्रों और सम्पूर्ण उन्नीसवें तथा बीसवें अध्याय में स्वर-सम्बन्धी नियमों का विधान किया गया है। स्वरों के विवरण के अन्तर्गत वैदिक स्वरों- उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, प्रचय, विक्रम स्वर और दो स्वरों की सन्धियों का वर्णन उपलब्ध होता है।

**तै० सं० में स्वराङ्कन**—जिस प्रकार से ऋग्वेदादि संहिताओं में उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तथा प्रचय को प्रकट करने के लिये वर्णों का चिह्नांकन प्राप्त होता है। उसी प्रकार तै० सं० के मन्त्र पदों के वर्णों का भी चिह्नांकित रूप उपलब्ध संहिता-ग्रन्थों में देखने को मिलता है। उदात्त सदैव अचिह्नित रहता है। अर्थात् उदात्तयुक्त स्वर-वर्ण पर कोई चिह्न नहीं लगता है। अनुदात्तयुक्त वर्ण के नीचे एक पड़ी रेखा (—) लगाई जाती है और स्वरित-युक्त वर्ण के ऊपर एक खड़ी रेखा (|) लगाई जाती है। उदात्तस्वर के समान प्रचय स्वर पर भी कोई चिह्न नहीं लगता है। दोनों उदात्त और प्रचय के अचिह्नित होने से इन्हें पहचानने के लिये दोनों के भेद को जानना आवश्यक है। सामान्यतया अनुदात्त के बाद में स्थित अचिह्नित स्वर उदात्त होता है जबकि स्वरित के बाद में स्थित अचिह्नित स्वर प्रचय होता है। यदि किसी बिना चिह्न वाले वर्ण के पूर्व में न स्वरित हो और न अनुदात्त हो तब वह उदात्त होता है।

## अक्षर-विभाजन

**अक्षर**—प्रातिशाख्यों में अक्षर को भाषा की मूल इकाई के रूप में स्वीकार किया गया है। अक्षर की सर्वग्राह्य परिभाषा नहीं है। साधारणतया यह कहा

---

१. ६।२।१ पा० सू०

जा सकता है कि उच्चारण की दृष्टि से एक या अधिक वर्णों से उत्पन्न एक ऐसी इकाई अक्षर है जिसका उच्चारण वायु के एक झटके से किया जाता है। यह इकाई अपने में पूर्ण होती है जिससे इसे किसी अन्य का अङ्ग बनकर नहीं चलना पड़ता है। जिनका क्षरण नहीं होता है, वे अक्षर हैं। क्षरण का अर्थ है दूसरे का अङ्ग बनकर चलना अर्थात् अक्षर वह है जो दूसरे वर्ण का अङ्ग न बने[१]।

अक्षर का आधार—स्वरवर्ण—स्वर-वर्ण निरपेक्ष होता है, व्यञ्जन सापेक्ष होता है अर्थात् स्वर-वर्ण किसी पर आश्रित नहीं रहता है, वह स्वतन्त्र होता है। किसी अन्य वर्ण का अङ्ग न होने से स्वर वर्ण ही अक्षर का मूल आधार होता है। व्यञ्जन स्वर का अङ्ग होता है। स्वर कभी भी व्यञ्जन का अङ्ग नहीं होता है। इसीलिये व्यञ्जन को स्वररूप मुख्य साधन वाला कहा गया है। अर्थात् स्वर की सहायता से उच्चरित होने के कारण व्यञ्जन में स्वर का ही बोध होता है। जिस प्रकार दूध तथा जल के मिश्रण में दूध की ही उपलब्धि होती है जल की नहीं, उसी प्रकार स्वर तथा व्यञ्जन के मिश्रण में स्वर की ही उपलब्धि होती है। यह सत्य है कि व्यञ्जन की भी अपनी सत्ता होती है क्योंकि उससे अर्थ-विशेष का बोध होता है जैसे—यूप तथा कूपः इन दोनों पदों में स्वरों की समानता है। किन्तु व्यञ्जनों में भिन्नता होने से अर्थ में भी भिन्नता हो गयी है। इससे व्यञ्जन की ही प्रधानता प्रतीत होती है। अतः गौण होने के कारण स्वरों के व्यञ्जन का अङ्ग होने का सन्देह होता है।

इस सन्देह का निराकरण यह है कि व्यञ्जन के द्वारा अर्थ-भेद होने पर भी व्यञ्जन में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह अकेले स्थित रहने में समर्थ हो अर्थात् अकेले बिना स्वर की सहायता के उच्चरित हो सके। वह सापेक्ष होता है तथा अपनी सत्ता के लिए स्वर पर निर्भर रहता है। स्वर-वर्ण निरपेक्ष होने से अकेले उच्चरित हो जाता है। सापेक्ष तथा निरपेक्ष में निरपेक्ष को ही बुद्धिमान् लोग विशिष्ट बतलाते हैं। अविशिष्ट का ही विशिष्ट के प्रति अङ्गत्व होता है। यतः व्यञ्जन का काल आधी मात्रा होता है तथा स्वर का एक मात्रा। अतः स्वरयुक्त व्यञ्जन के उच्चारण में डेढ़ मात्राकाल की प्रसक्ति होती है। जिसके निवारणार्थ तै० प्रा० में यह विधान किया गया है कि व्यञ्जन स्वर का

---

१. न क्षरन्तीत्यक्षराणि, क्षरणमन्याङ्गतया चलनम्।
तै० प्रा० १।२ पर वै० भा०

अङ्ग होता है[1]। स्वर के वैशिष्ट्य को बतलाने के लिये त्रिभाष्यरत्नकार ने विभिन्न स्थलों से तीन श्लोकों को भी उद्धृत किया है जो इस प्रकार हैं—

१ – जिस प्रकार से बलवान् राजा दुर्बल राजा के राष्ट्र को छीन लेता है उसी प्रकार बलवान् स्वर दुर्बल व्यञ्जन को हर लेता है।[2]

२ – जो स्वयं प्रकाशित होता है उसे पतञ्जलि ने स्वर कहा है। उस श्रेष्ठ स्वर के द्वारा व्यञ्जित होने से व्यञ्जन संज्ञा होती है।[3]

३—उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित —ये तीन स्वर-धर्म और ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत मात्रा होना— ये सभी विशेषतायें स्वर-वर्णों में होती हैं।[4]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि स्वरवर्ण ही अकेला तथा व्यञ्जन के साथ मिलकर अक्षर बनता है। किन्तु अकेला व्यञ्जन स्वरवर्ण के आश्रय के बिना अक्षर नहीं बन सकता है। इसीलिए उदात्तादि धर्म स्वरवर्ण के ही होते हैं, व्यञ्जन के नहीं। किन्तु स्वर पर आश्रित होने के कारण व्यञ्जन वर्ण भी इन स्वर-धर्मों वाले कहे जाते हैं।[5]

**अक्षर के भेद**—तै० प्रा० में अक्षर का विभाजन दो श्रेणियों में किया गया है— (१) गुरु तथा (२) लघु

---

१. व्यञ्जनं स्वराङ्गम्। तै० प्रा० २१|१

२. किञ्च स्वरवैशिष्ट्यबोधकमन्यदपि विद्यते—

दुर्बलस्य यथा राष्ट्रं हरते बलवान्नृपः।
दुर्बलं व्यञ्जनं तद्वद्धरते बलवान् स्वरः॥

तै० प्रा० २१|१ पर त्रि० भा० में उद्धृत।

३. किञ्च शिक्षाव्याख्याने —

यः स्वयं राजते तं तु स्वरमाह पतञ्जलिः।
उपरिस्थायिना तेन व्यङ्ग्यं व्यञ्जनमुच्यते॥

तै० प्रा० २१|१ पर त्रि० भा० में उद्धृत पारिशिक्षा का १२ वाँ श्लोक।

४. उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च स्वरास्त्रयः।
ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति कालतो नियमा अचि॥

तै० प्रा० २१|१ पर त्रि० भा० में उद्धृत।

५. स्वरागामेवोदात्तादयो धर्माः। व्यञ्जनानां तु तदङ्गतया।
तै० प्रा० २१|१ पर त्रि० भा० में उद्धृत।

गुरु—तै० प्रा० २२।१४ के अनुसार[1]—(१) व्यञ्जन में समाप्त होने वाला अक्षर गुरु होता है, व्यञ्जन में अन्त होने वाले वर्ण से पूर्ववर्ती अक्षर गुरु संज्ञक होता है। यथा—मातेव पुत्रम्[2]— यहाँ त्र अक्षर गुरु संज्ञक है। (२) दीर्घ अक्षर गुरु संज्ञक होते हैं।[3] यथा—ते तेऽधिपतयः[4]। यहाँ १।३५ से दोनों ते अक्षर दीर्घसंज्ञा को प्राप्त करके प्रस्तुत नियम से गुरु संज्ञक हैं। (३) संयोगपूर्व अर्थात् संयुक्त व्यञ्जन से पूर्ववर्ती ह्रस्व अक्षर गुरु संज्ञा को प्राप्त करता है। यथा—तत्प्रक्षस्य प्रक्षत्वम्[5]। यहाँ संयोगपूर्व ह्रस्व अक्षर त, प्र, क्ष, प्र तथा क्ष गुरु संज्ञक हैं। (४) अनुनासिक (अनुस्वार) से युक्त अक्षर गुरु संज्ञक होता है अर्थात् अनुस्वार से पूर्ववर्ती अक्षर की गुरु संज्ञा होती है।

इस प्रकार व्यञ्जनान्त, संयोग से पूर्व तथा अनुस्वार से पूर्व स्थित अक्षर गुरु संज्ञक होते हैं।

लघु—२२।१५ के अनुसार,[6] (१) जो अक्षर व्यञ्जन में अन्त नहीं होता है; स्वयं विराम रूप अवधि होता है, वह लघु कहलाता है। (२) ह्रस्व अक्षर[7] लघु संज्ञक होता है। (३) जिस ह्रस्व अक्षर के बाद संयुक्त व्यञ्जन का अभाव रहता है उस अक्षर को लघु कहते हैं। (४) जिस ह्रस्व अक्षर के बाद अनुस्वार नहीं होता वह लघुसंज्ञक कहलाता है।

---

१. यद्व्यञ्जनान्तं यदु चापि दीर्घं
संयोगपूर्वं च तथाऽनुनासिकम्।
एतानि सर्वाणि गुरूणि विद्यात्
शेषाण्यतोऽन्यानि ततो लघूनि ॥ तै० प्रा० २२।१४

२. तै० सं० ४।२।३

३. तै० प्रा० १।३५ में दीर्घ संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि ह्रस्व वर्ण से दुगुने मात्राकाल वाला स्वर दीर्घसंज्ञक होता है—द्विस्तावान्दीर्घः। जैसे—आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ तथा ॠ।

४. तै० सं० ४।२।११;    ५. तै० सं० ६।३।१०

६. अव्यञ्जनान्तं यद्ध्रस्वमसंयोगपरं च यत्।
अनुस्वारसंयुक्तमेतल्लघु निबोधत ॥ तै० प्रा० २२।१५

७. तै० प्रा० १।३१-३४ के अनुसार ऋकार, लृकार, अकार और अकार के तुल्य काल वाला स्वर ह्रस्वसंज्ञक होता है। यथा—अ, इ, उ, ऋ तथा लृ।

लघु अक्षर का उदाहरण—मदुदयना[1]—यहाँ म, दु, द तथा य—लघुसंज्ञक अक्षर हैं। इस प्रकार अव्यञ्जनान्त, ह्रस्व, असंयोगपर तथा अननुस्वारपर अक्षर लघु कहलाते हैं।

अङ्गाङ्गिभाव विधान—अक्षर-विभाजन से संबंधित नियम इस प्रकार हैं—

(१) व्यञ्जन स्वर-वर्ण (अक्षर) का अङ्ग होता है[2] अर्थात् जहाँ एक स्वर-वर्ण होता है तथा एक या अनेक व्यञ्जन होते हैं वहाँ वे व्यञ्जन उसी एक स्वरवर्ण के अङ्ग होते हैं। यथा—ऊर्क्[3]। यहाँ पर रेफ तथा ककार ऊकार के अङ्ग है।

(२) व्यञ्जन बाद वाले स्वर का अङ्ग होता है[4]। अर्थात् दो अथवा दो से अधिक स्वरों के बीच में स्थित व्यञ्जन बाद वाले स्वर का अङ्ग होता है। यथा—इमानेव लोकानुपधाय[5]। इ, मा, ने, व, लो, का, नु, प, धा, य—यहाँ दो अक्षरों के मध्य में स्थित मकार, नकार आदि व्यञ्जन अपने परवर्ती स्वर आकार, एकार इत्यादि अक्षरों के अङ्ग हैं।

(३) पदान्त व्यञ्जन पूर्व में स्थित स्वर का अङ्ग होता है[6]। यथा—ऊर्क्[7] यहाँ पदान्त व्यञ्जन रेफ तथा ककार पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग हैं। वषट्[8] में पद के अन्त में विद्यमान टकार पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग है।

(४) संयोग का आदि व्यञ्जन पहले वाले स्वर का अङ्ग होता है[9]। अर्थात् दो अथवा दो से अधिक व्यञ्जनों का संयोग होने पर उस संयोग का प्रथम व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है। यथा—यज्ञान्व्यादिशत्[10] यहाँ नकार, वकार तथा यकार का संयोग हुआ है। अतः संयोग का आदि व्यञ्जन नकार पूर्ववर्ती स्वर आकार का अङ्ग है।

(५) बाद वाले स्वर से न मिला हुआ व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग होता है[11]। यथा—तत्सवितुः[12] यहाँ द्वितीय तकार किसी भी स्वर से मिला हुआ नहीं है अतः प्रस्तुत नियम से वह पूर्ववर्ती अकार (त् + अ) का अङ्ग है।

१. तै० सं० ६।१।५ २. व्यञ्जनं स्वराङ्गम्। तै० प्रा० २१।१
३. तै० सं० १।२।२ ४. तत्परस्वरम्। तै० प्रा० २१।२
५. तै० सं० ५।५।५ ६. अवसितं पूर्वस्य। तै० प्रा० २१।३
७. तै० सं० १।२।२, ८. तै० सं० २।१।१२
९. संयोगादि। तै० प्रा० २१।४ १०. तै० सं० ६।६।११
११. परेण चासंहितम्। तै० प्रा० २१।५ १२. तै० सं० १।५।६

(६) अनुस्वार तथा स्वरभक्ति पूर्ववर्ती स्वर-वर्ण (अक्षर) के अङ्ग होते हैं[१]। अनुस्वार, जैसे—अंशुना ते[२]। स्वरभक्ति, जैसे—गार्हपत्यः[३] इन उदाहरणों में क्रमशः अनुस्वार पूर्ववर्ती स्वरवर्ण अकार का अङ्ग है तथा स्वरभक्ति पूर्ववर्ती स्वर आकार का अङ्ग है।

(७) अन्तःस्था वर्ण परे रहते असवर्ण व्यञ्जन पूर्ववर्ती स्वर (अक्षर) का अङ्ग नहीं होता है[४]। इसका अभिप्राय यह है कि अन्तःस्था वर्ण से पूर्व में अन्तःस्था से भिन्न व्यञ्जन हो तो वह परवर्ती स्वर का अङ्ग होता है। यथा—अध्यवसाय दिशः[५] यहाँ अन्तःस्था से पूर्व में स्थित असवर्ण व्यञ्जन ध् पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग न होकर बाद वाले स्वर अकार का अङ्ग है। मधुमिश्रेण[६]—यहां शकार के बाद अन्तःस्था वर्ण रेफ है। अतः शकार पूर्ववर्ती स्वर इकार का अङ्ग न होकर परवर्ती स्वर एकार का अङ्ग है। आश्लोणया[७]—यहाँ शकार के बाद अन्तःस्था वर्ण लकार है। अतः शकार परवर्ती स्वर ओकार का अङ्ग है। इषे त्वा[८] यहाँ तकार के बाद वकार है अतः तकार परवर्ती स्वर आकार का अङ्ग है।

(८) नासिक्य (यम) वर्ण पूर्ववर्ती स्वर के अङ्ग नहीं होते हैं[९]। अर्थात् नासिक्य वर्ण परवर्ती स्वर-वर्ण के अङ्ग होते हैं। यथा—रुक्ममुप दधाति[१०] यहाँ ककार में स्थित नासिक्य परवर्ती स्वर अकार का अङ्ग है।

(९) ऊष्म-वर्ण परे रहते स्पर्श-वर्ण भी पूर्ववर्ती स्वर का अङ्ग नहीं होता है यदि वह ऊष्म-वर्ण परवर्ती स्वर का अङ्ग हो[११]। अर्थात् परवर्ती स्वर का अङ्गभूत ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर उससे पूर्ववर्ती स्पर्श भी परवर्ती स्वर का अङ्ग होता है, पूर्ववर्ती का नहीं।

---

१. अनुस्वारः स्वरभक्तिश्च। तै० प्रा० २१।६
२. तै० सं० १।२।६
३. तै० सं० १।६।७
४. नान्तस्थापरमसवर्णम्। तै० प्रा० २१।७
५. तै० सं० ६।१।५;
६. तै० सं० ५।२।८;
७. तै० सं० ६।१।६;
८. तै० सं० १।१।१;
९. नासिक्याः। तै० प्रा० २१।८;
१०. तै० सं० ५।२।७
११. स्पर्शश्चोष्मपर ऊष्मा चेत्परस्य। तै० प्रा० २१।९

## स्वरों का स्वरूप

**उदात्त**—उच्च ध्वनि से उच्चरित होने वाला स्वर उदात्त है[1]। ध्वनि को ऊँचा करने वाले उच्चारणावयवों की स्थिति को बतलाते हुए कहा गया है कि गात्रों का आयाम, स्वर की कठोरता और कण्ठ-विवर की संवृतता ध्वनि को ऊँचा करने वाले साधन हैं[2]। अभिप्राय यह है कि उदात्त स्वर के उच्चारण में गात्रों (उच्चारणावयवों विभिन्न स्थानों) की दीर्घता (आयाम) हो जाती है अथवा उनमें खिचाव (आकर्षण) होता है। ध्वनि कठिन अथवा परुष (कठोर, दारुण) होती है और कण्ठविवर संकुचित होता है। भाष्यकारों ने आयाम, दारुण्य और अणुता पदों पर विचार किया है। माहिषेय ने आयाम का अर्थ फैलाव, दारुण्य का अर्थ दृढ़ता और अणुता का अर्थ कृशता किया है[3]। सोमयार्य ने आयाम का अर्थ दैर्घ्य (लम्बा होना) दारुण्य का अर्थ स्वर की कठिनता और अणुता का अर्थ गलविवर की संवृतता किया है[4]। गोपालयज्वा ने आयाम का अर्थ आकर्षण, दारुण्य का अर्थ ध्वनि की परुषता (कठोरता) और अणुता का अर्थ कण्ठाकाश की संवृतता किया है[5]। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उदात्त ध्वनि का उच्चारण करने में स्वर-तन्त्रियों में खिचाव होता है, ध्वनि कठोर होती है और कण्ठविवर संकुचित अवस्था में होता है। मेरे विचार से उदात्त ध्वनि का उच्चारण करने में गात्रों के आयाम का अभिप्राय विभिन्न स्थान रूप उच्चारणावयवों का विस्तृत हो जाना अथवा उनमें खिचाव आना है। उदात्त का उदाहरण—सः[6]।

**अनुदात्त**—निम्न ध्वनि में उच्चरित होने वाला स्वर अनुदात्त है[7]। तै० प्रा० के अनुसार गात्रों का अन्ववसर्ग (ढीलापन), स्वर की मृदुता और कण्ठ-

---

१. उच्चैरुदात्तः। तै० प्रा० १।३८

२. आयामो दारुण्यमणुता खस्येत्युच्चैः कराणि शब्दस्य। तै० प्रा० २२।९

३. आयामः प्रसारित्वं दारुण्यं दृढत्वं तस्माच्छरीरस्य आयामः कार्यः अङ्गानां दृढत्वम्। खमिति कण्ठः'''' तस्य च कार्श्यम्। तै० प्रा० २२।९ पर मा०भा०

४. आयामो गात्राणां दैर्घ्यम्। दारुण्यं स्वरस्य कठिनता। अणुता खस्य गलविवरस्य संवृतता। तै० प्रा० २२।९ पर त्रि० भा०

५. आयामो गात्राणामाकर्षणम्। दारुण्यं परुषता ध्वनेः। अणुता संवृतता कण्ठाकाशस्य। तै० प्रा० २२।९ पर वै० भा०

६. तै० सं० १:१।२

७. नीचैरनुदात्तः। तै० प्रा० १।३९

विवर की उरुता ( फैलाव ) ध्वनि को नीचा करने वाले साधन हैं[१]। अभिप्राय यह है कि अनुदात्त का उच्चारण करते समय उच्चारणावयव ( स्थान ) ढीले होते हैं, ध्वनि मृदु या कोमल होती है और कण्ठ-विवर फैला हुआ (विकुचित) होता है। माहिषेय ने अन्ववसर्ग का अर्थ संहार, मार्दव का अर्थ प्रस्रंसन ( ढीलापन ) और उरुता का अर्थ स्थूलता किया है[२]। सोमयार्य ने अन्ववसर्ग का अर्थ गात्रों की विस्तृतता, मार्दव का अर्थ स्वर की स्निग्धता और उरुता का अर्थ कण्ठ की स्थूलता किया है[३]। गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार अन्ववसर्ग का अर्थ है गात्रों का स्रंसन (ढीलापन), मार्दव का अर्थ है ध्वनि का मार्दव ( कोमलता ) और उरुता का अर्थ है कण्ठविवर की विस्तीर्णता[४]।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि अनुदात्त का उच्चारण करते समय गात्रों ( उच्चारणावयवों विभिन्न स्थानों ) में खिचाव नहीं होता; वे ढीले हो जाते हैं, उच्चरित ध्वनि स्निग्ध अथवा कोमल सुनाई पड़ती है और कण्ठविवर संकुचित नहीं होता, वह विकुचित ( विस्तृत ) हो जाता है। अनुदात्त का उदाहरण—अ॒व॒द॒ता॒म्[५]। यहाँ 'अवदताम्' पद में आये स्वर-वर्ण अनुदात्त हैं।

शङ्का—उच्च-ध्वनि से उच्चरित होने वाला वर्ण उदात्त है और निम्न ध्वनि से उच्चरित होने वाला वर्ण अनुदात्त है। यहाँ यह शङ्का होती है कि एक ही स्वर किसी के लिए उच्च हो सकता है और किसी के लिये निम्न। अतः जो स्वर किसी के लिए निम्न है उसे उच्च ( उदात्त ) कैसे कहा जा सकता है ? इसी प्रकार जो स्वर किसी के लिए उच्च है उसको निम्न ( अनुदात्त ) कैसे कहा जा सकता है ?

---

१. अन्ववसर्गो मार्दवमुरुता खस्येति नीचैः कराणि। तै० प्रा० २२।१०

२. अन्ववसर्गः संहारः मार्दवं प्रस्रंसनं उरुता तस्मात् शरीरस्य संहारः कार्यः। अङ्गानां प्रस्रंसनं कण्ठस्य स्थूलता एवंयुक्तस्य नीचशब्द उत्पद्यते। तै० प्रा० २२।१० पर मा० भा०

३. अन्ववसर्गः गात्राणां विस्तृतता। मार्दवं स्वरस्य स्निग्धता। खस्य उरुता कण्ठस्य स्थूलता, इत्येतानि साधनानि शब्दस्य नीचैःकराणि, शब्दं नीचैरनुदात्तं कुर्वन्तीत्यर्थः। तै० प्रा० २२।१० पर त्रि० भा०

४. अन्ववसर्गो गात्राणां स्रंसनम्, मार्दवं ध्वनेः, उरुता विस्तीर्णता कण्ठविवरस्येति, एतानि करणानि शब्दं नीचैः कुर्वन्ति अवक्षिप्तं कुर्वन्ति।। तै० प्रा० २२।१० पर वै० भा०

५. तै० सं० १।७।२

समाधान—वस्तुतः वही ध्वनि उच्च है जिसका उच्चत्व सबके लिये तथा नित्य है। इसी प्रकार वही ध्वनि निम्न है जिसका निम्नत्व सबके लिये तथा सदा के लिये है। उपर्युक्त शङ्का का समाधान १।३८ पर भाष्य में गार्ग्य-गोपालयज्वा ने अच्छी प्रकार से किया है—समान स्थान में मूर्धा के समीपवर्ती उच्च भाग में उत्पन्न प्रयत्न से उच्चरित होने वाला स्वर उदात्त (ऊँचे) गुणों से युक्त होने के कारण उदात्त होता है[1]। इसी प्रकार समान स्थान में हृदय के समीप निम्न भाग में उत्पन्न प्रयत्न से उच्चरित होने वाला स्वर अनुदात्त (नीचे) गुणों से युक्त होने के कारण अनुदात्त संज्ञक होता है। अनुदात्त उदात्त विरोधी गुण वाला होता है[2]। इसका अभिप्राय यह है कि उच्चारणकर्ता को समान स्थान पर अर्थात् एक निश्चित स्थान पर अपनी ध्वनि को व्यवस्थित कर लेना चाहिए। उस निश्चित स्थान से उत्पन्न होने पर ही ध्वनि उदात्त अथवा अनुदात्त होगी। सुनने वाला व्यक्ति उच्चारणकर्ता के सुर से परिचित होने पर एक निश्चित स्थान से उत्पन्न ध्वनियों को जानकर उदात्त अथवा अनुदात्त का निर्णय कर लेता है। क्योंकि स्थान-विशेष से उच्चरित होने पर ध्वनि की उच्चता अथवा निम्नता स्पष्ट हो जायेगी। इस प्रकार निश्चित स्थान से उच्च स्वर में उच्चरित स्वर उदात्त होगा और निश्चित स्थान से निम्न ध्वनि में उच्चरित स्वर अनुदात्त होगा।

स्वरित—उदात्त और अनुदात्त स्वरों का समाहार स्वरित है[3]। अर्थात् जिस वर्ण में उदात्त और अनुदात्त दोनों धर्मों का समाहार (समावेश = मिश्रण) होता है उस वर्ण को स्वरित स्वर-युक्त वर्ण कहते हैं। उदाहरण—सू॑श्रीयम्[4]। यहाँ 'सू' स्वरित है। इसमें उदात्त और अनुदात्त दोनों स्वर-धर्मों को समाहृत किया गया है। समाहार या समावेश का अर्थ है—दो धर्मों का एक धर्म में विपरिणमन। इस विपरिणमन में दोनों धर्मों की सत्ता विद्यमान रहती है। ऐसा नहीं होता है कि एक धर्म की सत्ता रह जाय और दूसरे धर्म का लोप

---

१. समानस्थाने मूर्ध्न आसन्ने उपरिभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वर उदात्तगुणकत्वादुदात्तसंज्ञो भवति। तै० प्रा० १।३८ पर वै० भा०

२. समाने स्थाने हृदयासन्ने अधोभागे जातेन प्रयत्नेन उच्चार्यमाणस्वरोऽनुदात्त-गुणकत्वादनुदात्तसंज्ञो भवति। उदात्तविरुद्धगुणोऽनुदात्तः। तै० प्रा० १।३९ पर वै० भा०

३. समाहारस्स्वरितः। तै० प्रा० १।४०     ४. तै० सं० ६।२।४

हो जाय। किन्तु इस विपरिणमन में इतना अवश्य होता है कि दोनों धर्मों के समाहार या मेल से दोनों के मूल सिद्धान्तों पर ही आश्रित किन्तु दोनों से भिन्न एक तीसरे ही धर्म का आविर्भाव होता है। जिस प्रकार त्रपु तथा ताम्र के संयोग से कांस्य की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार उदात्तत्व और अनुदात्तत्व के एकत्र समावेश से स्वरित नामक स्वर की उत्पत्ति होती है[1]। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि कांस्य त्रपु और ताम्र दोनों पर आधृत है किन्तु दोनों से भिन्न है, उसी प्रकार स्वरित उदात्त और अनुदात्त दोनों पर ही आधृत है किन्तु इन दोनों से भिन्न है।

दो स्वरों के मेल से उत्पन्न होने के कारण स्वरित को द्वियम[2] अर्थात् दो स्वरों से युक्त भी कहा गया है। यम शब्द का अर्थ है—स्वर[3]। स्वरित को 'द्वियम', 'स्वार'[4] और 'प्रवण'[5] भी कहा गया है। इस प्रकार तै० प्रा० में स्वरित के लिए तीन अन्य संज्ञाएँ—'द्वियम', 'स्वार' और 'प्रवण' भी प्राप्त होती हैं। प्रवण शब्द स्वरित का पर्याय है[6]। जो प्रकृष्ट रूप से आक्रान्त किया जाता है, फेंका जाता है वह प्रवण है[7]।

**स्वरित के स्वरूप पर विशेष विचार**—स्वरित में उदात्त और अनुदात्त के समाहार होने के विषय में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है। सर्वमान्य है कि समाहार में पहले उदात्त होता है और बाद में अनुदात्त। किन्तु स्वरित में उदात्त तथा अनुदात्त किस परिमाण में समाहृत होते हैं इस विषय पर तै० प्रा० में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं जो इस प्रकार हैं—

---

१. यथा त्रपुताम्रयोः संयोगे सति कांस्यस्य धात्वन्तरस्योत्पत्तिरेवमिहापि द्रष्टव्या। ऋ० प्रा० ३।५ पर उवटभाष्य

२. द्वियम एके द्वियमपरे ता अणुमात्राः। तै० प्रा० १९।३

३. यमशब्दस्स्वरवाची। द्वौ यमौ समाहृतौ यस्मिन् स खलु स्वरितस्वरो द्वियम उच्यते। तै० प्रा० १९।३ पर वै० भा०

४. स्वारविक्रमयोर्दृढप्रयत्नतरः पौष्करसादेः। तै० प्रा० १७।६
'स्वारः' स्वरित इत्यर्थः। तै० प्रा० १७।६ पर त्रि० भा०

५. सर्वः प्रवण इत्येके। तै० प्रा० १।४७

६. प्रवणशब्दः स्वरितपर्यायः। तै० प्रा० १।४७ पर त्रि० भा०

७. प्रकर्षेण वन्यते व्युत्क्षिप्यते इति प्रवणः। तै० प्रा० १।४७ पर वै० भा०

प्रथम मत—उदात्तपर अर्थात् जो स्वरित उदात्त से बाद में आता है उसके आदि में आधी मात्रा उदात्त से उदात्तर उच्चरित होती है[१]। अर्थात् उदात्त से बाद में स्थित स्वरित की प्रथम अर्धमात्रा उदात्ततर उच्चरित होती है। उदाहरण—स इ॒धा॒नः[२]। यहाँ उदात्त स से बाद में वर्तमान स्वरित ( इ॑ ) की प्रथम अर्धमात्रा ( इ॑ ) उदात्ततर उच्चरित होती है। स्वरित की शेष आधी मात्रा उदात्तसम उच्चरित होती है[३]। अर्थात् उदात्तपूर्व स्वरित का ह्रस्वार्धकाल से अवशिष्ट अंश उदात्त के समान उच्चरित होता है। सूत्र में प्रयुक्त समः शब्द से कुछ न्यूनता की प्रतीति होती है अन्यथा स्वरित का अभाव हो जायेगा। यदि यहाँ यह न्यूनता न अभीष्ट होती तो सूत्र में 'उदात्तसमः शेषः' के स्थान पर 'उदात्तः शेषः' पाठ किया जाता और इस स्थिति में स्वरित का अभाव होने लगता। इस प्रकार स्वरित की प्रथम अर्धमात्रा उदात्ततर उच्चरित होती है और शेष अंश उदात्त से नीची ध्वनि में उच्चरित होता है। यदि उदात्तपर स्वरित व्यञ्जनयुक्त है तब भी[४] उसका पूर्ववर्ती प्रथम भाग उदात्ततर तथा परवर्ती शेषभाग उदात्त के समान ( उदात्त से नीचा ) उच्चरित होता है। उदाहरण—तिष्यः॑[५]। यहाँ ष्यः का पूर्ववर्ती भाग उदात्ततर और परवर्ती भाग उदात्त के समान ( उदात्त से कुछ न्यून ) उच्चरित होता है।

द्वितीय मत—इस मत के अनुसार स्वरित का पूर्ववर्ती अंश तो उदात्ततर उच्चरित होता है किन्तु परवर्ती अवशिष्ट अंश के उच्चारण के विषय में दो मत हैं—(१) परवर्ती अवशिष्ट अंश अनुदात्त से नीचा सुना जाता है[६]। इस मत के अनुसार स्वरित का पूर्ववर्ती अंश उदात्ततर और परवर्ती अंश अनुदात्त से नीचा उच्चरित होता है। और (२) परवर्ती अवशिष्ट अंश विकल्प से अनुदात्त के समान उच्चरित होता है[७]। अर्थात् स्वरित का पूर्ववर्ती अंश उदात्ततर और परवर्ती अंश अनुदात्त के समान उच्चरित होता है। विकल्प की व्यवस्था मानने पर यह परवर्ती अंश अनुदात्त से नीचा ( अनुदात्ततर ) उच्चरित होगा।

तृतीय मत—इस मत के अनुसार आचार्य लोग स्वरित का आदि भाग

---

१. तस्यादिरुच्चैस्तरामुदात्तादनन्तरे यावदर्धं ह्रस्वस्य। तै० प्रा० १।४१
२. तै० सं० ४।४।४
३. उदात्तसमश्शेषः। तै० प्रा० १।४२
४. सव्यञ्जनोऽपि। तै० प्रा० १।४३
५. तै० सं० २।२।१०
६. अनन्तरो वा नीचैस्तराम्। तै० प्रा० १।४४
७. अनुदात्तसमो वा। तै० प्रा० १।४५

उदात्त के समान और शेष भाग अनुदात्त के समान उच्चरित करने को कहते हैं[1]। अर्थात् उदात्त और अनुदात्त के मेल से निष्पन्न स्वरित का प्रथमार्ध उदात्त के समान और शेष परवर्ती भाग अनुदात्त के समान उच्चरित होता है। स्वरित का यह उच्चारण उसके उदात्त और अनुदात्त गुणों के स्वरूप पर आश्रित उच्चारण है।

चतुर्थ मत—कतिपय आचार्यों ने स्वरित को स्वयं में पूर्ण माना है और उसे प्रवण कहा है[2]। अर्थात् जो स्वरित स्वर होता है वह सब सम्पूर्ण स्वरित होता है। इसका पूर्ववर्ती कोई अंश उदात्त नहीं होता[3]। यह स्वरित केवल स्वरित होता है अतः इसका कोई अंश उदात्त अथवा अनुदात्त के तुल्य या न्यूनाधिक्य नहीं उच्चरित होता है। तात्पर्य यह है कि उदात्त और अनुदात्त के समाहार से निष्पन्न स्वरित का उदात्त भाग और अनुदात्त भाग समान रूप से उच्चरित होता है। जिस प्रकार उदात्त का अंश उच्चारण होगा उसी प्रकार अनुदात्त अंश का भी उच्चारण किया जायेगा।

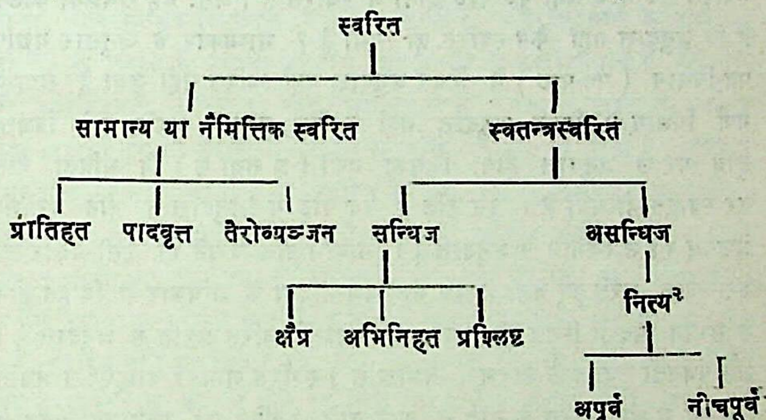
समालोचना—इस प्रकार स्वरित के स्वरूप के विषय में मुख्यतया ये विचार प्राप्त होते हैं—(१) उदात्त से बाद में विद्यमान स्वरित की प्रथम अर्धमात्रा उदात्ततर या उदात्त के समान उच्चरित होती है। परवर्ती अर्धमात्रा के विषय में तीन मत है—स्वरित का परवर्ती अवशिष्ट भाग (१) उदात्तसम (२) अनुदात्ततर अथवा अनुदात्तसम उच्चरित होता है। (३) उदात्त और अनुदात्त अंशों का एक समान उच्चारण किया जाता है। सम्पूर्ण स्वरित स्वर स्वरित ही होता है।

स्वरित के भेद—तै० प्रा० में कुल सात प्रकार के स्वरित स्वरों का प्रतिपादन किया गया है—(१) प्रातिहत (२) पादवृत्त (३) तैरोव्यञ्जन (४) नित्य (५) क्षैप्र (६) अभिनिहत[1] और (७) प्रश्लिष्ट। इन सात स्वरितों को मुख्य रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है—(१) स्वतन्त्र स्वरित और (२) सामान्य या नैमित्तिक स्वरित। स्वतन्त्र स्वरित को दो भागों में विभक्त किया जा सकता

१. आदिरस्योदात्तसमः शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः। तै० प्रा० १।४६
२. सर्वः प्रवण इत्येके। तै० प्रा० १।४७
३. स्वरितस्वरोऽयं सर्वं कृत्स्न एव स्वरितो भवति। न त्वस्य आदितः कश्चिदंश उदात्तसमोऽस्तीत्येके आचार्या उपदिशन्ति।
तै० प्रा० १।४७ पर वै० भा०

है—१. सन्धिज और २. असन्धिज। सन्धिज स्वरितों में क्षैप्र, अभिनिहत और प्रश्लिष्ट सन्धियों से उत्पन्न क्षैप्र, अभिनिहत और प्रश्लिष्ट स्वरितों की गणना की जाती है। असन्धिज स्वरित के अन्तर्गत वह स्वतन्त्र स्वरित आता है जिसे नित्य स्वरित कहा जाता है। सामान्य या नैमित्तिक स्वरित के अन्तर्गत प्रातिहत, पादवृत्त तथा तैरोव्यञ्जन स्वरित आते हैं।

इन सभी स्वरितों को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है—




**सामान्य स्वरित ( नैमित्तिक स्वरित )**—सामान्य पद (एकपद) में अथवा भिन्न-भिन्न पदों में जब उदात्त स्वर के बाद में आने वाला अनुदात्त स्वरित हो जाता है तब उस स्वरित को सामान्य या नैमित्तिक स्वरित कहते हैं। इसको स्वरित होने में पूर्ववर्ती उदात्त कारण (निमित्त) होता है। यदि इसके पूर्व में उदात्त नहीं है तो इस स्वरित की सत्ता नहीं है। यथा—स इधानः[३]। ( सं० पा० ) सः। इधानः ( प० पा० ) प्रस्तुत स्थल में 'इ' पर जो स्वरित है, वह पूर्ववर्ती 'स' के उदात्तत्व पर आश्रित है। 'स' उदात्त न होने पर 'इ' स्वरित न होता। अतः इस स्वरित के पूर्व में उदात्त का होना आवश्यक है। अतः इसे उदात्तपूर्व स्वरित भी कहते हैं। पाश्चात्य विद्वान् उदात्त पर आश्रित होने के कारण इस स्वरित को आश्रित स्वरित कहते हैं।

---

१. तै० प्रा० में अभिनिहित स्वरित के लिए 'अभिनिहत' संज्ञा का प्रयोग किया गया है—तस्मादकारलोपेऽभिनिहतः। तै० प्रा० २०।४

२. नित्य एव स्वाभाविकस्वरितः अन्ये स्वरिता नैमित्तिकाः। तै० प्रा० १४।२९ पर वै० भा०

३. तै० सं० ४।४।४

तै० प्रा० में सामान्य स्वरित का विधान करते हुए कहा गया है कि उदात्त स्वर से परवर्ती अनुदात्त स्वर स्वरित हो जाता है[1]। सोमयार्य के अनुसार वर्ण-विभाग की अवस्था में अनुदात्त होने पर ही पुनः उन ( वर्णों ) की संहिता होने पर इस नियम से प्रउ॑गम्[2] इत्यादि उदाहरणों में स्वरितत्व जानना चाहिए[3]। इसका अभिप्राय यह है कि प्रउ॑गम् इत्यादि स्थलों में स्थित स्वरित सं० पा० तथा प० पा० दोनों में स्वरित है। अतः यह समझना कठिन है कि अनुदात्त यहाँ कैसे स्वरित हो गया है ? भाष्यकार के अनुसार यद्यपि पद-विभाग ( पद-पाठ ) में स्थित अनुदात्त यहाँ स्वरित नहीं हुआ है तथापि वर्ण विभाग में स्थित अनुदात्त यहाँ स्वरित हुआ है अर्थात् प्र से विभक्त होने पर उ अनुदात्त होगा जिसका वर्णों ( प्र तथा उ ) की संहिता होने पर स्वरित हो गया है। इस दृष्टि से पद पाठ में अनुदात्त न होने पर भी प्रउगम् वा उ स्वभाव से अनुदात्त है। गार्ग्यगोपालयज्वाने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त करते हुए कहा है कि यहाँ वर्ण-संहिता के अधिकार में विहित होने से समान पद में स्थित भी उदात्त से परवर्ती स्वरित प्रकृति से अनुदात्त है। उसे पूर्ववर्ती उदात्त के कारण ( निमित्त से ) स्वरित जानना चाहिए[4]। अर्थात् एक पद में भी उदात्त के बाद में आने वाले स्वरित को स्वभावतः अनुदात्त समझना चाहिए। यहाँ यह शङ्का होती है कि एक पद में आने वाले स्वरित को स्वाभाविक स्वरित माना जाना चाहिए। इसका समाधान करते हुए गार्ग्य-गोपालयज्वा ने कहा है कि केवल नित्य स्वरित ही स्वाभाविक स्वरित है अन्य स्वरित तो नैमित्तिक ( निमित्त के कारण ) स्वरित हैं[5]।

---

१. उदात्तात्परोऽनुदात्तः स्वरितम्। तै० प्रा० १४।२९

२. तै० सं० ४।४।२

३. वर्णविभागावस्थायामनुदात्तत्वे सत्येव पुनस्तत्संहितायामेव तल्लक्षण-स्वरितत्वं, 'प्रउगम्' इत्यादौ विज्ञेयम्। तै० प्रा० १४।२९ पर त्रि० भा०

४. ···इहापि वर्णसंहिताऽधिकारे विधानात् समानपदस्थादपि उदात्तात्परस्स्व-रितः प्रकृत्याऽनुदात्तः, तस्य पूर्वोदात्तनिमित्तकं स्वरितत्वमिति वेदितव्यम्। तै० प्रा० १४।२९ पर वै० भा०

५. ननु प्रउगमुक्थम् इत्यादौ स्वाभाविकस्वरितः। नैतदेवम्। नित्य एव स्वा-भाविकस्वरितः। अन्ये स्वरिता नैमित्तिकाः।
तै० प्रा० १४।२९ पर वै० भा०

तै० प्रा० के अनुसार व्यञ्जन से व्यवहित होने पर भी उदात्त से बाद में स्थित अनुदात्त स्वरित हो जाता है[1]। किन्तु उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर स्वरित का निषेध हो जाता है[2]। इसका अभिप्राय यह है कि उदात्त से परवर्ती एक, दो या बहुत से व्यञ्जनों से व्यवहित भी अनुदात्त स्वरित हो जाता है[3]। किन्तु ऐसे स्वरित के बाद में उदात्त या स्वरित होने पर वह बिना व्यञ्जन के व्यवधान के या व्यञ्जन से व्यवहित होने पर भी स्वरित नहीं रह जाता, अपितु मूलरूप (अनुदात्त) में हो जाता है। अग्निवेश्यायन आचार्य का मत है कि उदात्त से परवर्ती अनुदात्त उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर भी स्वरितत्व के निषेध को नहीं प्राप्त करता है[4]। अर्थात् उदात्त या स्वरित बाद में आने पर भी उदात्त से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है, मूलरूप (अनुदात्त) में नहीं आता है। स्वरित के इस रूप (उदात्तपूर्व अनुदात्त के स्वरितत्व) पर विचार करते हुए तै० प्रा० में कतिपय आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि सभी प्रकार का स्वरित नहीं होता है[5]। अर्थात् उदात्त या स्वरित बाद में होने पर केवल उदात्त से परवर्ती अनुदात्त के ही स्वरित होने का निषेध नहीं होता है अपितु क्षैप्रादि सभी स्वरितों का उदात्त या स्वरित बाद में होने पर निषेध होता है। सोमयार्य ने इस सूत्र की व्याख्या में इसे वाजसनेयी ब्राह्मण के लिए उपयुक्त मत मानते हुए उदाहरण के रूप में उन्हीं का उल्लेख करते हुए कहा है कि वाजसनेयि-ब्राह्मण में दो ही स्वर हैं—उदात्त और अनुदात्त[6]। इस लिए यहाँ इसके अनुयायी आचार्य सभी प्रकार के स्वरितों का निषेध बताते हैं। किन्तु गार्ग्यगोपालयज्वा ने इस मत से असहमति व्यक्त करते हुए कहा है कि इस सूत्र में वाजसनेयि-

---

१. व्यञ्जनान्तर्हितोऽपि। तै० प्रा० १४।३०

२. नोदात्तस्वरितपरः। तै० प्रा० १४।३१

३. एकेन द्वाभ्यां बहुभिर्वा व्यञ्जनैर्व्यवहितोऽप्युदात्तपरोऽनुदात्तस्स्वरितमश्नुते। तै० प्रा० १४।३० पर वै० भा०

४. नाग्निवेश्यायनस्य। तै० प्रा० १४।३२

५. सर्वो नेत्येके। तै० प्रा० १४।३३

६. तथाहि वाजसनेयिब्राह्मणे द्वावेव स्वरावुदात्तश्चानुदात्तश्च। तै० प्रा० १४।३३, पर त्रि० भा०

शाखा वालों की दृष्टि में सभी स्वरितों का अभाव कहा गया है, यह कहना ठीक नहीं है[1]।

वास्तव में वाजसनेयिब्राह्मण (शतपथब्राह्मण) में दो ही स्वर—उदात्त और अनुदात्त प्रयुक्त होते हैं जिन्हें 'भाषिक' संज्ञा से अभिहित किया गया है। किन्तु यजुर्वेद के मन्त्रों में तीनों—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित-स्वर होते हैं[2]। अतः गार्ग्यगोपालयज्वा का उपर्युक्त मत कि तै० प्रा० १४।३३ से यह नहीं समझना चाहिए कि वाजसनेयि-शाखा में स्वरित का अभाव है, सर्वथा समीचीन है। इसी प्रकार सोमयार्य का कथन भी यथार्थ है कि वाजसनेयि-ब्राह्मण में दो ही स्वर-उदात्त और अनुदात्त होते हैं। तै० प्रा० में सात प्रकार के स्वरितों के साथ उदात्त और अनुदात्त प्राप्त होते हैं। अतः निश्चय ही तै० प्रा० १४।३२, ३३ यहाँ अभीष्ट सूत्र नहीं हैं[3]।

**सामान्य स्वरित के भेद**—सामान्य स्वरित को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) प्रातिहत (२) पादवृत और (३) तैरोव्यञ्जन।

**प्रातिहतस्वरित**—प्रातिहत[4] स्वरित की सत्ता केवल तै० प्रा० में प्राप्त होती है[5]। भिन्न-भिन्न पद में वर्तमान उदात्त यदि पूर्वपदान्त में हो और पदादि अनुदात्त बाद में हो तो संहिता-विधि से उत्पन्न स्वरित प्रातिहत स्वरित कहलाता

---

१. न तु वाजसनेयके सर्वस्वरिताभावोऽस्मिन्सूत्रे कथ्यत इति युक्तं वक्तुम्। तै० प्रा० १४।३३ पर वै० भा०

२. त्रीन्। वा० प्रा० १।१२८। उदात्तानुदात्त स्वरितान् यजुर्वेदे त्रीन् स्वरानाहुः। वा० प्रा० १।१२८ पर उवटभाष्य

३. नेदं सूत्रद्वयमिष्टम्। तै० प्रा० १४।३३ पर त्रि० भा० और वै० भा०

४. प्रातिहत शब्द प्रति पूर्वक हन् धातु से निष्पन्न होता है जिसका शाब्दिक अर्थ है हटा दिया गया। पदान्त और पदादि के मध्य के व्यवधान को हटा दिया जाता है जिससे पूर्वपदान्त उदात्त से परवर्ती पदादि अनुदात्त स्वरित हो जाता है।

५. कौहलिशिक्षा में भी प्रातिहत स्वरित को स्वरित का एक भेद माना गया है। जब स्वरित पूर्ववर्ती उदात्त के साथ एकादिष्ट होने के कारण होता है तब उसे प्रातिहत स्वरित कहते हैं—एकादिष्ट उदात्तेन नित्यः प्रातिहताभिधः। कौ० शि० १५।

है[१]। इस प्रकार दो पदों में से जब पूर्वपद अन्तोदात्त हो और उत्तरपदादि अनुदात्त हो तथा उसके ठीक बाद कोई उदात्त या स्वरित न हो तो वह पदादि अनुदात्त संहिता में स्वरित हो जाता है, यह स्वरित प्रातिहत स्वरित कहलाता है। यथा—मा ते॑ अस्याम्[२] सं० पा० मा। ते॒। अ॒स्याम्। (प० पा०)—यहाँ दो पदों (मा और ते) में से पूर्वपदान्त मा उदात्त है और उत्तरपदान्त ते अनुदात्त है अतः संहिता में उस अनुदात्त को प्रातिहत स्वरित हो गया है।

पादवृत्तस्वरित—तै० प्रा० के अनुसार पद-विवृत्ति होने पर पादवृत्त स्वरित होता है[३]। दो स्वरों में सन्धि की स्थिति होने पर भी सन्धि न होने का नाम विवृत्ति है[४]। पद के मध्य में स्थित विवृत्ति के ऊपर जो स्वरित होता है, उसे पादवृत्त स्वरित कहते हैं। यथा—प्रउ॑गमु॒क्थम्।[५]

विवृत्ति दो प्रकार की होती है–(१) अन्त.पदविवृत्ति और (२) पदविवृत्ति। जहाँ विवृत्ति समानपद या एकपद में होती है वहाँ अन्तःपद विवृत्ति होती है वैदिकाभरणकार ने इस प्रकार की विवृत्ति के स्थल में पादवृत स्वरित माना है। दो पदों के मध्य में होने वाली विवृत्ति को पदविवृत्ति कहते हैं वै० ने दो पदों के मध्य की विवृति के स्थल में प्राप्त स्वरित को प्रातिहत स्वरित के अन्तर्गत माना है।

पादवृत्त स्वरित के स्वरूप पर तै० प्रा० के भाष्यकारों ने विस्तृत विचार किया है। जहां माहिषेय और सोमयार्य ने समान मत व्यक्त किया है वहीं गार्ग्यगोपालयज्वा ने पूरी तरह भिन्न मत व्यक्त किया है।

माहिषेय और सोमयार्य का मत—इन्होंने दो पदों में जो विवृत्ति होती है, उसे पदविवृत्ति कहा है और उस पदविवृत्ति में जो स्वरित होता है उसे पादवृत्त स्वरित माना है[६]। यथा—स इं॑धा॒नः[७] सं०पा० सः। इ॒धा॒नः। (प०पा०) यहाँ स

---

१. अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तमथ चेत्संहितेन स्वर्यते स प्रातिहतः। तै० प्रा० २०।३

२. तै० सं० १।६।१२

३. पदविवृत्त्यां पादवृत्तः। तै० प्रा० २०।६

४. स्वरयोरसन्धिर्विवृत्तिः। तै० प्रा० २०।६ पर वै० भा०

५. तै० सं० ४।४।१२

६. पदयोर्विवृत्तिः पदविवृत्तिः तस्यां यः स्वर्यते सः 'पादवृत्तः' वेदितव्यः। यथा—'ता अ॑स्मात्' (२।१।१२)। 'स इं॑धा॒नः' (४।४।४)। 'य उ॑पु॒सदः' (६।२।४)। २०।६ पर त्रि० भा०

७. तै० सं० ४।४।४

और इधानः—इन दो पदों के बीच में विवृत्ति है। अतः यहाँ जो स्वरित है वह पादवृत्त स्वरित है।

गार्ग्यगोपालयज्वा का मत—इनके मत में एक पद में वर्तमान दो स्वरों के बीच जो विवृत्ति होती है, उसमें बाद वाले स्वर का स्वरित पादवृत्त स्वरित होता है[1]। यथा—प्रउगमुक्थम्[2]। इस प्रकार इन्होंने अन्तःपदविवृत्ति में ही पादवृत्त स्वरित स्वीकार किया है। दो पदों की विवृत्ति में पादवृत्तस्वरित का निषेध करते हुए गार्ग्यगोपालयज्वा ने कहा है कि 'पदविवृत्यां पादवृत्तः[3]' इस सूत्र में आये 'पदविवृत्यां' का अर्थ 'पदयोः विवृत्तिः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार करना उचित नहीं हैं। दो पदों में स्थित विवृत्ति में जो स्वरित है उसे पादवृत्त स्वरित मानना ठीक नहीं। ऐसा मानने पर लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त हो जायगा क्योंकि यह लक्षण प्रातिहत स्वरित पर भी लागू हो जायेगा। भाष्यकार का स्पष्ट मत है कि आचार्यों ने अतिव्याप्ति दोषयुक्त—लक्षण नहीं किया है। यदि सूत्रकार को दो पदों की विवृत्ति में पादवृत्त स्वरित बताना अभीष्ट होता तो वे निश्चय ही प्रातिहत स्वरित को भी पादवृत्त का ही एक अवान्तर भेद मानते, किन्तु ऐसा नहीं है। उन्होंने पादवृत्त स्वरित से भिन्न प्रातिहत स्वरित भी माना है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पादवृत्त स्वरित दो पदों में न होकर, एक पद के मध्य में वर्तमान अबाधरूप से उत्पन्न विवृत्ति में होता है[4]। इस प्रकार स इधानः[5] य ईजान[6] य उपसदः आदि स्थलों में पादवृत्त स्वरित नहीं होगा।

---

१. पदे विवृत्तिः पदविवृत्तिः। ...... पदमध्यवर्तिन्याः विवृत्तेरुपरि यस्स्वरितः, स खलु पादवृत्तसंज्ञो भवति। 'प्रउगमुक्थम्'। (तै० प्रा० २०।६ वै०)

२. तै० सं० ४।४।२,    ३. तै० प्रा० २०।६

४. नन्वयमपि पादवृत्त एव, पदयोर्विवृत्तिः पदविवृत्तिरिति व्युत्पत्तेः। नैतदस्ति, पदयोर्विवृत्तौ स्वरितस्य प्रातिहतलक्षणग्रस्तत्वात् न चायं तस्यापवाद इति युक्तम्, इहासङ्कीर्णलक्षणप्रणयनात्। विधेर्ह्यपवादः न लक्षणस्य। न हि लक्षणमतिव्याप्तम् कुर्वन्त्याचार्याः। अथापि कथंचित्प्रातिहतस्यावान्तर-भेदत्वं पादवृत्तस्य कल्प्यते। तन्न। अबाधेनोपपत्तौ बाधस्यान्याय्यत्वात्, तदनन्तरानुपदेशाच्च। तै० प्रा० २०।६ पर वै० भा०

५. ४।४।४    ६. तै० सं० ३।४।६

**समालोचना**—भाष्यकारों के उपर्युक्त मतों में किसका मत ठीक है, यह विचार करना आवश्यक है। तै० प्रा० में सात प्रकार के स्वरितों का विधान प्राप्त होता है—क्षैप्र, नित्य, प्रातिहत, अभिनिहत, प्रश्लिष्ट, पादवृत्त और तैरोव्यञ्जन। यहाँ उल्लेखनीय है कि ऋग्वेदप्रातिशाख्य, वाजसनेयिप्रातिशाख्य और कुछ शिक्षा-ग्रन्थों में प्रातिहत स्वरित का विधान नहीं किया गया है। तैत्तिरीयप्रातिशाख्य इसका स्वतन्त्ररूप से उल्लेख करता है। अनेक पदों में संहिता होने पर पूर्वपदान्त उदात्त और उत्तरपदादि अनुदात्त मिलकर स्वरित हो जायँ तो इस प्रकार के स्वरित को प्रातिहत स्वरित कहते हैं। गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार जब दो पदों में उत्तरपदादि की प्रातिहत स्वरित संज्ञा हुई तो पदों की विवृत्ति में होने वाले उत्तरपदादि स्वरित की प्रातिहत से भिन्न पादवृत्त संज्ञा नहीं हो सकती, उसकी भी प्रातिहत संज्ञा ही होगी। मेरे विचार से गार्ग्य-गोपालयज्वा का मत अधिक समीचीन है। पादवृत्त स्वरित को एक पद में मानना उचित है। सोमयार्य का यह मत कि दो पदों के बीच में स्थित विवृत्ति में जो स्वरित होता है वह पादवृत्त स्वरित है, उचित नहीं प्रतीत होता क्योंकि दो पदों की विवृत्ति में होने वाला स्वरित अथवा दो पदों में विवृत्तिरहित स्वरित प्रातिहत स्वरित ही होगा। प्रातिहत स्वरित तै० प्रा० का अपना विशिष्ट स्वरित है। ऋग्वेदप्रातिशाख्य में जिस पदवृत्ति सन्धि का उल्लेख किया गया है वह तै० प्रा० के पादवृत्त से भिन्न है। वह अन्तःपद से भिन्न दो पदों की विवृत्ति में प्राप्त होती है[1]। ऋ० प्रा० में पादवृत्त में दोनों पदों के बीच निश्चित रूप से विवृत्ति होनी चाहिए किन्तु तै० प्रा० में विहित प्रातिहत स्वरित, जो दो पदों में होता है, दो पदों के मध्य विवृत्ति रहने पर अथवा न रहने पर भी सांहितिक धर्म के आधार पर प्राप्त होता है। अतः तै० प्रा० में जिस पादवृत्त स्वरित का विधान है उसे एकपद में होने वाली विवृत्ति में उपपन्न मानना चाहिए तथा प्रातिहत स्वरित को दो पदों में सांहितिक धर्म के आधार पर प्राप्त स्वरित मानना चाहिए।

**तैरोव्यञ्जन स्वरित**—उदात्तपूर्व स्वरित तैरोव्यञ्जन स्वरित होता है[2]। अर्थात् एकपद में स्थित उदात्त से परवर्ती व्यञ्जनव्यवहित स्वरित को

---

१. उदात्तपूर्वं नियतं विवृत्या ··· ।
स्वर्यतेऽन्तर्हितं न चेदुदात्तस्वरितोदयम्। ऋ० प्रा० ३।१७

२. उदात्तपूर्वस्तैरोव्यञ्जनः। तै० प्रा० २०।७

तैरोव्यञ्जन स्वरित कहते हैं। यथा —'युञ्जन्त्यस्य[1]' (सं० पा०) युञ्जन्ति। अस्य। (प० पा०)।

सोमयार्य ने तैरोव्यञ्जन के उदाहरण में 'प्रउगम्[2]' को भी उद्धृत किया है। पादवृत्त स्वरित के प्रसंग में उन्होंने इस पद में पादवृत्त स्वरित का निषेध किया है। इसे तैरोव्यञ्जन स्वरित का उदाहरण मानने का यह कारण हो सकता है कि यहाँ एकपद में उदात्त के बाद स्वरित आया है। सोमयार्य के मत में व्यञ्जनव्यवहित होना या न होना तैरोव्यञ्जन संज्ञा का आधार नहीं है। एकपदस्थ उदात्त के बाद स्वरित का होना तैरोव्यञ्जन है[3]। एकपद में उदात्त के बाद स्वरित व्यञ्जन से व्यवहित भी हो सकता है और अव्यवहित भी। 'युञ्जन्त्यस्य'—यह व्यञ्जनव्यवहित का उदाहरण है और 'प्रउगम्'—यह व्यञ्जन से अव्यवहित का उदाहरण है। गार्ग्यगोपालयज्वा ने 'तैरोव्यञ्जन' का अर्थ व्यञ्जन का व्यवधान माना है। उनके मत में समानपद में उदात्त-पूर्वक व्यञ्जन से व्यवहित जो स्वरित होता है उसे तैरोव्यञ्जन स्वरित कहते हैं[4]। गार्ग्यगोपालयज्वा ने 'प्रउगम्[5]' को पादवृत्तस्वरित का उदाहरण माना है क्योंकि 'प्रउगम्' एक पद है और 'प्र' तथा 'उ' बीच में विवृत्ति होने के कारण यहाँ पादवृत्त स्वरित है; तैरोव्यञ्जन स्वरित नहीं। तैरोव्यञ्जन स्वरित में तो व्यञ्जन का व्यवधान होना आवश्यक है।

मेरे विचार से गार्ग्यगोपालयज्वा का मत ठीक है क्योंकि प्रउगम्[5] को एकपद मानकर उसमें पादवृत्त स्वरित की संगति तो हो जाती है किन्तु व्यञ्जन से व्यवहित न होने के कारण यहाँ तैरोव्यञ्जन स्वरित की प्राप्ति नहीं होती है। यदि सूत्रकार को व्यञ्जन का व्यवधान तैरोव्यञ्जन स्वरित में अभीष्ट न होता तो सूत्र (उदात्तपूर्वस्तैरोव्यञ्जनः[6]) में तैरोव्यञ्जन पद न प्राप्त

---

१. तै० सं० ७।४।२०; २. तै० सं० ४।४।२

३. तस्मादेकपदस्थोदात्तपूर्वो यः स्वरितः स तैरोव्यञ्जनो वेदितव्यः। यथा — युञ्जन्त्यस्य। वस्व्यसि। स इन्द्रोऽमन्यत। तदश्वोऽभवत्। प्रउगम्। तं त्वष्टाऽऽधत्त। तै० प्रा० २०।७ पर त्रि० भा०

४. तैरोव्यञ्जन इत्यन्वर्थसंज्ञा।...पदे समानपदे उदात्तपूर्वको व्यञ्जन-व्यवहितो यस्य स्वरितः स तैरोव्यञ्जनसंज्ञः भवति।

तै० प्रा० २०।७ पर वै० भा०

५. तै० सं० ४।४।२ ६. तै० प्रा० २०।७

होता। अतः सोमयार्य का यह कथन तो ठीक है कि एक पद में स्थित उदात्तपूर्व जो स्वरित है वह तैरोव्यञ्जन स्वरित है किन्तु उदाहरण (प्रउंगम्) द्वारा व्यञ्जन से अव्यवहित स्वरित को तैरोव्यञ्जनस्वरित मानना भ्रमोत्पादक है।

**स्वतन्त्र स्वरित**—एक पद में स्वतन्त्र स्वरित अकेला होता है। एक पद में एक से अधिक उदात्त वर्ण हो सकते हैं किन्तु ऐसा कोई पद नहीं जिसमें एक से अधिक स्वरितों की सत्ता हो। स्वतन्त्र स्वरित को अपनी सत्ता के लिये पूर्ववर्ती उदात्त स्वर पर आश्रित नहीं रहना पड़ता। पूर्ववर्ती उदात्त पर आश्रित न होने के कारण ही इस स्वरित को स्वतन्त्र स्वरित कहते हैं। स्वतन्त्र स्वरित अनुदात्तपूर्व (नीचपूर्व) या अपूर्व होता है। इस स्वरित को मुख्यतया दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) सन्धिज और (२) असन्धिज।

तै० प्रा० में स्वतन्त्र स्वरित अथवा सन्धिज तथा असन्धिज संज्ञाएँ प्रयुक्त नहीं हुई हैं किन्तु विषय को भलीभाँति क्रमबद्ध रूप से समझने के लिए स्वरूप की दृष्टि से यहाँ उक्त संज्ञाओं का व्यवहार किया गया है।

**सन्धिज स्वरित**—दो स्वरों की सन्धि से उत्पन्न होने के कारण प्रस्तुत स्वरित को सन्धिज ( = सन्धि से उत्पन्न) स्वरित कहते हैं। तै० प्रा० में पूर्वपदान्त उदात्त तथा उत्तरपदादि अनुदात्त की सन्धि से उत्पन्न स्वर तीन अवस्थाओं में स्वरित होता है—

**प्रथम अवस्था**—पूर्वपदान्त उदात्त धर्मवान् इवर्ण अथवा उकार तथा उत्तरपदादि अनुदात्त धर्मवान् असमान स्वर की सन्धि से जो स्वर निष्पन्न होता है वह स्वरित होता है।

**द्वितीय अवस्था**—पूर्वपदान्त उदात्त ए या ओ तथा उत्तरपदादि अनुदात्त अ की सन्धि से जायमान स्वर स्वरित होता है।

**तृतीय अवस्था**—पूर्वपदान्त उदात्त धर्मवान् ह्रस्व उ तथा उत्तरपदादि अनुदात्त धर्मवान् ह्रस्व उ की सन्धि से जायमान स्वर स्वरित होता है।

उपर्युक्त तीनों सन्धियों से उत्पन्न स्वरितों को क्रमशः क्षैप्र, अभिनिहत और प्रश्लिष्ट संज्ञाएँ हैं।

**क्षैप्र स्वरित**—तै० प्रा० में स्वर परे रहते इवर्ण और उकार को क्रमशः यकार और वकार हो जाने का विधान किया गया है[1]। परवर्ती पदादि स्वर

---

१. इवर्णोकारौ यवकारौ। तै० प्रा० १०।१५

अविकृत रहता है। इस सन्धि को ऋ० प्रा० में क्षैप्र सन्धि कहा गया है[1]। इस क्षैप्र सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न होने वाले स्वरित को क्षैप्र स्वरित कहते हैं। उदात्त इवर्ण और उकार का यकार और वकार होने पर जिस स्वरित की प्राप्ति होती है उसे क्षैप्र स्वरित कहते हैं[2]। तै० प्रा० में इस स्वरित का विधान करते हुए कहा गया है कि उदात्त इवर्ण और उकार से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है[3]। इस प्रकार अनुदात्त असमान स्वर वर्ण बाद में होने पर पूर्वपदान्त उदात्त स्वर और उकार का यकार और वकार होने पर जो स्वरित निष्पन्न होता है उसे क्षैप्र स्वरित कहते हैं। यथा—(१) व्यॆवैनेन[4]। वि (इति) एव एनेन। (प० पा०)। यहाँ पूर्वपदान्त उदात्त इकार की परवर्ती असमान स्वर वर्ण अनुदात्त एकार के साथ सन्धि होने से स्वरित यकार हो गया हैं। सन्धि के परिणामस्वरूप प्राप्त यह स्वरित ही क्षैप्र स्वरित है। (२) कृधी स्वस्मान्[5]। कृधि। सु (इति)। अस्मान्। (प० पा०) यहाँ पूर्वपदान्त उदात्त उकार की उत्तरपदादि अनुदात्त अकार के साथ सन्धि होने से स्वरित वकार हो गया है। अतः इस सन्धि से उत्पन्न होने वाला स्वरित क्षैप्र[6] स्वरित है।

अभिनिहत स्वरित—एकारपूर्व अथवा ओकारपूर्व अकार का लोप हो जाता है[7]। तै० प्रा० में पूर्वरूप सन्धि को अकारलोप द्वारा बताया गया है। ऋ० प्रा० ने इसे 'अभिनिहित' संज्ञा से व्यक्त किया है। वहाँ पदादि अकार का पदान्त एकार अथवा ओकार के साथ एकीभाव होने पर अभिनिहित सन्धि

---

१. ते क्षैप्राः प्राक्तोदयाः। ऋ० प्रा० २।२३

२. इवर्णोकारयोर्यवकारभावे क्षैप्र उदात्तयोः। तै० प्रा० २०।१

३. उदात्तयोश्च परोऽनुदात्तः स्वरितम्। तै० प्रा० १०।१६

४. तै० सं० ५।३।११

५. तै० सं० ४।७।१५

६. इवर्ण तथा उकार की अपेक्षा य्, व् का उच्चारण करने में क्षिप्रता अर्थात् शीघ्रता होती है, इसलिए असमान स्वर बाद में रहने पर इ, ई और उ क्रमशः य् और व् में परिणत हो जाते हैं। इस दशा में उच्चारण करने में क्षिप्रता होने के कारण उसे क्षैप्र कहा जाता है।

७. लुप्यते त्वकार एकार ओकार पूर्वः। तै० प्रा० ११।१

होती है। इस सन्धि के परिणाम के रूप में ए या ओ विद्यमान रहते हैं[1]। तै० प्रा० का अकारलोप भी इसी अभिनिहित[2] सन्धि का पर्याय है। इस सन्धि के परिणामस्वरूप पूर्वपदान्त उदात्त धर्मवान् ए या ओ से मिलकर उत्तरपदादि अनुदात्त धर्मवान् अकार लोप को प्राप्त कर लेता है (पूर्वरूप हो जाता है)। तब जायमान स्वर (ए या ओ) स्वरित हो जाता है। इसी को अभिनिहत स्वरित कहते हैं। तात्पर्य यह है कि भिन्न पद में स्थित उदात्त से परवर्ती अनुदात्त अकार का लोप होने पर जिस स्वरित का विधान किया गया है वह अभिनिहत स्वरित है[3]। तै० प्रा० में इस स्वरित का विधान करते हुए कहा गया है कि उदात्त एकार या ओकार पूर्व में होने से परवर्ती अनुदात्त अकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती उदात्त स्वर स्वरित हो जाता है[4]। इस स्वरित को अभिनिहत स्वरित कहते हैं। यथा—तेऽब्रुवन्[5]। ते। अब्रुवन्। (प० पा०) (२) सोऽब्रवीत्[6]। सः। अब्रवीत्। (प० पा०) इन स्थलों में उदात्त एकार और ओकार पूर्वपदान्त में है और अनुदात्त अकार उत्तरपदादि में है। सन्धि के परिणामस्वरूप अकार का लोप हो गया है और उदात्त ए और ओ स्वरित हो गये हैं। ये अभिनिहत स्वरित हैं।

**प्रश्लिष्ट स्वरित**—'ऊभाव' में अर्थात् दीर्घ ऊ होने पर जो स्वरित होता

---

१. अथाभिनिहितः सन्धिरेतैः प्राकृतविकृतैः।
एकीभवति पादादिरकारस्तेऽत्र संधिजाः॥ ऋ० प्रा० २।३४

२. अभिनिहित संज्ञा का प्रयोग तै० प्रा० में नहीं किया गया है। तै० प्रा० में 'अभिनिहत' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। 'अभिनिहत' शब्द अभि और नि उपसर्ग पूर्वक 'हन्' धातु से क्त प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। 'अभि' का अर्थ है ओर या समीप और 'निहत' का अर्थ है दब जाना या समाप्त हो जाना। तात्पर्य यह है कि एकार या ओकार के बाद में अकार होने पर अकार दब जाता है, उसका लोप हो जाता है। एकार या ओकार ही अवशिष्ट रह जाता है।

३. तस्मादकारलोपेऽभिनिहतः। तै० प्रा० २०।८

४. तस्मिन्ननुदात्ते पूर्वं उदात्तस्स्वरितम्। तै० प्रा० १२।९

५. तै० सं० २।५।१, ६. तै० सं० २।१।२

है वह प्रश्लिष्ट[१] स्वरित होता है[२]। तै० प्रा० में यह विधान किया गया है कि पूर्वपदान्त उकार का उत्तरपदादि उकार के साथ ऊभाव ( दीर्घ ऊ ) होने पर प्रश्लिष्ट सन्धि होती है। सन्धि के फलस्वरूप दोनों स्वर जिस स्वरित को प्राप्त करते हैं[३], वह प्रश्लिष्ट स्वरित होता है। प्रश्लिष्ट सन्धि के फलस्वरूप जायमान स्वरित को प्रश्लिष्ट स्वरित कहते हैं। किन्तु इस नाम से यह नहीं समझना चाहिए कि जहाँ-जहाँ प्रश्लिष्ट सन्धि होगी वहाँ वहाँ प्रश्लिष्ट स्वरित भी होगा। किन्तु इतना अवश्य है कि जहाँ-जहाँ प्रश्लिष्ट स्वरित होगा वहाँ-वहाँ निश्चित रूप से प्रश्लिष्ट सन्धि होगी। ऋ० प्रा० में दो ह्रस्व इकारों की प्रश्लिष्ट सन्धि होने पर प्रश्लिष्ट स्वरित होने का विधान प्राप्त होता है[६]। तै० प्रा० में उकारों के ऊभाव में प्रश्लिष्ट स्वरित बताया गया है। गार्ग्यगोपाल-यज्वा ने कहा है कि 'ऊभावे च[५]' यह गुण-प्रधान विधि है। गुणीस्वर का विधान 'दीर्घं समानाक्षरे सवर्णे[८]' सूत्र में कर दिया गया है[९]। 'दीर्घं समानाक्षरे०' सूत्र का अर्थ है—समानाक्षर सवर्ण परे रहते दोनों एक दीर्घ आदेश को प्राप्त करते हैं। अर्थात् समानाक्षर ( अवर्ण, इवर्ण और उवर्ण ) अपना सवर्ण परे होने पर दोनों मिलकर एक दीर्घ हो जाते हैं। यहाँ समानाक्षर और सवर्ण दोनों गुणी स्वर हैं और दीर्घत्व गुण है। 'ऊभावे च' सूत्र में दीर्घत्व गुण की प्रधानता बतायी गयी है। अर्थात् पूर्ववर्ती और परवर्ती उकारों की ही सन्धि से जो दीर्घत्व (ऊ) होता है उसी में प्रश्लिष्ट स्वरित होता है अन्य दीर्घत्व के स्थलों में तै० प्रा० में प्रश्लिष्ट स्वरित नहीं विहित है। इस प्रकार तै० प्रा० में पूर्वपदान्त उदात्त उकार और उत्तरपदादि अनुदात्त उकार की प्रश्लिष्ट सन्धि से

---

३. प्रश्लिष्ट शब्द 'प्र' उपसर्ग पूर्वक 'श्लिष्' धातु में 'क्त' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है। श्लिष् धातु का अर्थ है मिल जाना, एकरूप हो जाना। प्रकर्षेण श्लिष्यते इति प्रश्लेषः अर्थात् दो स्वरों के एक हो जाने को 'प्रश्लेष' कहते हैं। प्रश्लेष से निष्पन्न होने से प्रश्लिष्ट कहलाता है।

३. ऊभावे प्रश्लिष्टः। तै० प्रा० २०।५

४. ऊभावे च। तै० प्रा० १०।१७

६. इकारयोश्च प्रश्लेषे…। ऋ० प्रा० ३।१३

७. तै० प्रा० १०।१७ ८. तै० प्रा० १०।२

९. गुण प्रधानोऽयं विधिः। गुणिस्वरस्य 'दीर्घं समानाक्षरे ( १०।२ )' इति विहितत्वात्। तै० प्रा० १०।१७ पर वै० भा०

निष्पन्न ऊ प्रश्लिष्ट स्वरित होता है। यथा—सून्नीयमिव[1] (सं० पा०) सु। उन्नीयम्। इव (प० पा०)। यहाँ पदान्त उदात्त उ तथा पदादि अनुदात्त उ प्रश्लिष्ट सन्धि के फलस्वरूप स्वरित ऊ हो गये हैं। यह स्वरित (ऊँ) प्रश्लिष्ट स्वरित है।

असन्धिज स्वरित—स्वतन्त्र स्वरित के अन्तर्गत सन्धिज स्वरित से पृथक् एक वर्ग है जिसे असन्धिज स्वरित कहा जा सकता है। इस असन्धिज स्वरित के अन्तर्गत केवल नित्य स्वरित आता है।[2] यह स्वरित संहिता, पद और जटापाठों में सर्वत्र विद्यमान रहता है।[3] नित्यस्वरित दो प्रकार का होता है—

(१) अपूर्व और

(२) अनुदात्तपूर्व (नीचपूर्व)

पदपाठ में अनुदात्तपूर्व या अपूर्व यकार और वकार से युक्त अक्षर (स्वर) जहाँ स्वरित होता है उसे नित्य स्वरित जानना चाहिए[4]। तात्पर्य यह है कि यकार अथवा वकार युक्त जिस स्वरित स्वर से पूर्व में अनुदात्तस्वर हो अथवा कोई भी स्वर न हो उसे नित्यस्वरित कहते हैं। अपूर्व नित्य स्वरित का उदाहरण–(१) न्यञ्चम् चिनुयात्[5] सं०पा० न्यञ्चम्। चिनुयात्। (प०पा०)। (२) क्वजगती च[6] सं०पा० क्व। जगती। च। (प०पा०)। इन स्थलों में क्रमशः यकार और वकार से युक्त अक्षर स्वरित हैं। इस स्वरित से पूर्व में कोई स्वर नहीं है। इसलिये यहाँ अपूर्व नित्य स्वरित है। अनुदात्तपूर्व (नीचपूर्व) स्वरित का उदाहरण—(१) वायव्यम्[7]। वायव्यम्। (प० पा०)। (२) ततो बिल्वः[8]। ततः बिल्वः। (प० पा०)। इन उदाहरणों में क्रमशः यकार तथा वकार से युक्त स्वर स्वरित हैं। इनके पूर्व में अनुदात्त हैं। इसलिये यहाँ अनुदात्तपूर्व

---

१. तै० सं० ६।२।४

३. नित्य एवेति सर्वत्र जानीयात्। सर्वत्रेति संहितापदजटास्वित्यर्थः। तै० प्रा० २०।२ पर त्रि० भा०

४. सयकारवकारं त्वक्षरं यत्र स्वर्यते स्थिते पदेऽनुदात्तपूर्वेऽपूर्वे वा नित्य इत्येव जानीयात्। तै० प्रा० २०।२

५. तै० सं० ५।५।३; ६. तै० सं० ७।१।४; ७. तै० सं० १।८।७;

८. तै० सं० २।१।८

नित्य स्वरित है। जटापाठ में भी नित्य स्वरित अपरिवर्तित रहता है। यथा—क्वास्यास्य क्वं क्वास्य[1] (ज० पा०)

इस प्रकार स्पष्ट है कि सं० पा०, प० पा०, जटापाठ—सभी स्थलों में नित्य-स्वरित अपरिवर्तित रूप में विद्यमान रहता है। सामान्य स्वरित अथवा आश्रित स्वरित की भाँति इसकी सत्ता पूर्ववर्ती उदात्त पर आश्रित नहीं रहती। इसलिए यह कभी भी अनुदात्त के रूप में दिखलाई नहीं पड़ता है। यह हमेशा यकार और वकार से युक्त स्वर का ही धर्म होता है। सूत्रस्थ[2] 'एव' पद से कति य विद्वान् 'न्यंञ्चम्'[3] और 'न्यंङ्'[4] जैसे स्थलों में होने वाले स्वरित को क्षैप्र स्वरित की भाँति उदात्त और अनुदात्त की सन्धि से निष्पन्न मानते हैं। उनके अनुसार न्यंञ्चम् = नि + अञ्चम्। यहाँ क्षैप्र स्वरित की संभावना होती है। गार्ग्यगोपालयज्वा ने इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा है कि 'न्यञ्चम्' और 'न्यङ्' इत्यादि पदों में व्याकरणशास्त्र के उक्त अवयव के आधार पर विभाग करके क्षैप्रता की संभावना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि तै० प्रा० में उन्हीं यकार और वकार को क्षैप्रलक्षण माना गया है जो पदविभाग से सिद्ध पदों की सन्धि से निष्पन्न होते हैं। अतः 'न्यंङ्' या 'न्यंञ्चम्' इत्यादि में आने वाले स्वरित क्षैप्र सन्धि से उत्पन्न क्षैप्रस्वरित न होकर नित्य स्वरित ही हैं[5]।

**स्वरित का उच्चारण**—स्वरित का उच्चारण करने में किस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिए, इसका विधान चार सूत्रों[6] द्वारा किया गया है। क्षैप्र और नित्य स्वरित का उच्चारण करने में दृढ़तर प्रयत्न होता है।[7] तै० प्रा० २०।१० में अभिनिहत स्वरित के उच्चारण में भी दृढ़तर प्रयत्न विहित है[8]। इस प्रकार क्षैप्र, नित्य और अभिनिहत—इन तीनों स्वरितों के उच्चारण में दृढ़तर प्रयत्न

---

१. तै० सं० ५।७।८; २. तै० प्रा० २०।२; ३. तै० सं० ५।५।३;
४. तै० सं० २।४।१०

५. एवकारः 'न्यङ्'। 'न्युप्तकेशाय'। 'न्यञ्चम्'। 'कुह्वं' इत्यादौ क्षैप्रतामवधारयति। तत्र हि मूलशास्त्रोक्तादवयवविभागात् क्षैप्रता संभाव्यते। अस्मच्छास्त्रेषु पदकारकल्पितविभागसिद्धानामेव पदानां सन्धौ यवकारभावः क्षैप्रलक्षणमिष्यते। तस्मात् 'न्यंङ्'। 'न्यंञ्चम्' इत्यादिस्वरिता अपि नित्या एव। तै० प्रा० २०।२ पर वै० भा०

६. तै० प्रा० २०।९-१२ ७. क्षैप्रनित्ययोर्दृढतरः। तै० प्रा० २०।९
८. अभिनिहते च। तै० प्रा० २०।१०

की प्राप्ति होती है। ऐसी स्थिति में यह शङ्का होती है कि जब इन तीनों स्वरितों का उच्चारण-प्रयत्न समान है तो एक के स्थान पर अनेक सूत्रों की रचना क्यों की गयी ? इस शङ्का का समाधान करते हुए सोमयार्य ने कहा है—सूत्र में अन्वाचय ( गौण-समुच्चय ) अर्थ में विद्यमान चकार दृढमात्र का बोधक है। अभिनिहत स्वरित के उच्चारण में केवल दृढ प्रयत्न होता है दृढतर नहीं —यह पृथक् सूत्र के निर्माण से प्रतीत होता है[1]। तात्पर्य यह है कि सूत्र में प्रयुक्त चकार के द्वारा पूर्ण रूप से दृढतरत्व का ग्रहण नहीं करना चाहिए अपितु दृढमात्र का ग्रहण करना चाहिए। इसीलिए सूत्रकार ने अभिनिहत स्वरित के उच्चारण में दृढ प्रयत्न को बताने के लिए पृथक् सूत्र का निर्माण किया है।

इससे स्पष्ट होता है कि क्षैप्र और नित्य स्वरितों का उच्चारण दृढतर प्रयत्न से होता है और अभिनिहत स्वरित का उच्चारण दृढ प्रयत्न से किया जाता है।

प्रश्लिष्ट और प्रातिहत स्वरितों के उच्चारण में मृदुतर प्रयत्न होता है[2]। साथ ही, तैरोव्यञ्जन और पादवृत्त स्वरितों के उच्चारण में अल्पतर प्रयत्न होता है[3]। इस प्रकार तै० प्रा० में क्षैप्र तथा नित्य स्वरितों का उच्चारण दृढतर प्रयत्न से, अभिनिहत स्वरित का दृढ प्रयत्न से और प्रश्लिष्ट तथा प्रातिहत स्वरितों का उच्चारण मृदुतर प्रयत्न से और तैरोव्यञ्जन तथा पादवृत्त स्वरितों का उच्चारण अल्पतर प्रयत्न से होता है।

प्रचय—उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित के अतिरिक्त प्रचय स्वर का भी तै० प्रा० में विधान किया गया है। संहिता में स्वरित से परवर्ती अनुदात्तों को प्रचय संज्ञा होती है और वे प्रचय स्वर उदात्त के समान सुने जाते हैं[4]। इस नियम का अभिप्राय यह है कि संहिता-पाठ में स्वरित के बाद में आने वाले

---

१. अन्वाचये वर्तमानः चकारो दृढमात्रं बोधयति। अभिनिहते प्रयत्नो दृढ स्यात्। न तु दृढतर इति पृथक्सूत्रारम्भात् प्रतीयते।
—तै० प्रा० २०।१० पर त्रि० भा०

२. प्रश्लिष्टप्रातिहतयोर्मृदुतरः। तै० प्रा० २०।११

३. तैरोव्यञ्जनपादवृत्तयोरल्पतरः। तै० प्रा० २०।१२

४. स्वरितात्संहितायामनुदात्तानां प्रचय उदात्तश्रुतिः। तै० प्रा० २१।१०
९

एक अनुदात्त, दो अनुदात्त अथवा अनेक अनुदात्तों का प्रचय हो जाता हैं और ये प्रचय स्वर उदात्त स्वर की भाँति उच्चरित होते है। 'उदात्तश्रुति' का अर्थ है—उदात्त के समान सुनाई पड़ना। उदात्तश्रुति से प्रचय के उच्चारण के स्वरूप का बोध होता है अर्थात् 'प्रचय' का उच्चारण उदात्त के समान सुनाई पड़ता है। उदात्त के समान सुनाई पड़ने से प्रचय का अपर नाम 'उदात्तश्रुति' भी है।

तै० प्रा० में प्रणव के उच्चारण के प्रसंग में प्रचय के लिए 'धृतप्रचय' संज्ञा का व्यवहार किया गया है—कौण्डिन्य आचार्य के मत में प्रणव धृतप्रचय होता है[1]। सोमयार्य के अनुसार 'धृतप्रचय' नाम से 'प्रचय' का ही कथन हुआ है। जिस प्रकार अर्थ-भेद का अभाव होने पर भी प्रयोग-भेद होता है उसी प्रकार यहाँ पर आचार्य ने प्रयोग की कुशलता को प्रकट किया है। उदाहरणार्थ भीमसेन और भीम, भामा और सत्यभामा, पिधान और अपिधान, दीप और प्रदीप आदि में अर्थ-भेद न होने पर भी प्रयोग-भेद प्राप्त होता है[2]। वैदिकाभरणकार ने १८।३ पर भाष्य में स्पष्ट किया है कि 'प्रणव' में ओकार प्रचय होता है और उसका अपरपर्याय 'धृत' है[3]।

प्रचय—[4] स्वर मूलतः अनुदात्त होता है। पूर्ववर्ती स्वरित के प्रभाव से जब अनुदात्त अनुदात्त उच्चरित न होकर उदात्त की तरह उच्चरित होने लगता है तब उसे प्रचय कहते हैं। प्रचय कोई स्वतन्त्र स्वर नहीं है अपितु परिस्थिति विशेष में अनुदात्त ही प्रचय हो जाता है। उदात्त पूर्व में होने पर परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है तथा स्वरित पूर्व में होने पर अनुदात्त प्रचय हो जाता है। पूर्ववर्ती उदात्त के प्रभाव से एक ही अनुदात्त स्वरित होता है जबकि पूर्ववर्ती स्वरित के कारण एक अथवा अनेक भी अनुदात्त प्रचय हो जाते हैं। उदाहरण—अग्ने। दुध्र। गुह्य। किंशिल। वन्य। या। ते। (प० पा०)।

१. धृतप्रचयः कौण्डिन्यः। तै० प्रा० १८।३

२. पदद्वयेनाऽप्यनेन नामधेयमभिधीयते। तथा हि—अर्थभेदाभावेऽपि प्रयोगभेदोऽस्तीति प्रयोगचातुर्यमाचार्यः प्रकटयति। यथा—भीमसेनो भीमः भामा सत्यभामा पिधानमपिधानं दीपः प्रदीप इत्यादि।

—तै० प्रा० १८।३ पर त्रि० भा०

३. कौण्डिन्यस्य मते ओकारस्य धृतापरपर्यायः प्रचयो नाम स्वरो भवति।

४. विभिन्न ग्रन्थों में प्रचय के लिए उदात्तमय, उदात्तश्रुति, एकश्रुति, उच्चश्रुति तान, निचित, प्रचित और एकस्वर संज्ञाएँ भी प्राप्त होती हैं।

अग्ने दुग्ध्रं गह्य किंशिल वन्य या ते[1] (सं० प्रा०) यहाँ 'ग्ने' के स्वरित होने से परवर्ती आठ अनुदात्त प्रचय हो गये हैं।

प्रचय का निषेध—उदात्त अथवा स्वरित बाद में होने पर अनुदात्त प्रचय नहीं होता है[2]। अभिप्राय यह है कि संहिता में स्वरित के बाद में स्थित अनुदात्त से परे यदि उदात्त या स्वरित हो तो अनुदात्त प्रचय नहीं होता, अनुदात्त ही रहता है। उदाहरण—(१) इमं मे वरुण श्रुधी, हवम्[3]। (२) पावया चिद्वसवो वीर्या चिन्[?]। इन स्थलों में स्वरित से बाद में स्थित अनुदात्त परवर्ती उदात्त तथा स्वरित के कारण प्रचय नहीं हुए हैं।

उदात्त तथा प्रचय—संहिता में उदात्त तथा प्रचय दोनों अचिह्नित रहते हैं और प्रचय का उच्चारण भी उदात्त के समान किया जाता है। इस समानता के साथ-साथ दोनों स्वरों में अन्तर भी है जैसे—(१) उदात्त एक स्वतन्त्र स्वर है जबकि प्रचय का स्वतन्त्र रूप से कोई अस्तित्व नहीं है। (२) उदात्त कभी भी परिवर्तित नहीं होता है जबकि प्रचय परिवर्तित हो जाता है। उदात्त के बाद कोई भी स्वर हो, उसके स्वरूप पर प्रभाव नहीं पड़ता है। किन्तु उदात्त अथवा स्वरित बाद में आने पर प्रचय के स्वरूप पर प्रभाव पड़ता है, वह अनुदात्त हो जाता है। इसी कारण प्रचय की वास्तविकता को जानने के लिये स्वरित से बाद में आने वाले एक या अनेक अनुदात्त स्वरों के बाद में उदात्त अथवा स्वरित होने पर पूर्ववर्ती प्रचय को निश्चित रूप से अनुदात्त कर देते हैं। इस अवस्था में यदि प्रचय को अनुदात्त नहीं किया जायगा तो प्रचय और उदात्त में कोई भेद नहीं रह जायगा क्योंकि अचिह्नित होने से प्रचय में उदात्त का भ्रम हो सकता है।

विक्रम-स्वर—तै०प्रा० में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय के अतिरिक्त विक्रम स्वर का भी उल्लेख किया गया है[4]। कतिपय विशिष्ट अवस्थाओं में अनुदात्त ही विक्रम संज्ञक स्वर हो जाता है। 'जहाँ दो स्वरितों अथवा दो उदात्तों अथवा उन दोनों में से एक ओर उदात्त अथवा स्वरित हो तो उन दोनों

---

१. तै० सं० ५।५।९
२. नोदात्तस्वरितपरः। तै० प्रा० २१।११
३. तै० सं० २।१।११
४. तै० प्रा० के अतिरिक्त अन्य किसी प्रातिशाख्य में न तो विक्रम संज्ञा का उल्लेख किया गया है और न उसका विधान ही किया गया है।

के मध्य में वर्तमान अनुदात्त विक्रम संज्ञक होता है[१]। इस नियम के आधार पर निम्न स्थलों में विक्रम स्वर की उपलब्धि होती है—

(१) दो स्वरित स्वरों के बीच में स्थित अनुदात्त विक्रम संज्ञक होता है। यथा—योऽस्य स्वोऽग्निस्तमपि[२]। यहाँ स्वरित 'यो' और 'स्वो' के मध्य में स्थित अनुदात्त 'स्य' विक्रम स्वर है।

(२) दो उदात्त स्वरों के बीच में वर्तमान अनुदात्त विक्रम संज्ञा को प्राप्त करता है यथा—वोढवे[३]। यहाँ दो उदात्तों वो और वे के मध्य में वर्तमान अनुदात्त ढ (अ) विक्रम स्वर है।

(३) पूर्ववर्ती उदात्त और उत्तरवर्ती स्वरित स्वरों के बीच में वर्तमान अनुदात्त विक्रम कहलाता है। यथा—तस्य क्व सुवर्गो लोक[४]। यहाँ उदात्त 'त' और स्वरित 'क्व' के मध्य में स्थित अनुदात्त 'स्य' विक्रम स्वर है।

(४) पूर्ववर्ती स्वरित तथा उत्तरवर्ती उदात्त के बीच में स्थित अनुदात्त की विक्रम संज्ञा होती है। यथा धन्वना गाः[५]। यहाँ स्वरित 'न्व' और उदात्त 'गाः' के बीच में वर्तमान अनुदात्त 'ना' विक्रम स्वर है।

आचार्य कौण्डिन्य का मत है कि प्रचयपूर्व अनुदात्त भी विक्रम संज्ञक होता है[६]। तात्पर्य यह है कि पूर्ववर्ती प्रचय स्वर तथा उत्तरवर्ती उदात्त अथवा स्वरित के मध्य में स्थित अनुदात्त भी विक्रम संज्ञक होता है। यथा—(१) पर्यैवदतां या[७]। यहाँ पूर्ववर्ती प्रचय 'द' और उत्तरवर्ती उदात्त 'या' के मध्य में स्थित अनुदात्त 'ताम्' विक्रम संज्ञक है। (२) उपरिष्टाल्लक्ष्मा याज्या[८]। यहाँ पूर्ववर्ती प्रचय 'मा' और उत्तरवर्ती स्वरित 'ज्या' के मध्य में स्थित अनुदात्त 'या' विक्रम संज्ञक है।

विक्रम स्वर के उच्चारण में होने वाले प्रयत्न का विधान करते हुए तै०

---

१. स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचं स्यादुदात्तयोर्वाऽन्यतरतो वोदात्तस्वरितयोः स विक्रमः। तै० प्रा० १९।१

२. तै० सं० ६।२।४;  ३. तै० सं० १।६।२;

४. तै० सं० २।६।५;  ५. तै० सं० ४।६।६

६. प्रचयपूर्वश्च कौण्डिन्यस्य। तै० प्रा० १९।२

७. तै० सं० १।७।२;  ८. तै० सं० २।६।२

प्रा० में पौष्करसादि आचार्य का मत उद्धृत किया गया है। उनके अनुसार 'विक्रम' के उच्चारण में अतिशय दृढ प्रयत्न होता है[1]।

**प्रचय तथा विक्रम**—ये दोनों स्वर स्वभावतः अनुदात्त हैं किन्तु दोनों में भेद भी है—

(१) जहाँ तक संख्या का प्रश्न है, स्वरित से परवर्ती एक, दो अथवा अनेक अनुदात्तों की प्रचय संज्ञा होती है किन्तु स्वरित से परवर्ती एक ही अनुदात्त विक्रम संज्ञक होता है।

(२) उदात्त अथवा स्वरित परे रहते ठीक पूर्ववर्ती अनुदात्त प्रचय नहीं होता जबकि उदात्त अथवा स्वरित बाद में रहने पर ही ठीक पूर्ववर्ती अनुदात्त विक्रम संज्ञक होता है।

(३) स्वरित से ही बाद में स्थित अनुदात्त प्रचय संज्ञक होता है किन्तु विक्रम के सम्बन्ध में ऐसा नियम नहीं है। उदात्त से परवर्ती भी अनुदात्त की विक्रम संज्ञा होती है अर्थात् उदात्त तथा स्वरित दोनों प्रकार के स्वरों से परवर्ती अनुदात्त विक्रम संज्ञक होता है।

### कम्प

**स्वरूप तथा स्थल**—तै० प्रा० में 'कम्प' का विधान उन्नीसवें अध्याय के तीसरे और चौथे सूत्रों में किया गया है किन्तु 'कम्प' संज्ञा का प्रयोग नहीं प्राप्त होता है। जिस स्थल में एक स्वरित के बाद दूसरा स्वरित विद्यमान हो उस स्थल में पूर्ववर्ती स्वरित के परवर्ती अंश में अणु ($\frac{1}{4}$) मात्रा पर कम्प होता है—ऐसा कुछ आचार्यों का मत है[2]। तै० सं० में इस स्वरितात्मिका प्रकृति में कम्प मान्य है[3]।

सोमयार्य के मतानुसार, यम शब्द स्वरित का पर्यायवाची है। जहाँ दो स्वरित निरन्तर ( अव्यवहित रूप में ) वर्तमान होते हैं उस द्वियम में तथा दो स्वरित बाद में हैं जिससे उस त्रियम में जो स्वरिततत्त्व होते हैं वे सब अन्त की चौथाई मात्रा में अनुदात्त ( अभिनिहत ) उच्चरित होते हैं ( =कम्प के साथ

---

१. स्वारविक्रमयोर्दृढप्रयत्नतरः पौष्करसादेः। तै० प्रा० १७।६

२. द्वियम एके द्वियमपरे वा अणुमात्रः। तै० प्रा० १९।३

३. तस्यामेव प्रकृतौ। तै० प्रा० १९।४

स्वरित होते हैं )—ऐसा कतिपय आचार्य मानते हैं[1]। 'तस्यामेव प्रकृतौ'[2] सूत्र के भाष्य में उन्होंने कहा है कि दो स्वरितों के स्थल में पूर्ववर्ती स्वरित की और जहाँ दो स्वरित बाद में है अर्थात् तीन स्वरित वाले स्थल में पूर्व पूर्ववर्ती दो स्वरितों की अन्तिम अणुमात्रा अनुदात्त होती है। द्वियम में दोनों स्वरितों और त्रियम में तीनों स्वरितों में अणुमात्रा अनुदात्त नहीं होती है[3]।

गार्ग्यगोपालयज्वा ने सोमयार्य से मतभेद करते हुए कहा है कि यम शब्द स्वर का वाचक है। दो यम ( स्वर ) जिस स्वर में समाहृत होते हैं उस स्वरित स्वर को द्वियम कहते हैं। स्वरित परे होने पर उस पूर्वस्वरित में कतिपय आचार्य ( =शिक्षाकार ) अनुदात्त की इच्छा करते हैं। वह अनुदात्त सम्पूर्ण स्वरित का न होकर उसके अन्तिम अणुमात्रा परिमाण का होता है। 'अणु' का अर्थ है ह्रस्वमात्राकाल का चतुर्थांश अर्थात् एक चौथाई मात्राकाल[4]। "तस्यामेव प्रकृतौ"[5] सूत्र के भाष्य में उनका मत है कि तै० सं० में उसी स्वरितात्मिका प्रकृति में ही कम्प (¾ मात्राकाल अनुदात्त अंश ) होता है। स्वरित का उतने कम्प अंश से पूर्व वाला अंश स्वरितप्रकृति में स्थित रहता है[6]। तात्पर्य

१. यमशब्दः स्वरितपर्यायः। द्वौ यमौ यत्र देशे नैरन्तर्येण वर्तेते, स 'द्वियमः' तस्मिन्, द्वियमः परो यस्मादसौ 'द्वियमपरः' तस्मिंश्च त्रियमे सति याः स्वरितप्रकृतयः 'ताः' सर्वा अन्ततः 'अणुमात्राः' अभिनिहता भवन्तीति 'एके' मन्यन्ते। तै० प्रा० १९।३ पर त्रि० भा०

२. तै० प्रा० १९।४

३. द्वियमस्थले पूर्वस्यामेव तस्यां स्वरितप्रकृतावणुमात्रयाऽपि निहतत्वं भवति। द्वियमपरे तु स्थले पूर्वयोरेव प्रकृत्योरणुमात्रया निहतत्वं भवति। न तु ताः सर्वा अणुकार्यभाज इत्येवकारो बोधयति। तै० प्रा० १९।४ पर त्रि० भा०

४. यम शब्दस्स्वरवाची। द्वौ यमौ समाहृतौ यस्मिन्स खलु स्वरितस्वरो द्वियम उच्यते। तस्मिन् स्वरितपरे एके आचार्याः शिक्षाकाराः नीचमिच्छन्ति। तत्किं कृत्स्नस्य पूर्वस्वरितस्य नीचत्वमिष्यते? नेत्युच्यते। ता अणुमात्राः, ताश्च नीचप्रकृतयोऽणुपरिमाणा भवन्ति। अणुर्नाम ह्रस्वकालस्य चतुर्थोऽशः। तै० प्रा० १९।३ पर वै० भा०

५. तै० प्रा० १९।४

६. असमस्तसंहितायां तस्यामेव स्वरितात्मिकायामेव प्रकृतौ कम्पो भवति। तथा भूताकम्पांशात्पूर्वांशस्तु तस्यामेव स्वरितप्रकृतौ अवतिष्ठते॥
—तै० प्रा० १९।४ पर वै० भा०

यह है कि तै० सं० में दो स्वरितों के स्थल में पूर्ववर्ती स्वरित की अन्तिम चौथाई मात्रा अनुदात्त होती है और तत्काल बाद स्वरित होने से वह अनुदात्त भाग कम्प हो जाता है अर्थात् उसका उच्चारण कम्प के साथ किया जाता है।

गार्ग्यगोपालयज्वा ने त्रिस्वरित के स्थल में कम्प का उल्लेख नहीं किया है। इसका कारण यह है कि जिस प्रकार दो स्वरित के स्थल में पूर्ववर्ती स्वरित की अन्तिम चौथाई मात्रा कम्प के साथ उच्चरित होती है। उसी प्रकार अनेक स्वरित के स्थल में भी पूर्ववर्ती स्वरित की अन्तिम चौथाई मात्रा पर कम्प होता है। अतः उसका पृथक् सूत्र द्वारा विधान किया जाना आवश्यक नहीं प्रतीत होता है। वास्तव में १९।३ सूत्र द्वारा सूत्रकार ने शिक्षाचार्यों के मत को बताया है और १९।४ सूत्र द्वारा तै० सं० में होने वाले दो स्वरितों में से पूर्ववर्ती स्वरित में स्थित कम्प का विधान किया है। स्वरित से परे स्वरित होने पर जिस अनुदात्त 'कम्प' की बात होती है, वह अनुदात्त क्या सम्पूर्ण स्वरित का ही होता है अथवा उसके किसी अंश विशेष का। इसी को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार ने 'ता अणुमात्राः' पदों का प्रयोग किया है अर्थात् दो स्वरितों में से पूर्ववर्ती स्वरित के अणुमात्रा परिमाण (एक चौथा भाग) में ही अनुदात्त होता है, अणुमात्रा परिमाण अनुदात्त ही कम्प के साथ उच्चरित होता है, शेष अंश नहीं। इसी प्रकार १९।४ में सूत्रकार ने तै० सं० में स्थित कम्प का विधान किया है। जो कम्प १९।३ में विहित दो स्वरित वाली प्रकृति में होता है वही कम्प तै० सं० में होता है अर्थात् स्वरित बाद में होने पर पूर्व स्वरित की अन्तिम चौथाई मात्रा अनुदात्त होती है; कम्प के साथ उच्चरित होती है किन्तु शेष भाग अपनी प्रकृति में ही रहता है। शेष भाग स्वरित ही उच्चरित होता है। शिक्षा-ग्रन्थों में अन्य शाखाओं में प्रयुक्त उदात्तपर स्वरित का विधान-प्राप्त होता है। जहाँ उदात्त परे होने पर स्वरित का चौथाई मात्राकाल (अनुदात्त) कम्प तो होता है किन्तु कम्प से पूर्ववर्ती भाग उदात्त उच्चरित होता है वह अपनी प्रकृति में नहीं रहता है अर्थात् स्वरित रूप में उच्चरित नहीं होता है[1]।

स्वरित का आदि वाला अंश जो उदात्त होता है उसका उच्चारण उदात्त के समान और स्वरित का जो अवशिष्ट परवर्ती अनुदात्त अंश है उसका उच्चारण

---

१. यत्तूदात्तपरस्य स्वरितस्य कम्पत्वं कम्पात्पूर्वांशस्योदात्तत्वं च शिक्षायां स्मर्यते तत् कूश्माण्डादिविषयं शाखान्तरविषयं च वेदितव्यम्।

—वै० प्रा० १९।४ पर वै० भा०

अनुदात्त के समान किया जाता है[1]। यतः स्वरित में उदात्त तथा अनुदात्त का समाहार होता है अतः स्वरित के बाद में स्वरित आने पर पूर्ववर्ती स्वरित के उदात्तांश तथा परवर्ती स्वरित के उदात्तांश के मध्य में अनुदात्त अंश का उच्चारण करने में कठिनाई होती है। चूंकि स्वरित के प्रथम उदात्तांश का उदात्त उच्चारण करने के पश्चात् अवशिष्ट अनुदात्त अंश का उच्चारण करने के लिए, तुरन्त बाद ही ध्वनि को नीचे उतरना पड़ता है पुनः परवर्ती स्वरित के उदात्तांश का उच्चारण करने के लिए ध्वनि को तुरन्त ही चढ़ाना पड़ता है, अतः पूर्व स्वरित के अनुदात्त अंश का उच्चारण एक झटके के साथ होता है। इस झटके को ही कम्प कहते हैं।

तै० सं० में कम्प को प्रदर्शित करने के लिए स्वरित वर्ण के बाद में १ अङ्क लिखा जाता है और इस अङ्क के नीचे अनुदात्त का चिह्न (१̱) लगाया जाता है। स्वरित वर्ण के ऊपर स्वरित चिह्न (।) लगाया जाता है।

कम्प के उदाहरण—तै० सं० में कम्प के स्थल अत्यल्प हैं। यतः स्वतंत्र स्वरित के चार भेद हैं—नित्यस्वरित, क्षैप्रस्वरित अभिनिहत स्वरित और प्रश्लिष्ट स्वरित, अतः इनके आधार पर कम्प के भी चार भेद होते हैं—(१) नित्यकम्प (२) क्षैप्रकम्प (३) अभिनिहत कम्प और (४) प्रश्लिष्टकम्प। एकमात्रिक स्वर पर कम्प होने पर ह्रस्व कम्प और द्विमात्रिक स्वर पर कम्प होने पर दीर्घ कम्प जानना चाहिए।

नित्यकम्प—(१) वी॒र्यं॑१̱ व्यं॑भजन्त।[2] (२) म॒नु॒ष्यों॑१̱ ह्यं॑ष[3]। इन दोनों स्थलों में स्वरित बाद में होने पर पूर्व नित्य स्वरित कम्प के साथ उच्चरित होंगे।

क्षैप्रकम्प—ह्यं॑षों॑ऽभि।[4] यहाँ ह्यं॑ पर जो स्वरित है वह क्षैप्र स्वरित है। उसके पश्चात् स्वरित होने से क्षैप्र स्वरित कम्पयुक्त हो गया है। ह्रस्व क्षैप्रकम्प का उदाहरण तै० सं० में नहीं मिलता।

अभिनिहत कम्प—ते॑१̱ऽन्यों॑ऽन्यम्[5] यहाँ 'ते॑' अभिनिहत स्वरित है और उसके पश्चात् स्वरित (न्यों॑) आया है। अतः अभिनिहत स्वरित का उच्चारण कम्प के साथ होता है।

---

१. आदिरस्योदात्तसमश्शेषोऽनुदात्तसम इत्याचार्याः। तै० प्रा० १।४६
२. तै० सं० ६।६।८ ३. तै० सं० ६।३।२
४. तै० सं० ६।१।१४ ५. तै० सं० ६।१।५

प्रश्लिष्ट कम्प—तैत्तिरीय संहिता में प्रश्लिष्ट स्वरित पर कम्प का उदाहरण नहीं मिलता है।

कम्प के विवरण से स्पष्ट होता है कि कम्प कोई स्वतन्त्र स्वरित नहीं अपितु विशिष्ट परिस्थिति में स्वरित की ही एक विशेष अवस्था है। कम्प सर्वत्र स्वतन्त्र स्वरित पर ही होता है क्योंकि अन्य स्वरित (समान्य स्वरित से बाद में स्वरित्त) होने की स्थिति नहीं बनती। उदात्तपूर्व जो स्वरित है वह उदात्त या स्वरित परे रहते स्वरित नहीं रहता, अनुदात्त हो जाता है[1]। इस प्रकार यहाँ तै० सं० में नित्य, क्षैप्र और अभिनिहत—इन स्वतन्त्र स्वरितों पर ही कम्प प्राप्त होता है।

कम्प का निषेध—विक्रम संज्ञक[2] स्वर के होने पर कम्प नहीं होता। विक्रम-विधि में यह अणुकार्य नहीं होता हैं[3]। स्वरित बाद में होने पर पूर्ववर्ती स्वरित की एक चौथाई (अणु) मात्रा अनुदात्त होती है या कम्प के साथ उच्चरित होती हैं किन्तु विक्रम,विधि में जहाँ दो स्वरितों के मध्य में अनुदात्त रहता है[4], कम्प नहीं होता। विक्रम रूप अनुदात्त स्वरित का अंश नहीं होता—पृथक् स्वर होता है अतः उसकी चौथाई मात्रा में कम्प नहीं होता। कम्प तब होता जबकि अनुदात्त पृथक् स्वर न होकर स्वरितांश होता किन्तु ऐसा नहीं है इसलिए विक्रम में कम्प का निषेध होता है।

सोमयार्य ने विक्रमविधि में कम्प का निषेध बताते हुए कहा है कि विक्रमा का उच्चारण करने में दृढ प्रयत्न होता है किन्तु कम्प में दृढप्रयत्न नहीं होता[5]।

गार्ग्यगोपालयज्वा ने विक्रम में कम्प के निषेध का उल्लेख नहीं किया है किन्तु 'न पूर्वशास्त्रे' सूत्र के आधार पर पूर्वशास्त्र अर्थात् व्याकरण में कम्प की विधान नहीं होता, यह बताया है। व्याकरण-प्रधान शिक्षाशास्त्र में कम्प का विधान बताया गया है। अतः यह आशङ्का हो सकती है कि व्याकरण में भी

---

१. नोदात्तस्वरितपरः। तै० प्रा० १४।३१ २. द्रष्टव्य, पृष्ठ १२१

३. न पूर्वशास्त्रे। तै० प्रा० १९।५

४. स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचं स्यात्" स विक्रमः। तै० प्रा० १९।१

५. 'पूर्वशास्त्रं' नाम विक्रमविधिः। तस्मिन्नेतदणुकार्यं न भवति।...विक्रमस्य दृढप्रयत्नत्वात्, कम्पस्य तदभावात् इति। तै० प्रा० १९।५ पर त्रि० भा०

कम्प का विधान हो। उसका समाधान यहाँ किया गया है कि व्याकरण में कम्प का विधान नहीं होता है[1]।

## प्रणव का स्वर

तै० प्रा० के अट्ठारहवें अध्याय के सम्पूर्ण सात सूत्रों (१—७) में प्रणव[2] के स्वर पर विचार किया गया है। प्रणव का अर्थ है ओंकार। इसके स्वर के विषय में विभिन्न आचार्यों के मत इस प्रकार हैं—

(१) शैत्यायन आचार्य के मत में उदात्त, अनुदात्त, और स्वरित में से किसी भी स्वर में प्रणव का उच्चारण किया जा सकता है[3]।

(२) कौण्डिन्य आचार्य का मत है कि प्रणव धृतप्रचय (=प्रचय) होता है[4] अर्थात् प्रणव का उच्चारण प्रचय स्वर में करना चाहिए।

(३) प्रणवात्मक वाणी का उच्चारण मध्यम प्रयत्न से करना चाहिए[5]। सोमयार्य के अनुसार, उदात्त ( उच्च ) और अनुदात्त के मिश्रण-युक्त विलक्षण प्रयत्न में प्रणव का उच्चारण करना चाहिए[6]। गार्ग्यगोपालयज्वा के अनुसार मध्यम स्वर से प्रणवात्मक वाणी का प्रयोग करना चाहिए, क्रुष्ट अथवा मन्द्रादि स्वरों से नहीं[7]।

---

१. अन्यशास्त्रस्य मूलभूतं व्याकरणं पूर्वशास्त्रमित्युच्यते। तस्मिन् कम्पो न विधीयते। साक्षाच्छिक्षायां तु विधीयते। व्याकरणप्रधानं ह्येतच्छास्त्रम्। तै० प्रा० १९।५ पर वै० भा०

२. 'प्रणव' शब्द का निर्वचन है—प्रणूयते प्रस्तूयते प्रारभ्यतेऽनेन वेद इति प्रणवः ओङ्कारः (१७।१ पर वै० भा०)। अर्थात् ध्वनित किया जाता है, प्रस्तुत किया जाता है, प्रारम्भ किया जाता है वेद इससे—अतः ओङ्कार प्रणव है।

३. उदात्तानुदात्तस्वरितानां कस्मिंश्चिदिति शैत्यायनः। तै० प्रा० १८।२

४. धृतप्रचयः कौण्डिन्यस्य। तै० प्रा० १८।३

५. मध्यमेन स वाक्प्रयोगः। तै० प्रा० १८।४

६. ... मध्यमेन उच्चनीचसमाहारविलक्षणेन प्रयत्नेन प्रणवः प्रयोक्तव्यः। १८।४ पर त्रि० भा०

७. स खलु प्रणवात्मको वाक्प्रयोगो मध्यमेन स्वरेण कर्तव्यो न क्रुष्टेन नापि मन्द्रादिभिः। १८।४ पर वै० भा०

(४) प्लाक्षि तथा प्लाक्षायण आचार्यों का मत है कि प्रणव स्वरित स्वर में उच्चरित होता है अर्थात् ओङ्कार का उच्चारण स्वरित स्वर में किया जाना चाहिए[1]।

(५) वाल्मीकि आचार्य का मत है कि प्रणव उदात्त है[2] अर्थात् प्रणव का उच्चारण उदात्त स्वर में किया जाना चाहिये।

(६) अथवा सभी आचार्यों के मत में प्रयोग के अनुसार प्रणव का उच्चारण करना चाहिये[3]।

प्रस्तुत नियम में आये सभी आचार्यों के कथन से सोमयार्य ने दो पक्षों को प्रस्तुत किया है—(१) माहिषेय का पक्ष और (२) वररुचि आदि आचार्यों का पक्ष। माहिषेय आचार्य का यह मानना है कि यथाप्रयोग शब्द का अर्थ है उदात्त अर्थात् सभी आचार्यों के मत में प्रणव का उच्चारण उदात्त स्वर में किया जाना चाहिये[4]। वररुचि आचार्य का मत है कि प्रणव के पश्चात् उच्चरित होने वाला अक्षर जिस स्वर-धर्म से युक्त हो उसी स्वर में प्रणव का भी उच्चारण किया जाना चाहिए[5]। विकल्प से यह सबका मत है इस प्रकार प्रणव से परवर्ती स्वर उदात्त हो तो प्रणव का उच्चारण उदात्त; अनुदात्त हो तो अनुदात्त और यदि स्वरित हो तो स्वरित स्वर में होगा। जैसे—(१) आप॑ उन्दन्तु[6] (२) इषे त्वोर्जे[7]। (३) व्यृ॑द्धम्[8]। इन स्थलों में ओङ्कार (प्रणव) से परवर्ती उच्चरित होने वाले स्वर क्रमशः उदात्त, अनुदात्त और स्वरित हैं अतः प्रणव का भी उच्चारण इन स्थलों में क्रमशः उदात्त अथवा अनुदात्त अथवा स्वरित स्वर में होगा।

गार्ग्यगोपालयज्वा ने 'यथाप्रयोगं वा सर्वेषां[9]' के भाष्य में लिखा है कि

---

१. स्वरितः प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः। तै० प्रा० १८।५
२. उदात्तो वाल्मीकेः। तै० प्रा० १८।६
३. यथाप्रयोगं वा सर्वेषाम्। तै० प्रा० १८.७
४. यथाप्रयोगशब्देन उदात्तोऽभिधीयते इति माहिषेयपक्षः। १८।७ त्रि० भा०
५. वररुचिपक्षस्तु वक्ष्यते अन्वेष्यमाणं यथाप्रयोगं यथाविधस्वरं तथाविधेन वा स्वरेण प्रणवः प्रयोक्तव्य इति सर्वेषाम् मतमिति। १८।७ पर त्रि०भा०
६. तै० सं० १।२।१
७. तै० सं० १।१।१
८. तै० सं० ५।१।१२
९. तै० प्रा० १८।७

भिन्न-भिन्न शाखाओं के अध्येता वेद का प्रारम्भ करने के लिए जिस-जिस स्वर में ओङ्कार का प्रयोग करते थे उसी-उसी स्वर में अध्यापन की व्यवस्था के अनुसार ओङ्कार का उच्चारण करना चाहिए—यही सभी आचार्यों का मानना है[1]। तात्पर्य यह है कि जिस शाखा में वेदाभ्यास के लिए जिस किसी उदात्तादि स्वर में ओङ्कार का पाठ किया जाता है उस शाखा के अध्येताओं को उसी स्वर में ओङ्कार का उच्चारण करना चाहिए।

## स्वरों की सन्धि

तै० प्रा० में दसवें अध्याय के चार सूत्रों[2] तथा बारहवें अध्याय के तीन सूत्रों[3] में उदात्तादि स्वरों की सन्धि का प्रतिपादन किया गया है। जब पदान्त तथा पदादि स्वर-वर्णों की सन्धि से एक स्वर निष्पन्न होता है तब पदान्त तथा पदादि दोनों स्वर-वर्णों के स्वर-धर्म मिलकर एक स्वर-धर्म को प्राप्त करते हैं। स्वरों की सन्धि को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—उदात्तभाव और स्वरितभाव।

उदात्तभाव—(१) उदात्तयुक्त (स्वर की सन्धि) में (परिणामस्वरूप निष्पन्न स्वर) उदात्त होता है[4] अर्थात् उदात्तधर्म विशिष्ट स्वर-वर्ण की किसी भी स्वर—उदात्त, अनुदात्त अथवा स्वरित-के साथ सन्धि होने पर सन्धिज स्वर उदात्त होता है। उदात्त और अनुदात्त की सन्धि में जैसे—सुविता। प्र (इति)। अर्पयतु। (प० पा०) सुविता प्रार्पयतु[5] (सं० पा०) यहाँ उदात्त 'प्र' और अनुदात्त 'अ' मिलकर उदात्त 'प्रा' हो गया है। दो उदात्तों को जैसे—ब्रह्म। युच्छ। अप (इति)। अग्ने। (प० पा०) ब्रह्म युच्छापाग्ने[6] (सं० पा०) यहाँ उदात्त 'च्छ' और उदात्त 'अ' मिलकर उदात्त 'च्छा' हो गया है। स्वरित और उदात्त की सन्धि में जैसे—याज्या। आ (इति)। एव। एनम्।

---

१. ततच्छाखाध्यायिनः पूर्वे शिष्टतमाः येन येन स्वरेण आरम्भार्थमोङ्कारं प्रयुञ्जते तेन तेनैवाध्यापितव्यवस्थया प्रयोक्तव्य इति सर्वेषामाचार्याणां मतम्। १८।७ पर वै० भा०।

२. तै० प्रा० १०।१०, १२, १६, १७;

३. तै० प्रा० १२।९, १०, ११

४. उदात्तमुदात्तवति। तै० प्रा० १०।१०

५. तै० सं० १।१।१;

६. तै० सं० १।१।७

( प० पा० ) याज्यैवैनम्[१]। यहाँ स्वरित 'ज्या' और उदात्त 'आ' मिलकर उदात्त 'ज्या' हो गये हैं।

(२) पदादि अकार उदात्त होने पर तथा पदान्त एकार अथवा ओकार अनुदात्त होने पर जब अकार का लोप हो जाता है तब अनुदात्त एकार अथवा ओकार उदात्त हो जाता है[२]। जैसे (i) अवं (इतिं)। रुन्धते। असत्रम्। वै। (प० पा०) अवं रुन्धतेऽसत्रं वै[२]। यहाँ पदादि उदात्त अकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती पदान्त अनुदात्त एकार उदात्त हो गया है। पदादि उदात्त अकार का लोप होने पर पदान्त अनुदात्त ओकार के उदात्त होने का उदाहरण इस प्रकार है—(ii) शतक्रतो इतिं शत-क्रतो। अन्विर्ति। ते। दायि। (प० पा०) शतक्रतोऽनु ते दायि[४]। यहाँ पदादि उदात्त अकार का लोप होने पर पदान्त अनुदात्त ओकार उदात्त हो गया है।

(३) पदान्त एकार या ओकार, स्वरित होने पर भी पदादि उदात्त का लोप होकर सन्धि होने पर सर्वत्र उदात्त हो जाता है[५]। यथा—अग्नये। अन्नंवत इत्यन्नं-वते (प० पा०) अग्नयेऽन्नंवते[६] (सं० पा०) यहाँ उदात्त अकार का लोप होकर पूर्ववर्ती स्वरित 'ये' उदात्त हो गया है। ओजः। अजायथाः (प० पा०) ओजोऽजायथाः[७] (सं० पा०) यहाँ उदात्त अकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वरित 'जो' (जः) उदात्त हो गया है।

**उदात्तभाव का निषेध**—(१) पदान्त उदात्त उकार के साथ पदादि अनुदात्त उकार की सन्धि होने पर सन्धिज स्वर उदात्त न होकर स्वरित होता है क्योंकि तै० प्रा० में स्पष्टतः कहा गया है कि 'ऊ' होने पर भी स्वरित होता है[८] अर्थात् पदादि उकार के साथ पदान्त उकार की सन्धि से निष्पन्न होने वाला ऊकार भी स्वरित होता है, उदात्त नहीं। यथा—सून्नीयमिति सु—उन्नीयम्। (प० पा०) सून्नीयम्[९] (सं० पा०) यहाँ पूर्ववर्ती पदान्त 'सु' उदात्त

---

१. तै० सं० २।३।२ २. तै० सं० ७।३।८
३. उदात्ते चानुदात्त उदात्तम्। तै० प्रा० १२।१०
४. तै० सं० २।५।१२ ५. स्वरितश्च सर्वत्र। तै०प्रा० १२।११
६. तै० सं० २।२।४ ७. तै० सं० १।६।१२
८. ऊभावे च। तै० प्रा० १०।१७
९. तै० सं० ६।२।४

है, उसकी परवर्ती पदादि अनुदात्त उकार के साथ सन्धि होने पर जो 'ऊकार' निष्पन्न हुआ है वह उदात्त न होकर स्वरित है।

(२) इवर्ण अथवा उकार की सन्धि में यदि इवर्ण अथवा उकार उदात्त हो तो उससे परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है क्योंकि तै० प्रा० में विहित है कि दोनों (इवर्ण और उकार) उदात्तों से परवर्ती अनुदात्त स्वरित हो जाता है[1]। वह उदात्त के कारण उदात्तभाव को नहीं प्राप्त करता है। यथा—त्रि (इति)। एव। एनेन। (प० पा०) त्र्येवैनेन[2] (सं० पा०)। यहाँ उदात्त इकार की परवर्ती अनुदात्त एकार के साथ सन्धि होने पर उदात्त और अनुदात्त मिलकर स्वरित हो गया है, उदात्त नहीं। अप्स्वित्यप्—सु। अग्ने (प० पा०) अप्स्वग्ने[3] (सं० पा०) यहाँ उदात्त उकार (सु) की अनुदात्त अ (अग्ने) के साथ सन्धि के परिणामस्वरूप निष्पन्न 'प्स्व' स्वरित है, उदात्त नहीं हुआ है।

(३) तै० प्रा० में यह विधान प्राप्त होता है कि एकार अथवा ओकार पूर्व में होने पर पदादि अकार का लोप हो जाता है[4]। सन्धि के कारण अकार लुप्त हो जाता है। यदि वह लोप को प्राप्त होने वाला पदादि अकार अनुदात्त है और उससे पूर्व में उदात्त एकार अथवा ओकार है तो सन्धि के परिणामस्वरूप वह एकार या ओकार स्वरित हो जाता है[5] अर्थात् पदादि अनुदात्त अकार का लोप होने पर पदान्त उदात्त एकार अथवा ओकार स्वरित हो जाता है यथा— ते। अब्रुवन् (प० पा०) तेऽब्रुवन्[6] (सं० पा०)। यहाँ अनुदात्त 'अ' का लोप होने पर पूर्ववर्ती उदात्त 'ते' स्वरित (ते) हो गया है। सः। अब्रवीत् (प० पा०) सोऽब्रवीत्[7]। (सं० पा०) यहाँ अनुदात्त 'अ' का लोप होने पर पूर्ववर्ती उदात्त 'सो' (सः) स्वरित 'सो' हो गया है।

स्वरितभाव—स्वरित तथा अनुदात्त की सन्धि से जायमान स्वर स्वरित

---

१. उदात्तयोश्च परोऽनुदात्तस्स्वरितम्। तै० प्रा० १०।१६
२. तै० सं० ५।३।११
३. तै० सं० ४।२।११
४. लुप्यते त्वकार एकार ओकारपूर्वः। तै० प्रा० ११।१
५. तस्मिन्ननुदात्ते पूर्व उदात्तस्स्वरितम्। तै० प्रा० १२।९
६. तै० सं० २।५।१
७. तै० सं० २।१।२

होता है[1] अर्थात् पूर्ववर्ती पदान्त स्वरित स्वर और उत्तरवर्ती पदादि अनुदात्त स्वरों की सन्धि से उत्पन्न स्वर स्वरित होता है। यथा—कन्या। इव। तुन्ना। (पं० पा०, कन्येव तुन्ना[2] (सं० पा०)। यहाँ स्वरित 'आ' की अनुदात्त 'इ' के साथ सन्धि होने पर दोनों मिलकर स्वरित 'ए' हो गया है।

**सामवेदीय स्वर**—तैत्तिरीय शाखा में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और प्रचय—ये चार प्रकार के स्वर होते हैं। तैत्तिरीय प्रातिशाख्यकार ने साम-वेदीय स्वरों का निरूपण करके उनमें से तैत्तिरीय शाखा में ग्राह्य उदात्तादि स्वरों का विवेचन किया है। सामवेद में सात स्वरों का प्रयोग होता है। वे ये हैं—क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य[3]। इन सात स्वरों की दीप्तिजा उपलब्धि होती है[4]। यहाँ 'दीप्ति' पद का अर्थ स्फूर्ति (तीव्रता) है। इस प्रकार बाद वाले स्वर को उत्तरोत्तर दीप्ति (तीव्रता) के साथ उच्चारित करने पर पूर्व-पूर्व वाले स्वर की उपलब्धि होती है। जैसे—अतिस्वार्य को दीप्ति से उच्चारित करने पर मन्द्र की प्राप्ति होती है, मन्द्र को दीप्ति से उच्चारित करने पर चतुर्थ स्वर की, चतुर्थ को दीप्ति से उच्चारित करने पर तृतीय स्वर की, तृतीय को दीप्ति से उच्चारित करने पर द्वितीय स्वर की और द्वितीय स्वर को दीप्ति से उच्चारित करने पर क्रुष्ट की प्राप्ति होती है। इससे ज्ञात होता है कि क्रुष्ट नामक स्वर अन्य सभी स्वरों से उच्च उच्चारित होने वाला है तथा अतिस्वार्य स्वर अन्य सभी स्वरों से कम तीव्र (निम्न ध्वनि में) उच्चारित होने वाला स्वर है।

वस्तुतः इन स्वरों में तृतीय संज्ञक स्वर मध्यम स्वर है। यही मध्यम स्वर तीव्रता की अवधि का परिचायक है अर्थात् तृतीय संज्ञक स्वर से तीव्र द्वितीय संज्ञक, तीव्रतर प्रथम संज्ञक और तीव्रतम क्रुष्ट नामक स्वर होता है। दूसरी ओर तृतीय संज्ञक स्वर से निम्न चतुर्थ संज्ञक स्वर, निम्नतर मन्द्र संज्ञक स्वर और निम्नतम अतिस्वार्य संज्ञक स्वर उच्चारित होता है। यह सामवेदीय क्रुष्टादि सात स्वरों का स्वरूप है। इन्हें आरोह और अवरोह के द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है। तृतीय स्वर को मध्यम मान लेने पर तृतीय

---

१. स्वरितानुदात्तसन्निपाते स्वरितम्। तै० प्रा० १०।१२
२. तै० सं० ३।१।११
३. क्रुष्टप्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थमन्द्रातिस्वार्याः। तै० प्रा० २३।१४
४. तेषां दीप्तिजोपलब्धिः। तै० प्रा० २३।१५

से क्रुष्ट तक के स्वर क्रमशः द्वितीय, प्रथम और क्रुष्ट-आरोह क्रम में उच्चारित होने वाले स्वर हैं और तृतीय से क्रमशः चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य अवरोह क्रम में उच्चारित होने वाले स्वर हैं। तै० प्रा० में द्वितीय, प्रथम और क्रुष्ट संज्ञक तीन स्वरों को 'आह्वारक स्वर' कहा गया है[1]। आह्वारक का अर्थ है उत्क्षेप वाले स्वर[2]। तृतीय संज्ञक स्वर की अपेक्षा प्रतिलोम क्रम से ये द्वितीय, प्रथम और क्रुष्ट-स्वर क्रमशः उत्क्षेपक के साथ उच्चारित होते हैं। इसलिये ये आह्वारक (उत्क्षेपी) स्वर कहलाते हैं।

**तैत्तिरीयकस्वर**— उपर्युक्त क्रुष्टादि सात स्वरों में मन्द्र से द्वितीय तक के चार स्वर प्रतिलोम क्रम में अर्थात् मन्द्र, चतुर्थ, तृतीय और द्वितीय संज्ञक स्वर तैत्तिरीय शाखा में प्रयुक्त होने वाले स्वर हैं[3]। ये ही द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और मन्द्र संज्ञक स्वर 'चतुर्यम' (चार स्वर) कहलाते हैं[4]। इनमें द्वितीय संज्ञक स्वर उदात्त, मन्द्र संज्ञक स्वर अनुदात्त, तृतीय संज्ञक स्वर स्वरित और चतुर्थ संज्ञक स्वर प्रचय होता है। इस प्रकार तैत्तिरीय शाखा में द्वितीयादि संज्ञक स्वर क्रमशः पूर्वविहित उदात्तादि स्वरों में उच्चारित होते हैं।

**निष्कर्ष**—इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि उदात्त तथा अनुदात्त का समाहार होने पर निष्पन्न स्वर स्वरित होता है और उदात्त तथा अनुदात्त का एकादेश होने पर निष्पन्न स्वर उदात्त होता है। उदात्त तथा अनुदात्त—दोनों धर्मों के समाहार अथवा समावेश से—दोनों के मूल सिद्धान्तों पर ही आश्रित किन्तु, दोनों से भिन्न एक तीसरे ही धर्म (स्वरित) की निष्पत्ति होती है किन्तु एकादेश में ऐसी बात नहीं है। समाहार की तरह ही एकादेश में दो धर्मों का एकत्र संयोग अवश्य होता है, किन्तु इसमें एक धर्म इतना प्रबल होता है कि दूसरे को दबा देता है, उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर देता है। साथ ही क्रुष्टादि सात सामवेदीय स्वरों का निर्देश करते हुए उनमें से तैत्तिरीय शाखा से गृहीत द्वितीयादि चार स्वरों के उदात्तादि में अन्तर्भाव को स्पष्ट किया गया है।

●

---

१. द्वितीयप्रथमक्रुष्टास्त्रय आह्वारकस्वराः। तै० प्रा० २३।१६
२. आह्वारका उत्क्षेपिण इत्यर्थः। तै० प्रा० २३।१६ पर वै० भा०
३. मन्द्रादयो द्वितीयान्ताश्चत्वारस्तैत्तिरीयकाः। तै० प्र० २३।१७
४. तच्चतुर्यममित्याचक्षते। तै० प्रा० २३।२०

# ५ : सन्धि-प्रकरण

संहिता और सन्धि

सन्धि-विषयक परिभाषा सूत्र

तै० प्रा० में विहित सन्धियाँ —

स्वर सन्धि

स्वर-व्यञ्जन सन्धि

व्यञ्जन-स्वर सन्धि

व्यञ्जन सन्धि

नति सन्धि

नासिक्य सन्धि

संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ।।

# सन्धि-प्रकरण

## संहिता और सन्धि

संहिता—'सम्' उपसर्ग सहित 'धा' धातु से 'क्त' तथा 'टाप्' प्रत्यय लगाकर 'संहिता' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है समीप में रखा हुआ। इस प्रकार काल के व्यवधान के बिना वर्णों का अतिशय सामीप्य 'संहिता' नाम से अभिहित किया जाता है जैसा कि पाणिनि ने भी कहा है कि वर्णों का अतिसन्निकर्ष संहिता कहलाता है[1]। वहाँ अति सन्निकर्ष का तात्पर्य है काल के व्यवधान के बिना वर्णों का अतिशय सामीप्य। यह उल्लेखनीय है कि प्रातिशाख्यकार पदों को सिद्ध मानकर संहिता का विधान करते हैं अतः उनके अनुसार पद के मध्य में संहिता नहीं होती। उनका मानना है कि संहिता पदान्त और पदादियों के मध्य होती है। इसीलिए शौनक ने कहा है कि काल के व्यवधान के बिना जो पदान्तों का पदादियों के साथ मेल सम्पादन करती है, वह संहिता कहलाती है[2]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संहिता पदों पर आधारित है। पदों के मिलने से ही संहिता निष्पन्न होती है। इस तथ्य का उद्घाटन अथर्वप्रातिशाख्य १।२ की व्याख्या में किया गया है—जिस प्रकार तन्तुओं से वस्त्र का निर्माण होता है और जिस प्रकार लकड़ी, पत्थर और मिट्टी से घर का निर्माण होता है उसी प्रकार सन्धि के नियम पदों को मिलाने के लिए कहे गये हैं[4]।

वस्तुतः संहिता पद दो अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) कालव्यवधान के बिना वर्णों अथवा पदों की अत्यधिक सन्निधि के लिए तथा (२) ऋग्वेदादि

---

१. परः सन्निकर्षः संहिता। पा० व्या० १।४।१०९

२. पदान्तान्पदादिभिः सन्दधदेति यत्सा कालाव्यवायेन। ऋ० प्रा० २।२:

३. 'सन्धि' का प्रयोग संहिता अर्थ में ही किया जाता है।

४. यथा तन्तूनां वासो यथा दारुशिलामृदां प्रासादस्तथा च सन्धिशास्त्राणि पदसन्धानार्थं प्रोक्तानि।

मन्त्रों के संहिता पाठ के लिए। तै० प्रा० ५।१ में 'संहिता' शब्द का प्रयोग संहिता-पाठ के अर्थ में किया गया है। यहाँ सन्धि-नियमों के प्रतिपादन से पूर्व यह विधान किया गया है कि सन्धिविषयक विधान एक श्वास में उच्चरित होने वाली संहिता में लागू होते हैं[1]। वस्तुतः संहिता में विराम दो प्रकार के होते हैं—(१) समाम्नायसिद्ध और (२) अशक्त्यादिहेतुक। इनमें समाम्नायसिद्ध विराम अनुवाक के अन्त में, उनके मध्य नित्य अवसान में तथा पदक्रम के अन्त में होते हैं। इन्हीं विराम-स्थलों तक ही संहिताविषयक विधान लागू होते हैं। अशक्त्यादिहेतुक विराम पाठकर्ता की क्षमता पर निर्भर होता है। पाठकर्ता एक श्वास में संहिता (मन्त्र) के जितने भाग का उच्चारण कर पाता है उतने में ही सन्धि-विषयक विधान लागू होते हैं। श्वास टूट जाने पर वहाँ अशक्त्यादि-हेतुक विराम हो जाता है अतः उस विराम के स्थल पर संहिताविषयक विधान लागू नहीं होते हैं। इसी तथ्य को सूत्रकार ने ५।१ में स्पष्ट किया है।

सन्धि—'सम्' उपसर्गसहित 'धा' धातु से 'सन्धि' शब्द निष्पन्न होता है। सन्धि का अर्थ है 'मेल'। इसी अर्थ को ध्यान में रखकर प्रातिशाख्यों में 'सन्धि' का विधान किया गया है। वर्णों का समीप में आ जाना ही सन्धि है। यह आवश्यक नहीं है कि समीप में आने वाले वर्णों में कोई न कोई विकार हो ही जैसा कि लौकिक संस्कृत में देखने को मिलता है। लौकिक संस्कृत में 'सन्धि' शब्द का प्रयोग केवल वहाँ होता है, जहाँ दो वर्णों के समीप में आने से उनमें कुछ वर्ण-विकार होता है। जहाँ वर्ण-विकार नहीं होता वहाँ सन्धि का अभाव माना जाता है किन्तु अतिसमीपता के कारण होने वाले लोप, आगम, वर्ण-विकार और प्रकृतिभाव—इन चारों का समावेश वैदिक-सन्धि में होता है।

संहिता और सन्धि—संहिता और सन्धि एक ही अर्थ के वाचक हैं। दोनों का अर्थ है मेल। इसीलिए कतिपय आचार्य संहिता और कतिपय आचार्य सन्धि शब्द का प्रयोग करते हैं। इन्हीं संहिता अथवा सन्धिविषयक विधानों के आधार पर संहिता-पाठ की उपलब्धि होती है।

संहिता तथा पद—तै० प्रा० ५।२ के अनुसार, जो पद-पाठ में स्थित पदों से अपरिवर्तित रूप से हुई (संहिता) विधि है वह प्रकृति (संहिता) कहलाती है[2]। तात्पर्य यह है कि मूलरूप में स्थित पद को आश्रित करके जब विधि का निर्माण

---

१. संहितायामेकप्राणभावे। तै० प्रा० ५।१

२. यथायुक्ताद्विधिः सा प्रकृतिः। तै० प्रा० ५।२

होगा तो वही विधि यहाँ संहिता के अधिकार में प्रकृति है। इस प्रकार पद प्रकृति है तथा संहिता विकृति है[1]।

तै० प्रा० के तृतीय अध्याय में संहिता-पाठ को प्रकृति मानकर पद-पाठ में ह्रस्वत्व का विधान किया गया है जबकि पञ्चम अध्याय में पद-पाठ को प्रकृति मानकर संहिता में होने वाले विकारों का विधान किया गया है। इस प्रकार तै० प्रा० में एक स्थल पर संहिता-पाठ को प्रकृति तथा पद-पाठ को विकृति माना गया है और दूसरे स्थल पर पद-पाठ को प्रकृति तथा संहिता-पाठ को विकृति माना गया है, इस प्रकार के परस्पर विरोधी विचारों से यह संदेह उत्पन्न होता है कि वास्तव में प्रकृति कौन है? तथा विकृति कौन है? वस्तुतः विषय के अवबोध में सुविधा की दृष्टि से पद-पाठ को प्रकृति माना गया है तथा कतिपय लोगों के इस भ्रम—कि वेद विभक्त पदों के रूप में हैं—के निवारण के लिये सूत्रकार ने क्रमशः तृतीय अध्याय में संहिता को प्रकृति और पद-पाठ को विकृति तथा पञ्चम अध्याय में पद-पाठ को प्रकृति तथा संहिता-पाठ को विकृति माना है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक आधार संहिता पाठ ही है, पद-पाठ को इसलिये आधार माना गया है कि इससे समझने में सुविधा हो सके। पद-पाठ को मूल (प्रकृति) केवल इसलिये माना जाता है जिससे कि विषय के प्रतिपादन में सुविधा हो। इस दृष्टि से तै० प्रा० द्वारा संहिता-पाठ को वास्तविक (मूल = प्रकृति) तथा पद-पाठ को व्यावहारिक आधार मानना अधिक वैज्ञानिक है तथा प्रातिशाख्य-साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण निरूपण है।

---

१. निरुक्तकार यास्क का कथन है कि संहिता पदप्रकृति है। इस आधार पर दुर्गाचार्य ने दो व्याख्यान प्रस्तुत किये हैं—(१) पदों की जो प्रकृति है वह यह पदप्रकृति संहिता है। संहिता से ही पद निष्पन्न होते हैं अतः संहिता प्रकृति है। (२) पद हैं प्रकृतिभूत जिसके वह पदप्रकृति संहिता है। पदों के मिलने से ही संहिता की निष्पत्ति होती है। अतः पद ही प्रकृति है। संहिता विकार है। दुर्गाचार्य ने प्रथम मत को अभीष्ट माना है अर्थात् संहिता पदों की प्रकृति है। नि० १।१७ दुर्गभाष्य

वेद की सभी शाखाओं के प्रातिशाख्य-ग्रन्थ पदों को ही संहिता की प्रकृति मानते है, न कि संहिता को पदों की प्रकृति।

संहिता के भेद—तै० प्रा० के अनुसार संहिता चार प्रकार की होती है (१) पद-संहिता (२) अक्षर संहिता (३) वर्ण-संहिता और (४) अङ्ग संहिता[1]।

पद-संहिता—भिन्न पदों के मेल से जो संयुक्त रूप निष्पन्न होता है उसे पद-संहिता कहते हैं[2]। इसका अभिप्राय यह है कि दो अथवा दो से अधिक पदों की परस्पर सन्धि के द्वारा उत्पन्न संयोग को पद-संहिता कहते हैं। यथा—अग्ने दुध्र गह्य किंशिल वन्य या त इषुः[3]।

अक्षर-संहिता—अपने-अपने नामों के अनुसार अक्षर संहिता इत्यादि के स्वरूप को जानना चाहिए[4]। तात्पर्य यह है कि भिन्न-भिन्न अक्षरों के संयोग से अक्षर-संहिता की निष्पत्ति होती है। यहाँ अक्षर का तात्पर्य स्वर से है। अतः केवल स्वर-वर्णों का संयोग अक्षर-संहिता कहलाती है। यथा—अथ। अब्रवीत्। (प० पा०) अथाब्रवीत्[5] (सं० पा०) इस स्थल में दो स्वर-वर्णों (अ+अ) के मेल से अथाब्रवीत्—यह संहिता-रूप बना है। इसलिए यहाँ अक्षर-संहिता है।

वर्ण-संहिता—तै० प्रा० के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्णों के मेल को वर्ण-संहिता कहते हैं[6]। एक पद में स्वर तथा व्यञ्जन का संयोग वर्ण-संहिता कहलाता है। यथा—अधिषवणमित्यधि सवनम्। असि। (प० पा०) अधिषवणमसि[7] (सं० पा०) यहाँ धकारादि व्यञ्जनों के साथ इकारादि स्वरों की संहिता वर्ण-संहिता है।

अङ्ग-संहिता—तै० प्रा० २४।४ के ही अनुसार पृथग्भूत अङ्गों के संयोग को अङ्ग-संहिता कहते हैं[8]। एक पद में केवल व्यञ्जन का संयोग अङ्ग-संहिता है। उदाहरण—अक्ष्णया व्याघारयति[9]। अङ्ग-संहिता के द्वारा यह जानने में सहायता मिलती है कि कौन व्यञ्जन किस स्वर का अङ्ग है। इसे ही अङ्गाङ्गिभाव कहते हैं।

---

१. अथ चतस्रः संहिताः। पदसंहिताक्षरसंहिताङ्गसंहिता चेति। तै० प्रा० २४।१-२
२. नानापदसन्धानसंयोगः पदसंहितेत्यभिधीयते। तै० प्रा० २४।३
३. तै० सं० ५।५।९ ४. यथास्वमक्षरसंहितादीनामप्येवम्। तै० प्रा० २४।४
५. ३।२।११ ६. नानावर्णसंयोगो वर्णसंहिता। २४।४ पर त्रि० भा०
७. १।१।५ ८. नानाऽङ्गसंयोगोऽङ्गसंहिता। तै० प्रा० २४।४ पर त्रि० भा०
९. ५।३।७

## सन्धि-विषयक परिभाषा-सूत्र

परिभाषा सूत्र से तात्पर्य उन सूत्रों से है जो प्रातिशाख्य के विधानों को समझने में सहायक होते हैं। जिन स्थलों में एक से अधिक सूत्रों द्वारा कार्य होने का विधान होता है, उन स्थलों में निश्चित रूप से जो कार्य होना चाहिए उसका जिस सूत्र में विधान किया जाता है वह परिभाषा-सूत्र कहलाता है। सन्धियों को भली-भाँति समझने के लिए सूत्रकार ने चार परिभाषा-सूत्रों का प्रणयन किया है, जिनकी सहायता से सन्धि-नियमों का अवबोध सुगम हो जाता है। ये परिभाषा-सूत्र इस प्रकार हैं—

प्रथम परिभाषा-नियम—(१) संहिता के विधान में पहले आने वाले पदों तथा सूत्रों का पहले ग्रहण करना चाहिए[1]। अर्थात् पद-पाठ में स्थित पदों का संहिता-पाठ बनाते समय पद-पाठ में स्थित पदों के क्रम के अनुसार जो पद पहले आते हैं उनमें पहले सन्धि करनी चाहिए तथा इसी प्रकार से सन्धि करते समय दो अथवा दो से अधिक सूत्रों की प्रसक्ति होने पर शास्त्र में जिस सूत्र का पहले कथन किया गया हो उसका प्रयोग पहले करना चाहिए। इससे अभीष्ट रूप की प्राप्ति होती है तथा अनिष्ट रूप का निवारण हो जाता है। उदाहरण—भक्ष। आ (इति)। इहि। (प० पा०)। भक्षेहि[2]। (सं०पा०) प्रस्तुत स्थल में भक्ष, आ तथा इहि - ये तीन पद हैं। इस नियम के अनुसार, संहिता पाठ बनाने में सन्धि करते समय भक्ष (प्रथम पद) और आ (द्वितीय पद) का पहले ग्रहण किया गया है। इस प्रकार भक्ष और आ की सन्धि होने पर १०/२ सूत्र से भक्षा रूप निष्पन्न होता है। पुनः भक्षा की इहि (तृतीय पद) के साथ संधि करने पर १०।४ सूत्र से भक्षेहि—इस अभीष्ट रूप की निष्पत्ति होती है। यदि भक्ष तथा आ-इन प्रथम तथा द्वितीय पदों का ग्रहण न करके पहले आ तथा इहि—इन द्वितीय तथा तृतीय पदों की सन्धि की जाती तो १०।४ से एहि रूप बनता। पुनः भक्ष को एहि के साथ सन्धि करने पर भक्षैहि— इस रूप की निष्पत्ति होती जो अभीष्ट नहीं है।

(२) संधि करते समय एक स्थल पर यदि दो अथवा दो से अधिक सूत्र लागू हों तो प्रातिशाख्य में जो सूत्र पहले स्थित है उसको सबसे पहले तथा उसके पश्चात् विहित सूत्र को उसके बाद तथा उसके पश्चात् विहित सूत्र को उसके बाद लागू करना चाहिए। यथा—षण्णवत्या इति षड्-नवत्यै (प० पा०)

---

१. तत्र पूर्वं पूर्वं प्रथमम्। तै० प्रा० ५।३ २. ३।२।५

षण्णवत्यै[1] (सं० पा०) यहाँ पर ७।२ से नकार का णत्व करने पर षट्णवत्या हो जाता है। पुनः ८।२ से टकार का णत्व होने पर षण्णवत्या हो जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत स्थल में दो सूत्र ७।२ तथा ८।२ लागू होते हैं। अतः प्रस्तुत विधान के अनुसार, यहाँ पूर्वप्राप्त सूत्र ७।२ को पहले लागू किया गया है तदनन्तर, बाद में आने वाले ८।२ को लागू किया गया है। यदि इस स्थल में बाद में आने वाले सूत्र ८।२ से पहले कार्य किया जाता तो षणनवत्यै रूप बनता जो अनिष्ट है। ऐसी दशा में ७।२ सूत्र लागू न हो पाता। अतः अनिष्ट रूप न बने इसके लिये संहिता पाठ करते समय प्रथमतः निर्दिष्ट सूत्र का पहले ग्रहण करना चाहिए।

द्वितीय परिभाषा-नियम विकार तथा लोप वर्णमात्र के होते हैं, सम्पूर्ण पद के नहीं[2]। तात्पर्य यह है कि सन्धि-विधायक-सूत्रों के द्वारा पद में जो विकार अथवा लोप[3] होता है वह वर्णमात्र का होता है, सम्पूर्ण पद का नहीं। उदाहरण—(१) धूर्षाहाविति धूः—साहौ (प० पा०) धूर्षाहौ[4] (सं० पा०) यहाँ पर ५।१० सूत्र[5] से विसर्जनीय (वर्णमात्र) विकार को प्राप्त हुआ है। सम्पूर्ण धूः पद में विकार नहीं हुआ है। (२) सः। ते। जानाति। (प० पा०) स ते जानाति[6] (सं० पा०) यहाँ ५।१५ से सः पद में विसर्जनीय (वर्णमात्र) का लोप हुआ है, सम्पूर्ण सः पद का नहीं[7]।

तृतीय परिभाषा-नियम—अपृक्त संज्ञक वर्ण आदि तथा अन्त के समान कार्य को प्राप्त करता है[8]। अपृक्त[9] अर्थात् एक वर्ण वाला पद पदादि के समान तथा पदान्त के समान कार्य को प्राप्त करता है। संहिता पदान्त तथा पदादि में होती है। जहाँ पर एक वर्ण वाला ही पद होता है वहाँ उस वर्ण

---

१. ७।२।१५ २. वर्णस्य विकारलोपौ। तै० प्रा० १।५६

३. विनाशो लोपः। तै० प्रा० १।५७ ४. १।२।८

५ अवग्रह-आशीर्धूः सुवरिति रेफं परः सकारः षकारम्। तै० प्रा० ५।१०

६. १।२।१४। ७. एषसस्य इति च। तै० प्रा० ५।१५

८. आद्यन्तवच्च। तै० प्रा० १।५५।

९. अपृक्त का अर्थ है व्यञ्जन से न मिला हुआ। तै० प्रा० १।५४ में अपृक्त संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि एक वर्ण वाला पद अपृक्त संज्ञक है—एकवर्णः पदमपृक्तः।

को उस पद का आदि वर्ण (पदादि) माना जाय अथवा पद का अन्तिम वर्ण (पदान्त) माना जाय—इस सन्देह की निवृत्ति के लिए ही प्रस्तुत सूत्र की रचना की गयी है। इस सूत्र के अनुसार वह वर्ण उस पद के प्रथम वर्ण (पदादि) का भी कार्य करता है और अन्तिम वर्ण का भी कार्य करता है यथा—(१) सः। इत्। उ। होता। (प० पा०) सेदु होता[1] (सं० पा०) यहाँ ८।३ के अनुसार प्रथम स्पर्श तकार, स्वर वर्ण उ बाद में होने पर अपने वर्ग का तृतीय (दकार) हो गया है। यहाँ पर अपृक्तसंज्ञक वर्ण उ ने पदादि की तरह कार्य किया। (२) ओ इति। ते। यन्ति। (प० पा०) ओ ते यन्ति[2] (सं० पा०) यहाँ ४।६ से ओकार की प्रग्रह संज्ञा है। अतः अपृक्त ओकार यहाँ पदान्त के समान कार्य करता है। यदि सूत्रकार यह विधान नहीं करते कि अपृक्त वर्ण पदान्तवत् भी कार्य करता है तो ओकार की प्रग्रह संज्ञा न होती, अन्तत्व का अभाव होने के कारण।

चतुर्थ परिभाषा-नियम—प्रग्रह (पदों में) तथा (सोलहवें अध्याय में निर्दिष्ट) स्नादि (पदों) में पृथग्भूत पद में स्थित भी निमित्त अपना कार्य करता है[3]। इसका अभिप्राय यह है कि प्रग्रह संज्ञक पदों में तथा स्नादि पदों में पृथग्भूत पद में विद्यमान निमित्त पद-पाठ (असंहिता) में भी अपने कार्य का उपदेश करता है जिससे प्रग्रहरूप और अनुस्वाररूप कार्य की निवृत्ति नहीं होती है। यथा—४।२८ में यह विधान किया गया है कि पकार बाद में हो तो घ्नी और चक्रे के ईकार तथा एकार प्रग्रह होते हैं[4]। उदाहरण—(१) वार्त्रघ्नी इति वार्त्र-घ्नी। पूर्णमास इति पूर्ण-मासे (प०पा०) वार्त्रघ्नी पूर्णमासे[5] (सं० पा०)। (२) चक्रे इति। पृष्ठानि। (प० पा०)। चक्रे पृष्ठानि[6] (सं० पा०) में संहिता-पाठ तथा पद-पाठ दोनों में ही क्रमशः घ्नी तथा चक्रे के ईकार और एकार प्रग्रह है। पद-पाठ में निमित (पकार से पृथक् होने पर भी ईकार और एकार प्रग्रह हैं। अतएव प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि भिन्न पद में विद्यमान भी निमित्त प्रग्रह के सन्दर्भ में अपना कार्य करता है। स्नादि का उदाहरण—अवग्रह (सावग्रह पद का पूर्व-पद) पूर्व में हो तो मा

---

१. १।१।१४ २. १।४।३३

३. नानापदीयं च निमित्तं प्रग्रहस्नादिषु। तै० प्रा० १।६०

४. घ्नीचक्रे पपरे। तै० प्रा० ४।२८ ५. २।५।२ ६. ६।६।८

में अनुस्वार का आगम नहीं होता है[1]। इस विधान के अनुसार पद-पाठ में भी अनुस्वार का आगम नहीं होगा। यथा—अर्धमास इत्यर्ध-मासे। देवाः (प० पा०)। अर्धमासे देवाः[2] (सं०पा०)। यहाँ पर पद-पाठ तथा संहिता-पाठ-दोनों में अनुस्वार का आगम नहीं हुआ है। यद्यपि पद-पाठ में मा के पूर्व में पूर्व-पद का अभाव है, वहाँ विराम है तथापि प्रस्तुत सूत्र के सामर्थ्य से पृथग्-भूत पद अर्ध इस निमित्त ने अपना कार्य अर्थात् अनुस्वार का निषेध किया है।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में विहित सन्धियाँ—तै० प्रा० में जिन सन्धियों का विधान किया गया है, उन्हें सुविधा की दृष्टि से अधोलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) स्वर-सन्धि (२) स्वर-व्यञ्जन-सन्धि (३) व्यञ्जन-स्वर-सन्धि (४) व्यञ्जन-सन्धि (५) नति-सन्धि (६) नासिक्य-सन्धि

१—स्वर-सन्धि—पद के अन्त में स्थित तथा पद के आदि में स्थित दो स्वर-वर्ण मिलकर जब विकार अथवा प्रकृतिभाव को प्राप्त करते हैं तब वहाँ स्वर-सन्धि होती है। इन स्वर-सन्धियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) विकारयुक्त स्वर-सन्धि (२) विकारविहीन स्वर-सन्धि।

विकारयुक्त स्वर-सन्धि—विकारयुक्त स्वर-सन्धियों में पदान्त तथा पदादि स्वर मिलकर विकार को प्राप्त करते हैं। विकारयुक्त सन्धियाँ इस प्रकार हैं—सवर्ण-स्वरों की सन्धि—समानाक्षरसंज्ञक वर्ण अपना सवर्ण[3] परे रहते (पूर्ववर्ती तथा परवर्ती दोनों स्वर-वर्ण) दीर्घ एकादेश को प्राप्त करते हैं[4]। तात्पर्य यह है कि पदान्त समानाक्षर (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ) के पश्चात् पदादि सवर्ण समानाक्षर हो तो दोनों सवर्ण समानाक्षरों के स्थान पर एक सवर्ण दीर्घ स्वर हो जाता है। उदाहरणों के द्वारा इस नियम को इस प्रकार समझा जा सकता है—(१) गृह्णीष्व। अन्तरित-मित्यन्तः—इतम्। (प०पा०)

---

१. नावग्रहपूर्वः। तै० प्रा० १६।११ २. २।५।६

३. सवर्ण—समानाक्षरसंज्ञक वर्णों में दो-दो ह्रस्व, दो दो दीर्घ अथवा दो ह्रस्व और दीर्घ या दीर्घ और ह्रस्व स्वरवर्ण परस्पर सवर्ण होते हैं—द्वे द्वे सवर्णे ह्रस्वदीर्घे (तै० प्रा० १।३)। सवर्ण का अर्थ है—सदृश (सवर्णत्वं नाम सादृश्यमुच्यते)। उच्चारण-स्थान और प्रयत्न की दृष्टि से जब एक वर्ण दूसरे वर्ण के सदृश या समान होता है। तब उन्हें परस्पर सवर्ण कहते हैं।

४. अथैकमुभे। दीर्घं समानाक्षरे सवर्णपरे। तै० प्रा० १०।१-२

गृह्णीष्वान्तरितम्[1] (सं० पा०) (२) रास्ना। असि। इन्द्रियाण्यै। (प०पा०) रास्नासीन्द्रियाण्यै[2] (सं०पा०) (३) सूपस्था इति सु—उपस्था। देवः। (प०पा०) सूपस्था देवः[3] (सं० पा०)। इन स्थलों में दो सवर्ण स्वर मिलकर दीर्घ हो गये हैं।

असवर्ण स्वरों की सन्धि—

१—अवर्ण ( अ या आ ) पदान्त तथा इवर्ण ( इ अथवा ई ) पदादि में होने पर दोनों (अ या आ + इ या ई) एक एकार को प्राप्त करते हैं[4]। यथा—न। इष्टिः। भवति। ( प० पा० ) नेष्टिर्भवति[5] ( सं० पा० )।

२—अवर्ण पदान्त में होने पर तथा उवर्ण पदादि में होने पर दोनों ओकार रूप एकादेश को प्राप्त करते हैं[6]। तात्पर्य यह है कि अ अथवा आ पूर्व में होने पर तथा उ अथवा ऊ बाद में होने पर दोनों (अ या आ + उ या ऊ) मिलकर ओ हो जाते हैं। यथा—इषे। त्वा। ऊर्जे। त्वा। (प०पा०) इषे त्वोर्जेत्वा[7] (सं० पा०)।

३—अवर्ण पदान्त में होने पर तथा ऋकार बाद में होने पर, वे दोनों (अ अथवा आ + ऋ) अर् को प्राप्त करते हैं[8]। यथा—अर्धर्चं इत्यर्ध-ऋचे। एकाम्। (प० पा०)। अर्द्धर्चं एकाम्[9] (सं० पा)। आग्नेय्या। ऋचा। (प० पा०) आग्नेय्यर्चा[10] (सं०पा०)।

४—अवर्णान्त उपसर्ग[11] पूर्व में हो और ऋकार बाद में हो तो दोनों आर् हो जाते हैं[12]। तात्पर्य यह है कि वे उपसर्ग, जो अ तथा आ में अन्त होने

---

१. १।१।८ २. १।१।२ ३. १।२।२

४. अथावर्णपूर्वे। इवर्णपर एकारम्। तै० प्रा० १०।३-४

५. २।५।५ ६. उवर्ण पर औकारम्। तै० प्रा० १०।५ ७. १।१।१

८. अरमृकारपरे। तै० प्रा० १०।८ ९. १।६।१० १०. ३।१।६

११. तै० प्रा० १।१५ में आ, प्र, अव, उप, अभि, अधि, प्रति, परि, वि और नि—इन दस उपसर्गों का विधान किया गया है—आप्रावोपाभ्यधिप्रतिपरिविनीत्युपसर्गाः। इनमें से केवल आ, प्र, अव तथा उप—इन्हीं उपसर्गों का अन्तिम अवर्ण ऋकार से मिलकर आर् होता है। ऋकार के पूर्व में परा और अप उपसर्गों का कोई उदाहरण तै० सं० में नहीं मिलता है।

१२. उपसर्गपूर्वं आरम्। तै० प्रा० १०।९

वाले है, पूर्व में हों तथा ऋकार बाद में हो तो अ या आ + ऋ = आर् हो जाता है। यथा—उप (इति)। ऋच्छति। (प० पा०) उपार्च्छति[1] (सं०पा०)। अवार्च्छतीत्यव—ऋच्छति। (प०पा०)। अवार्च्छति[2] (सं० पा०)। ऋतव्या। उप। (प० पा०)। ऋतव्या उपोर्त्तव्या ऋतव्या उप[3] (ज० पा०)।

५—अवर्ण पदान्त में होने पर तथा एकार या ऐकार पदादि में होने पर, वे दोनों ऐकार हो जाते हैं[4]। तात्पर्य यह है कि पूर्वपद के अन्त में अ या आ हो तथा उत्तरपदादि में ए या ऐ हो तो अ या आ + ए या ऐ = ऐ हो जाता है। यथा—समिति। ब्रह्मणा। प्रच्यस्व। एकताय। (प० पा०) सं ब्रह्मणा प्रच्यस्वैकताय[5]। (सं० पा०)। सोमैन्द्रा इति सोम—ऐन्द्राः। (प० पा०)। सौमैन्द्रा[6] (सं० पा०)।

६—अवर्ण पूर्व में होने पर और ओ या औ परे होने पर वे दोनों औकार हो जाते हैं[7]। तात्पर्य यह है कि पदान्त अ या आ के बाद पदादि ओ या औ हो तो अ या आ और ओ या औ मिलकर औ हो जाते हैं। यथा—ब्रह्मौदनमिति ब्रह्म—ओदनम्। पचेत्। (प०पा०)। ब्रह्मौदनं पचेत्[8] (सं०पा०)। दाम्ना। अप (इति)। औम्भन्। (प० पा०)। दाम्नाऽपौम्भन्[9]। (सं० पा०)।

७—पदान्त में विकार को प्राप्त करने वाली सन्धियाँ—इस सन्धि में दो असवर्ण स्वरों का मेल होता है तथा सन्धि करते समय पदान्त स्वर ही विकार को प्राप्त करता है। पदादि स्वर ज्यों का त्यों रहता है, विकाररहित रहता है। ये सन्धियाँ निम्नवत् हैं -

(१) स्वर-वर्ण परे होने पर इवर्ण तथा उकार क्रमशः यकार तथा वकार-रूप विकार को प्राप्त करते हैं[10]। तात्पर्य यह है कि पदान्त में इ या ई अथवा उ हो तथा कोई भी अन्य असवर्ण स्वर पदादि में हो तो इ या ई को य् हो जाता है और उ का व् हो जाता है। यथा—अभि (इति)। अस्थात्। (प०पा०)।

---

१. १।५।५९ २. २।६।३ ३. तै० सं० ५।३।१
४. एकारैकारपर ऐकारम्। तै० प्रा० १०।६
५. १।१।९ ६. ५।६।१५
७. ओकारौकारपर औकारम्। तै० प्रा० १०।७
८. ५।७.३ ९. २।४।३
१०. इवर्णोकारौ यवकारौ। तै० प्रा० १०।१५

अभ्यस्थात्[1] (सं० पा०)। तत्र। ऊती। अश्वाम्। (प० पा०)। तत्रोत्यश्याम्[2] (सं० पा०)। एति। पूषा। एतु। आ (इति)। वसु। (प० पा०) आ पूषा एत्वा वसु[3] (सं० पा०)। इन सभी उदाहरणों में क्रमशः इ, ई तथा उ के बाद इनसे भिन्न स्वर वर्ग, अ, अ तथा आ वर्तमान हैं। अतः प्रस्तुत नियम से इ तथा ई का य् और उ का व् हो गया है।

तै० प्रा० में पदान्त दीर्घ ऊकार के वकार होने का विधान नहीं है चाहे उसके बाद में असमान स्वर क्यों न हो। ४।१ के अनुसार, पदान्त ऊकार प्रग्रहसंज्ञक होता है। १०।२४ के अनुसार, प्लुत तथा प्रग्रह स्वर संधिरूप कार्य को नहीं प्राप्त करते हैं, वे विकाररहित रहते हैं—प्रकृतिभाव से रहते हैं। अन्य प्रातिशाख्यों में पदान्त ऊकार के भी व् होने का विधान किया गया है।

(२) स्वर बाद में होने पर (पदान्त) एकार अय् हो जाता है[4]। तात्पर्य यह है कि पद के अन्त में स्थित एकार के पश्चात् कोई असवर्ण स्वर पदादि में हो तो ए के स्थान में अय् हो जाता है। यथा—इमे। एव। अस्मै। (प० पा०)। इम एवास्मै[5] (सं० पा०)। ते। एनम्। भिषज्यन्ति। (प० पा०) त एनं भिषज्यन्ति[6] (सं० पा०)।

(३) स्वर बाद में होने पर पदान्त ओकार अव् हो जाता है[7]। यथा—विष्णो। आ (इति)। इहि। इदम्। (प० पा०)। विष्णवेहीदम्[8] (सं० पा०)। किन्तु अकार बाद में होने पर पदान्त एकार तथा ओकार अय् तथा अव् नहीं होते हैं[9]। यथा—मा। ते। अस्याम्। (प० पा०)। मा ते अस्याम्[10] (सं० पा०)। ते। अब्रुवन्। (प० पा०) तेऽब्रुवन्[11] (सं० पा०)। समिद्ध इति सम्-इद्धः। अञ्जन्। (प० पा०)। समिद्धो अञ्जन्[12]—(सं० पा०)। इन स्थलों में ९।११ तथा ९।१२ से अय् तथा अव् की प्राप्ति थी किन्तु प्रस्तुत नियम उसका निषेध कर देता है।

---

१. ४।२।८; २. १।३।१४; ३. २।४।५

४. एकारोऽयम्। तै० प्रा० ९।११। यहाँ तै० प्रा० १०।१९ से पदान्त यकार का लोप हो जाता है

५. २।४।१० ६. २।३।११ ७. ओकारोऽवम्। तै० प्रा० ९।१२

८. २।४।१२ ९. नाकारपरौ। तै० प्रा० ९।१३

१०. १।६।१२; ११. २।५।१; १२. ५।१।११

(४) स्वर परे होने पर पदान्त ऐकार का आय् हो जाता है[१]। यथा—आसामहै। एव। इमौ। द्वादशौ। मासौ। (प०पा०)। आसामहा एवेमौ द्वादशौ मासौ[२] (सं०पा०)—यहाँ पर स्वर (ए) बाद में होने पर पदान्त ऐकार का आय् हो गया है। पुनः १०।१९ से यकार का लोप हो गया है।

(५) स्वर परे होने पर पदान्त औकार का आव् हो जाता है[३]। यथा—अहौ। अनदत। हते। (प० पा०)। अहावनदता हते[४] (सं० पा०)। यहाँ पर पदान्त औकार के बाद पदादि स्वर (अ) है। अतः औ के स्थान पर आव् हो गया है। पुनः वकार का लोप हो गया है।

८—पदादि में विकार को प्राप्त होने वाली सन्धियाँ—इस प्रकार की असवर्ण स्वर-वर्णों की सन्धि में केवल परवर्ती (पदादि) स्वर-वर्ण में ही विकार होता है, पूर्ववर्ती स्वर-वर्ण ज्यों का त्यों बना रहता है। इस सन्धि का विधान तै० प्रा० के ग्यारहवें अध्याय तथा बारहवें अध्याय के उनतीस सूत्रों में अत्यधिक विस्तार से किया गया है। इन सन्धि-विषयक सूत्रों को चार वर्गों[५] में विभक्त किया जा सकता है—

(१) अकारलोप विषयक सामान्य नियम[६]।

(२) सामान्य नियम के अपवादस्वरूप अलोप के नियम[७]।

(३) अलोप के अपवाद स्वरूप अकारलोप विषयक नियम[८]।

(४) अकारलोप के अपवादस्वरूप अलोपविषयक नियम[९]।

अकारलोपविषयक सामान्य नियम—ए अथवा ओ पूर्व में हो तो अकार लुप्त हो जाता है[१०]। तात्पर्य यह है कि पदादि अकार का लोप हो जाता है यदि पदान्त में एकार अथवा ओकार हो। यथा—(१) अब्रुवन्। (प०पा)।

---

१. ऐकार आयम्। तै० प्रा० ९।१४ २. ७।५।२

३. औकार आवम्। तै० प्रा० ९।१५ ४. ५।६।१

५. इन चार वर्गों को वै० भा० में प्रथम कक्ष्या, द्वितीय कक्ष्या, तृतीय कक्ष्या तथा चतुर्थ कक्ष्या—इस प्रकार विभक्त किया गया है। माहिषेय तथा त्रिभाष्यरत्नकार—दोनों ने इस प्रकार का कोई वर्गीकरण नहीं किया है।

६. तै० प्रा० ११।१; ७. तै० प्रा० ११।२, ६-१८;

८. तै० प्रा० १२।१-११; ९. तै० प्रा० ११।४-५

१०. लुप्यते त्वकार एकारओकारपूर्वः। तै० प्रा० ११।१

तेऽब्रुवन्[1] (सं० पा०) (२) सः। अब्रवीत्। (प० पा०)। सोऽब्रवीत्[2] (सं० पा०)।

सामान्य नियम के अपवादस्वरूप अलोप के नियम—(१) धातारातिं तथा उप पद से प्रारम्भ होने वाले अनुवाकों में, वाजपेय[3] संज्ञक अनुवाकों में, जुष्ट तथा श्येनाय से आरम्भ होने वाले अनुवाकों में, उख्य[4] संज्ञक अनुवाक में, ध्रुवक्षिति, इयमेव सा या तथा अग्निमूर्धा से प्रारम्भ होने वाले अनुवाकों में, रुद्राध्याय के प्रथम तथा उपोत्तम (अन्तिम से पूर्ववर्ती) अनुवाकों में, विकर्ष[5], विहव्य,[6] हिरण्यवर्णीय[7], याज्या[8] तथा महापृष्ठ्य-संज्ञक[9] अनुवाकों में—इन तिहत्तर अनुवाकों में एकार तथा ओकार पूर्व में होने पर अकार का लोप नहीं होता है[10]।

---

१. २।५।१; २. २।१।२

३. तै० सं० १।७।७ से १।७।१२ तक के छः अनुवाकों के मन्त्रों को वाजपेय अनुवाक कहते हैं।

४. अग्निकाण्ड के आदि वाले दो प्रश्नों को उख्य संज्ञा है। अन्तिम दो अनुवाकों को छोड़कर अर्थात् ४।१।१-१० तथा ४।२।१-१० इन बीस अनुवाकों के मन्त्रों की उख्य संज्ञा है।

५. ४।६।१-५ तक पाँच अनुवाकों के मन्त्र विकर्ष-संज्ञक हैं।

६. ४।७।१२-१४ तक के तीन अनुवाकों के मन्त्र विहव्य संज्ञक हैं।

७. हिरण्यवर्णाः शुचयः.........(५।६।१) इत्यादि अनुवाक हिरण्यवर्णीय संज्ञक है।

८. याज्या अनुवाक के अन्तर्गत इन तेईस अनुवाकों के मन्त्रों का ग्रहण होता है—१।१।१४; १।२।१४; १।३।१४; १।४।४६; १।५।११; १।६।१२; १।७।१३; १।८।२२; २।१।११; २।२।१२; २।३।१४; २।४।१४; २।५।१२; २।६।११; २।६।१२; ३।१।११; ३।२।११; ३।३।११; ३।४।११; ३।५।११; ४।१।११; ४।२।११; ४।३।१३।

९. महापृष्ठ्य संज्ञक अनुवाकों के अन्तर्गत ४।४।१२; ४।६।६-९ तथा ४।७।१५ इन ६ अनुवाकों के मन्त्र आते हैं।

१०. धातारातिरुपवाजपेयजुष्टश्येनायोख्यध्रुवक्षितिरियमेवसायाग्निमूर्धारुद्रप्रथमोपोत्तमविकर्षविहव्यहिरण्यवर्णीययाज्यामहापृष्ठ्ये। तै० प्रा० ११।३

इस विधान के कतिपय उदाहरणों को प्रस्तुत सारिणी द्वारा दिखलाया जा रहा है—

| अनुवाक | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| धातारातिः | निधिपतिरिति निधि-पतिः । नः । अग्निः । | निधिपतिर्नो अग्निः[१] |
| उप | उपप्रयन्त इत्युप-प्रयन्तः । अध्वरम् । | उपप्रयन्तो अध्वरम्[२] |
| वाजपेय | ते । नः । अर्वन्तः । | ते नो अर्वन्तः[3] |
| जुष्ट | यः । ते । अंशुः । | यस्ते अंशुः[४] |
| श्येनाय | नमः पितृभ्य इति पितृभ्यः । अभीति । | नमो पितृभ्यो अभि[५] |
| उख्य | शृण्वन्ति । विश्वे । अमृतस्य । | शृण्वन्ति विश्वे अमृतस्य[६] |
| ध्रुवक्षिति | विश्वे । अभीति । गृणन्तु । | विश्वे अभि गृणन्तु[७] |
| इयमेव सा या | केतुम् । कृण्वाने इति । अजरे इति । | केतुं कृण्वाने अजरे[८] |
| अग्निमूर्धा | योजते । अरुषः । एना । वः । अग्निम् । | योजते अरुषः[९] एना वो अग्निम्[१०] |
| रुद्राध्याय प्रथम अनु० | नमः । अस्तु । नीलग्रीवायेति नील-ग्रीवाय । | नमो अस्तु नीलग्रीवाय[११] |
| उपोत्तम | उत । मा । नः । अर्भकम् । | उत मा नो अर्भकम्[१२] |
| विकर्ष | अन्यम् । ते । अस्मत् । | अन्यं ते अस्मत्[१३] |
| विहव्य | विश्वे । अद्य । मरुतः । | विश्वे अद्य मरुतः[१४] |
| हिरण्यवर्णीय | एकः । देवः । अधीति । अतिष्ठत् । | एको देवो अध्यतिष्ठत्[१५] |
| याज्या | सुपथेति सु-पथा । राये । अस्मान् । | सुपथा राये अस्मान्[१६] |
| महापृष्ठ्य | सोमः । अधीति । ब्रवीतु । | सोमो अधि ब्रवीतु[१७] |

१. १।४।४, २. १।५।५, ३. १।७।८, ४. ३।१।१०, ५. ३।२।८
६. ४।१।१ ७. ४।३।४, ८. ४।३।११ ९. ४।४।४, १०. ४।४।४
११. ४।५।१, १२. ४।५।१० १३. ४।६।१, १४. ४।७।१२
१५. ५।६।१, १६. १।१।१४, १७. ४।६।६

(२) वातः पूर्व में होने पर अभिवातु तथा अपः का अकार लुप्त नहीं होता है[१]। यथा—मयोभूरिति मयः-भूः। वातः। अभीति। वातु। (प० पा०)। मयोभूर्वातो अभिवातु[२] (सं० पा०)। यद् वातो अपो अगमत्[३] (सं० पा०)।

(३) अपः पूर्व में होने पर अनु तथा अगमत् के अकार का लोप नहीं होता है[४]। यथा—(१) अपः। अन्विति। अचारिषम्। (प० पा०)। अपो अन्वचारिषम्[५] (स० पा०) (२) अपः। अगमत्। इन्द्रस्य। (प० पा०) अपो अगमदिन्द्रस्य[६] (सं० पा०) यहाँ १२।४ से लोप की प्राप्ति थी। उसका अपवाद होने के कारण अनु शब्द अकारलोप के अपवाद स्वरूप अलोपविषयक नियम के अन्तर्गत भी आता है।

(४) आपः पूर्व में हो तो अद्भिः, अपान्नपात् और अस्मान् के अकार का लोप नहीं होता है[७]। यथा—(१) समिति। आपः अद्भिरित्यत्-भिः। अग्मत। (प० पा०)। समापो अद्भिरग्मत[८] (सं० पा०) (२) देवीः। आपो। अपाम्। नपात्। (प० पा०) देवीरापो अपां नपात्[९] (सं० पा०) आपः। अस्मान्। मातरः। (प० पा०) आपो अस्मान्मातरः[१०]।

(५) राये, सः तथा इन्द्रः पद पूर्व में होने पर तथा अकार बाद में होने पर अस्मान् का अकार लुप्त नहीं होता है[११]। प्रस्तुत नियम पर त्रिभाष्यरत्नकार का कथन है कि राये पूर्व में हो तथा अकार बाद में हो जिसके ऐसे अस्मान् पद के अकार के अलोप का उदाहरण किसी अन्य शाखा में खोजना चाहिए अथवा इस सूत्र का सम्बन्ध जटा-पाठ से है[१२]। जटा-पाठ से सम्बन्धित मानने के कारण त्रिभाष्यरत्नकार ने राये अस्मान् अस्मान् राये इत्यादि जटा-पाठ को राये के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है (१) राये। अस्मान्।

---

१. अभिवात्वपश्च। तै० प्रा० ११।६ २. ७।४।१७,
३. ७।४।२० ४. अन्वगमच्च। तै० प्रा० ११।७
५. १।४।३५, ६. ७।४।२०
७. आपः पूर्वोऽद्भिरपान्नपादस्मान्। तै० प्रा० ११।८
८. १।१।८, ९. १।२।८, १०. १।२।१
११. रायेसइन्द्रः पूर्वश्चाकारपरे। तै० प्रा० ११।९
१२. रायेपूर्वस्योदाहरणं शाखान्तरे। अथवा जटायां भवति। तै० प्रा० १ ९ पर त्रि० भा०।

(प० पा०)। राये अस्मानस्मान्राये राये अस्मान्[१] (सं० पा०) (२) मा। सः। अस्मान्। अवहायेत्यवहाय। (प० पा०) मा सो अस्माँ अवहाय[२] (सं० पा०) (३) इन्द्रः। अस्मान्। अस्मिन्। (प० पा०) इन्द्रो अस्मानस्मिन्[३] (सं पा०)।

(६) 'ते' पूर्व में रहने पर अथ, अन्धः, अंशुः तथा अग्ने के अकार का लोप नहीं होता है[४]। यथा–पशुम्। पशुपत इति पशु-पते। ते। अथ। (प० पा०) पशुं पशुपते ते अथ[५] (सं० पा०) उपो इति। ते। अन्धः (प० पा०) उपो ते अन्धः[६] (सं० पा०)। अंशुना। ते। अंशुः। (प० पा०) अंशुना ते अंशुः[७] (सं०पा०)। यत्। ते। अग्ने। तेजः। तेन। अहम्। (प० पा०) यत्ते अग्ने तेजस्तेनाहम्[८] (सं० पा०)।

(७) 'मे' पूर्व में होने पर अग्ने के अकार का लोप नहीं होता है[९]। यथा— यत्। मे। अग्ने। अस्य। (प० पा०) यन्मे अग्ने अस्य[१०] (सं० पा०)। इमाः। मे। अग्ने। इष्टकाः। (प० पा०) इमा मे अग्ने इष्टकाः[११] (सं० पा०)।

(८) 'मे' पूर्व में होने पर अस्य, अश्विना तथा अपरा के अकार का लोप नहीं होता है[१२]। यथा–वियन्तु। देवाः। हविषः। मे। अस्य। (प० पा०) वियन्तु देवा हविषो मे अस्य[१३] (सं० पा०)। पुनः। मे। अश्विना। युवम्। (प० पा०) पुनर्मे अश्विना युवम्[१४] (सं० पा०)। यत्। वा। मे। अपरागत-मित्यपरा-गतम्। (प० पा०) यद्वा मे अपरागतम्[१५] (सं० पा०)।

(९) नः पूर्व में होने पर असत्, अग्निः, अघ, अन्तमः, अभि, अस्मिन् और अध्वरथि के अकार लुप्त नहीं होते हैं[१६]। यथा—सुपारेति सुपारा। नः। असत्। वशे। (प० पा०) सुपारा नो असद्वशे[१७]। (सं० पा०) अयम्। नः। अग्निः। वरिवः। (प० पा०) अयं नो अग्निर्वरिवः[१८] (सं० पा०)। रक्ष। माकिः। नः। अघशंसः इत्यघ-शंसः। ईशत। (प० पा०) रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत[१९] (सं० पा०)। अग्ने। त्वम्। नः। अन्तमः। (प० पा०) अग्ने त्वं नो

---

१. १।१।१४, १।४।४३, २. ५।७.९, ३. ३।१।९
४. तेपूर्वोऽथान्धोऽशुरग्ने। तै० प्रा० ११।१० ५. ३।१।४; ६. १।४।४;
७. १।२।६; ८. ४।५।३ ९. मेपूर्वश्च। तै० प्रा० ११।११ १०. १।६।२
११. ४।४।११ १२. अस्याश्विनाऽपरा च। तै० प्रा० ११।१२ १३. १।५।१०;
१४. ३।२।५; १५. ६।६।७ १६. नः पूर्वोऽसदग्निरघान्तमोऽभ्यस्मिन्नध्वपथि।
तै० प्रा० ११।१३ १७. १।२।३; १८. १।३।४; १९. १।४।२४

अन्तमः[1] (सं० पा०)। स्विष्टिमिति सु-इष्टिम्। नः। अभीति। (प० पा०) स्विष्टि नो अभि[2] (सं० पा०)। शिक्ष। नः। अस्मिन् (प० पा०) शिक्षा नो अस्मिन्[3]। (सं० पा०) तेभिः। नः। अद्य। पथिभिरिति पथि-भिः। (प० पा०) तेभिर्नो अद्य पथिभिः[4] (सं० पा०)।

(१०) 'नमः' पूर्व में होने पर अग्रे, अश्वेभ्यः तथा अग्रियाय के अकार का लोप नहीं होता है[5]। यथा - (१) नमः। अग्रेवधायेत्यग्रे—वधाय। च। (प० पा०) नमो अग्रेवधाय च[6] (सं० पा०)। नमः अश्वेभ्यः। अश्वपतिभ्य इत्यश्वपति—भ्यः। (प० पा०) नमो अश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यः[7] (सं० पा०)। नमः। अग्रियाय। च। (प० पा०) नमो अग्रियाय च[8] (सं० पा०)।

(११) आविन्नः तथा सोमः पूर्व में होने पर और ग्नि बाद में होने पर अकार लुप्त नहीं होता है[9]। यथा - आविन्नः। अग्निः। गृहपतिरिति गृह—पतिः। (प० पा०) आविन्नो अग्निर्गृहपतिः[10] (सं० पा०)। सोमः। अग्निः। उपेति। देवाः। (प० पा०) सोमो अग्निरुप देवाः[11] (सं० पा०)।

(१२) धीरासः, अदब्धासः, एकादशासः, ऋषीणां पुत्रः, शार्याते, अषाढः, पितारः, पृथिवीयज्ञे, आसते ये, गृह्णाम्यग्रे, वाँ एषः, जज्ञे, संस्फानः, युवयोर्यः, पृष्ठे, पतिर्वः, गो, शुष्मः, पुवः, समिद्धः, ऋषभः, पाथः, वचः,व र्षिष्ठे, जुषाणः, यो रुद्रः, तथा वृष्णः —पद पूर्व में होने पर अकार का लोप नहीं होता है[12]। उदाहरणों को रेखाचित्र द्वारा दिखलाया जा रहा है—

| सूत्र के पद | पद-पाठ | संहिता पाठ |
|---|---|---|
| धीरासः | धीरासः। अनुदृश्येत्यनुदृश्य। यजन्ते। | धीरासो अनुदृश्य यजन्ते[13] |
| अदब्धासः | अदब्धासः। अदाभ्यम्। | अदब्धासो अदाभ्यम्[14] |

१. १।५।६; २. ३।१।८।९। ३. ७।५।७;
४. ७।५।२४ ५. नमः पूर्वेऽग्रेऽश्वेभ्योऽग्रियाय। तै० प्रा० ११।१६
६. ४।५।८; ७. ४।५।३, ८. ४।५।९
९. आविन्नः सोमः पूर्वो ग्निपरः। तै० प्रा० ११।१५ १०. १।८।१२
११. ३।२।४ १२. धीरासोऽदब्धास एकादशास ऋषीणांपुत्रः शार्यातेऽषाढः पितारः पृथिवी यज्ञ आसतेये गृह्णाम्यग्रे वाँ एषः जज्ञे संस्फानो युवयोर्यः पृष्ठे पतिर्वो गोशुष्मः पुवः समिद्ध ऋषभः पाथो वचो वर्षिष्ठेजुषाणो यो रुद्रो वृष्णः पूर्वः। तै० प्रा० ११।१६ १३. १।१।९, १४. १।१।१०

| सूत्र के पद | पद-पाठ | संहिता पाठ |
|---|---|---|
| एकादशास: | एकादशास: । अप्सुषद इति अप्सु-सद: । | एकादशासो अप्सुषद:[1] |
| ऋषीणां पुत्र: | ऋष.णाम् । पुत्र: । अधिराज इत्यधिराज: । एष: । | ऋषीणां पुत्रो अधिराज एष:[2] |
| शार्याते | यथा । शार्याते । अपिब: । | यथा शार्याते अपिब:[3] |
| अषाढ: | अषाढ: । अग्नि: । | अषाढो अग्नि:[4] |
| पितार: | त्वत्पितार इति त्वत्-पितार: । अग्ने । देवा: । | त्वत्पितारो अग्ने देवा:[5] |
| पृथिवी यज्ञे | पृथिवी । यज्ञे । अस्मिन् । | पृथिवी यज्ञे अस्मिन्[6] |
| आसते ये | अधीति । आसते । ये । अन्तरिक्षे । | अध्यासते ये अन्तरिक्षे[7] |
| गृह्णाम्यग्रे | मयि । गृह्णामि । अग्रे । अग्निम् । | मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निम्[8] |
| वाँ एष: | इडावानितीडा-वान् । एष: । असुर: । | इडावाँ एषो असुर[9] |
| जज्ञे | प्रथमम् । जज्ञे । अग्नि: । | प्रथमं जज्ञे अग्नि:[10] |
| स॒ँस्फान: | स॒ँस्फान इति सं-स्फान: । अभीति । रक्षतु । | स॒ँफानो अभिरक्षतु[11] |
| युवयोर्य: | युवयो: । य: । अस्ति । | युवयोर्यो अस्ति[12] |
| पृष्ठे | नाकस्य । पृष्ठे । अधीति । | नाकस्य पृष्ठे अधि[13] |
| पतिर्व: | यज्ञपतिरिति यज्ञ-पति: । व: । अत्र । | यज्ञपतिर्वो अत्र[14] |
| गो | गो अर्घमिति गो-अर्घम् । एव । सोमम् । करोति | गो अर्घमेव सोमं करोति ।[15] |

१. १।४।११ २. १।३।६ ३. १।४।१८
४. १।५।१० ५. १।५।१० ६. १।६।५
७. ३।५।४ ८. ५।७।९ ९. १।६।६
१०. २।४।४ ११. ३।३।८ १२. ६।५।४
१३. ३।५।५ १४. ५।७।७ १५. ६।१।१०

| सूत्र के पद | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| गो | अगो अर्थमित्यगो —अर्थम् । | अगो अर्थम्[1] |
| शुष्म: | उच्छुष्म इत्युत्-शुष्मः । अग्ने यजमानाय । | उच्छुष्मो अग्ने यजमानाय[2] |
| पुत्र: | अग्रे पुत्र इति अग्रे-पुत्रः । अग्रे गुव इति अग्रे-गुवः । | अग्रे पुवो अग्रेगुवो[3] |
| समिद्ध: | समिद्ध इति सम्-इद्धः । अञ्जन् । | समिद्धो अञ्जन्[4] |
| ऋषभ: | द्याम् । ऋषभः । अन्तरिक्षम् । | द्यामृषभो अन्तरिक्षम्[5] |
| पाथ: | प्रियम् । पाथः । अपीति । इहि । | प्रियं पाथो अपीहि[6] |
| वच: | उग्रम् । वचः । अपेति । अवधीम् । | उग्रं वचो अपावधीम्[7] |
| वर्षिष्ठे | वर्षि ठे । अधीति । नाके । | वर्षिष्ठे अधि नाके[8] |
| जुषाण: | जुषाणः । अप्तुः आज्यस्य । वेतु । | जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेतु[9] |
| यो रुद्र: | यः । रुद्रः । अग्नौ । यः । | यो रुद्रो अग्नौ यः[10] |
| वृ:ण | वृष्णः । अश्वस्य । सन्दानम् । | वृष्णो अश्वस्य सन्दानम्[11] |

(१३) अरतिम्, अस्य यज्ञस्य, अतिद्रुतः, अतियन्ति, अनृणः, अविध्यन्, अनमीवः, अन्नेषु, अर्चिचः, अजीतान्, अज्यानिम्, अह्नियाः, अम्बालि, अर्वन्तम्, अस्तु, अकृणोत्, अङ्गिरः, अप्सु यः, अस्कभायत्, अच्युतः, अश्वसनिः, अस्थभिः, अशिश्रेत्, अङ्गे तथा अघ्निय का अकार एकार और ओकार पूर्व में होने पर लुप्त नहीं होता है[12] । इस नियम के अन्तर्गत आने वाले उदाहरणों को रेख.चित्र द्वारा इस प्रकार दिखलाया जा रहा –

| सूत्र में उद्धृत पद | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| अरतिम् | मूर्धानम् । दिवः । अरतिम् । | मूर्धानं दिवो अरतिं[13] |

१. ६।१।१० २. १।६।२ ३. १।१।५
४. ५।१।११ ६. १।२।८, ६. ३।३।३, ७. १।२।११
८. १।१।८, ९. १।३।४, १०. ५।५।९, ११. २।४।७

१२. अरतिमस्य यज्ञस्यातिद्रुतोऽतियन्त्यनृणोऽविध्यन्ननमीवोऽन्ने र्चिचरजीतानज्यानिमह्निया अम्बाल्यर्वन्तमस्त्वकृणोदंगिरोऽप्सु यो अस्कभायदच्युतोऽश्वसनिरस्थभिरशिश्रेदंगेऽघ्निय । तै० प्रा० ११।१७ १३. १।४।१३,

| सूत्र के पद | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| अस्य यज्ञस्य | यत् । मे । अग्ने । अस्य । यज्ञस्य । | यन्मे अग्ने अस्य यज्ञस्य[1] |
| अतिद्रुतः | प्रत्यङ् । सोमः । अतिद्रुतइत्यति-द्रुतः । | प्रत्यङ् सोमो अतिद्रुतः[2] |
| अतियन्ति | पश्यन्तः । अतीति । यन्ति । | पश्यन्तो अतियन्ति[3] |
| अनृणः | तत् । अग्ने । अनृणः । भवामि । | तदग्ने अनृणो भवामि[4] |
| अविष्यन् | न । यवसे । अविष्यन् । | न यवसे अविष्यन्[5] |
| अनमीवः | स्वावेश इति सु-आवेशः । अनमीवः । | स्वावेशो अनमीवः[6] |
| अन्नेषु | ये । अन्नेषु । विविध्यन्तीति विविध्यन्ति । | ये अन्नेषु विविध्यन्ति[7] |
| अर्चिः | जातवेद इति जात-वेदः । यः । अर्चि । | जातवेदो यो अर्चि[8] |
| अजीतान् | शरदः । अजीतान् । | शरदो अजीतान्[9] |
| अज्यानिम् | तेषाम् । यः । अज्यानिम् । | तेषां यो अज्यानिम्[10] |
| अह्वियाः | तिरोअह्विया इतितिरः-अह्वियाः । मा । सुहुता इति सु-हुता. । | तिरो अह्विया मा सुहुताः[11] |
| अम्बालि | अम्बे । अम्बालि । | अम्बे अम्बालि[12] |
| अर्वन्तम् | यः । अर्वन्तम् । जिघांसति । | यो अर्वन्तं जिघांसति[13] |
| अस्तु | बर्हिः । ते । अस्तु । बाल् । इति । | बर्हिस्ते अस्तु बालिति[14] |
| अकृणोत् | इतः । इन्द्रः । अकृणोत् । | इत इन्द्रो अकृणोत्[15] |
| अङ्गिरः | अग्ने । अङ्गिरः । यः । अस्याम् । | अग्ने अङ्गिरो यो अस्याम्[16] |
| अप्सु यः | यः । अप्सु । यः । ओषधीषु । | यो अप्सु य ओषधीषु[17] |
| अस्कभायत् | यः । अस्कभायत् । उत्तरमित्युत्-तरम् । | यो अस्कभायदुत्तरम्[18] |
| अच्युतः | मदाय । रसः । अच्युतः । | मदाय रसो अच्युतः[19] |
| अश्वसनिः | यः । भक्षः । अश्वसनिरित्यश्वसनिः । | यो भक्षो अश्वसनिः[20] |

१. १।१।१२, २. १।८।२१ ३. ३।२।२, ४. ३।३।८
५. ४।४।३ ६. ३।१।१० ७. ४।५।११ ८. ५।७।८
९. ५।७।२ १०. ५।७।२ ११. ७।३।१३ १२. ७।४।१९
१३. ७।४।१९ १४. ३।३।१० १५. १।१।१२ १६. १।२।१२
१७. ५।५।९ १८. १।२।१३ १९. १।२।६ २०. ३।२।५

| सूत्र में पद | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| अस्थभिः | इन्द्रः । दधीचः । अस्थभिरित्यस्थभिः । | इन्द्रो दधीचो अस्थभिः[1] |
| अश्विन्रेत् | वरुणः । अश्विन्रेत् । | वरुणो अश्विन्रेत्[2] |
| अङ्गे | अङ्गे अङ्ग इत्यङ्गे नीति । देव्यत् । | अङ्गे अङ्गे नि देव्यत्[3] |
| अघ्निय | एतानि । ते । अघ्निये । नामानि । | एतानि ते अघ्निये नामानि[4] |
| ,, | यत् । आपः । अघ्नियाः । वरुण । इति । | यदापो अघ्निया वरुणेति[5] |

(१४) अध्वर का अकार लुप्त नहीं होता है यदि स्वर बाद में हो। तात्पर्य यह है कि एकार अथवा ओकार पूर्व में स्थित हो तथा स्वर बाद में हो तो अध्वर पद का आदि अकार लुप्त नहीं होता है[6]। यथा—सत्यधर्माण इति सत्य-धर्माणः। अध्वरे। (प० पा०)। सत्यधर्माणो अध्वरे[7] (सं०पा०) हविष्मान्। देवः। अध्वरः। (प० पा०)। हविष्मान् देवो अध्वरः[8] (सं० पा०) उपप्रयन्त इत्युपप्रयन्तः। अध्वरम्। इति। आह। (प० पा०) उपप्रयन्तो अध्वरमित्याह[9] (सं० पा०)।

अलोप के अपवादस्वरूप अकारलोप विषयक नियम—

(१) घातारातिं इत्यादि (११।३) अनुवाकों में एकार या ओकार पूर्व में होने पर असि—इस पद के अकार का लोप हो जाता है[10]। यथा—सुपर्ण इति सु-पर्णः। असि। गरुत्मान्। (प० पा०) सुपर्णोऽसि गरुत्मान्[11] (सं० पा०)। प्रथः। असि। पृथिवी। असि। (प० पा०) प्रथोऽसि पृथिव्यसि[12] (सं० पा०)।

---

१. ५।६।६ २. १।८।१० ३. १।३।१० ४. ७।१।६
५. १।३।११ ६. अध्वर स्वरपरे। तै० प्रा० ११।१८ ७. १।२।१
८. १।३।१२ ९. १।५।७ १०. अथ लोपः। असि। तै० प्रा० २।१-२ ११।३ के आधार पर घातारातिं इत्यादि अनुवाकों में एकार या ओकार पूर्व में होने पर अकार का लोप नहीं होता है। किन्तु प्रस्तुत सूत्रों से एकार या ओकार पूर्व में होने पर घातारातिं इत्यादि अनुवाकों में भी असि के अकार का लोप हो जाता है। ११. ४।१।१० १२. ४।२।९

इन स्थलों पर ११।३ से अलोप की प्राप्ति थी क्योंकि ये उदाहरण उक्थ अनुवाक के हैं किन्तु प्रस्तुत नियम से उसका निषेध हो जाता है। और असि के अकार का लोप हो जाता है।

किन्तु धाताराति इत्यादि अनुवाकों में गर्भः, सन्नद्धः, यमः अथवा भद्रः पूर्व में होने पर असि के अकार का लोप नहीं होता है[1]। यथा—गर्भः। असि। ओषधीनाम्। (प० पा०) गर्भो अस्योषधीनाम्[2] (सं० पा०)। सन्नद्ध इति सम्-नद्धः। असि। वीडयस्व। (प० पा०) सन्नद्धो असि वीडयस्व[3] (सं० पा०)। असि। यमः। असि। आदित्यः। (प० पा०) असि यमो अस्यादित्यः[4] (सं० पा०)। त्वम्। भद्रः। असि। क्रतुः। (प० पा०)। त्वं भद्रो असि क्रतुः[5] (सं० पा०)। १२।२ से यहाँ लोप की प्राप्ति थी।

(२) अकार का लोप हो जाता है, यदि उसके बाद यकार, वकार, नकार तथा हकार हो और उनके बाद कोई स्वर हो[6]। अर्थात् पदान्त एकार या ओकार के बाद आनेवाले उस पदादि अकार का लोप होता है जिसके बाद य्, व्, न् या ह् हो तथा इन य्, व्, न् या ह् के बाद स्वर हो। यथा—हिरण्यशृङ्ग इति हिरण्यशृङ्गः। अयः। अस्य। पादाः। (प० पा०) हिरण्यशृङ्गोऽयो अस्य पादाः[7] (सं० पा०)। वनस्पते। अवेति। सृज। रराणः। (प० पा०) वनस्पतेऽवसृज रराणः[8] (सं० पा०)। वरेण्यः। अन्विति। प्रयाणमिति प्र-यानम्। (प० पा०)। वरेण्योऽनुप्रयाणम्[9] (सं० पा०)। जम्भयन्तः। अहिम्। वृकम्। (प० पा०)। जम्भयन्तोऽहिं वृकम्[10] (सं० पा०)। क्रमशः अ, अ, उ तथा इ स्वर बाद में हैं। यह नियम ११।३ का अपवाद है।

(३) धातारात अनुवाकों में जकार तथा ग्न बाद में होने पर उदात्त अकार लुप्त हो जाता है[11]। तात्पर्य यह है कि धातारात इत्यादि अनुवाकों में एकार तथा ओकार पूर्व में होने पर पदादि उदात्त अकार का लोप हो जाता है, यदि जकार तथा ग्न बाद में हों। यथा—ओजः। अजायथाः। (प० पा०) ओजोऽजायथाः[12] (सं० पा०)। शुचिः। पावकः। वन्द्यः। अग्ने। (प० पा०)

---

१. न गर्भस्सन्नद्धोयमोभद्रः पूर्वः। तै० प्रा० १२।३
२. ४।२।३ ३. ४।६।६ ४. ४।६।७ ५. ४।३।१३
६. यवनहपरः स्वरपरेषु। तै० प्रा० १२।४ ७. ४।६।७ ८. ४।१।१८
९. ४।१।१० १०. १।७।८ ११. जकारग्नपर उदात्तः। तै० प्रा० १२।५
१२. १।६।१२

शुचिः पावक वन्द्योऽग्ने[1] । (सं० पा०) ।

(४) मः, वचः, दधानः तथा स्थे पूर्व में रहने पर, ग्न परे रहते अकार लुप्त हो जाता है[2] । तात्पर्य यह है कि पदादि अकार से पूर्व में मः, वचः, दधानः और स्थे हो तथा अकार के बाद में ग्न हो तो अकार का लोप हो जाता है । यथा—अङ्गिरस्वत् । अच्छ । इमः । अग्निम् । (प० पा०) अङ्गिरस्वदच्छेमोऽग्निम्[3] (सं० पा०) । वचः । अग्नये । भरत । बृहत् । (प० पा०) वचोऽग्नये भरता बृहत्[4] (सं० पा०) । दधानः । अग्निः । होता । (प० पा०) दधानोऽग्निर्होता[5] (सं० पा०) । सधस्थे इति सध-स्थे । अग्निम् । पुरीष्यम् (प० पा०) । सधस्थेऽग्नि पुरीष्यम्[6] (सं० पा०) ।

(५) अभ्यावर्तिन्, अपूपम्, अपिदधामि, अद्यानु अदितिश्शर्म, अग्नेर्जिह्वाम्, अग्नयः पप्रयः, अस्माकम्, अस्मे धत्त, अश्मा, अश्वाश्रुतिः, अश्याम, अमा, अर्यमन्, अस्मत्पाशान्, अस्मिन्यज्ञे, अस्ना, अव्यथमाना, अभिद्रोहम्, अधायि, अदः, अथो, अदुग्धाः, अरिष्टाः, अरथाः, अर्चन्ति, अन्तरस्याम्, अत्रस्थ, अन्नाय, अङ्गिरस्वत् तथा अकरम् के पदादि अकार लुप्त हो जाते हैं[7] । (प्रस्तुत नियम में 'धातारातिः इत्यादि अनुवाक में एकार तथा ओकार पूर्व में होने पर' की अनुवृत्ति होती है ।) उदाहरणों को रेखा-चित्र द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—

| सूत्र के पद | अनुवाक | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|---|
| अभ्यावर्तिन् | उरुय | अग्ने । अभ्यावर्तिन्नित्य-भि-आवर्तिन् । | अग्नेऽभ्यावर्तिन्[8] |
| अपूपम् | उरुय | भद्रशोच इति भद्र-शोचे । अपूपम् । देव । | भद्रशोचेऽपूपं देव[9] |

---

१. १।३।१४ २. मोवचोदधानस्स्थेपूर्वश्च । तै० प्रा० १२।६
३. ४।१।२ ४. ३।२।११ ५. ४।१।३ ६. ४।१।३
७. अभ्यावर्तिन्नपूपमपिदधाम्यद्यान्वदितिश्शर्माग्नेर्जिह्वामग्नयःपप्रयोऽस्माकमस्मेधत्ताश्माश्वाश्रुतिरश्याममाऽर्यमन्नस्मत्पाशानस्मिन् यज्ञेऽस्नाऽव्यथमानाऽभिद्रोहमधाय्यदोऽथो अदुग्धा अरिष्टा अरथाअर्चन्त्यन्तरस्यामत्रस्थान्नायाङ्गिरस्वदकरम् । तै० प्रा० १२।७ ८. ४।२।१
९. ४।२।२

| सूत्र के पद | अनुवाक | पद-पाठ | संहिता पाठ |
|---|---|---|---|
| अपिदधामि | उख्य | अग्ने । अपीति । दधामि । आस्ये । | अग्नेऽपिदधाम्यास्ये[१] |
| अद्यानु | याज्या | अग्निरिति । नः । अद्य । अनुमतिरित्यनु-मतिः । | अनुनोऽद्यानुमतिः[२] |
| अदितिश्शर्म | महापृष्ठ्य | अधीति । ब्रवीतु । नः । अदितिः । शर्म । यच्छतु । | अधि ब्रवीतु नोऽदितिः-शर्म यच्छतु[३] |
| अग्नेर्जिह्वाम् | उख्य | अध्वरम् । नः । अग्नेः । जिह्वाम् । अभीति । गृणीतम् । | अध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वा-मभिगृणीतम्[४] |
| अग्नयः पप्रयः | वाजपेय | ते । नः । अग्नयः । पप्रयः । | ते नोऽग्नयः पप्रयः[५] |
| अस्माकम् | महापृष्ठ्य | नरः । अस्माकम् । इन्द्र । | नरोऽस्माकमिन्द्र[६] |
| अस्मे धत्त | धात्राराति | विश्वे । अस्मे इति । धत्त । | विश्वेऽस्मे धत्त[७] |
| अश्मा | महापृष्ठ्य | परीति । वृङ्धि । नः अश्मा । भवतु । | परि वृङ्धि नोऽश्मा भवतु[८] |
| अश्वा | महापृष्ठ्य | य वृषपाणय इति वृष-पाणयः । अश्वाः । रथेभिः । | वृषपाणयोऽश्वा रथेभिः[९] |
| अश्याम | याज्या | वाजयन्तः । अश्याम । द्युम्नम् । | वाजयन्तोऽश्याम द्युम्नम्[१०] |
| अमा | विहव्य | पुनः । ते । अमा । एषाम् । | पुनस्तेऽमैषाम्[११] |
| अर्यमन् | याज्या | ये । ते अर्यमन् । | ये तेऽर्यमन्[१२] |

१. ४।१।१०  २. ३।३।११  ३. ४।६।६  ४. ४।१।८
५. १।७।७  ६. ४।६।६  ७. १।४।४४  ८. ४।६।६
९. ४।६।६  १०. १।३।१४  ११. ४।७।१४
१२. २।३।१४

| सूत्र के पद | अनुवाक | पदपाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|---|
| अस्मत्पाशान् | याज्या | ते । अस्मत् । पाशान् । | तेऽस्मत्पाशान्[1] |
| अस्मिन् यज्ञे | याज्या | यः । पिता । ते । अस्मिन् । यज्ञे । | यः पिता तेऽस्मिन्यज्ञे[2] |
| अस्ता | याज्या | प्रसितिमिति प्र-सितिम् । दूणानः । अस्ता । असि । | प्रसितिं दूणानोऽस्तासि[3] |
| अव्यथमाना | उक्थ्य | मा । सुपर्ण इति सु-पर्णः । अव्यथमाना । | मा सुपर्णोऽव्यथमाना[4] |
| अभिद्रोहं | याज्या | जने । अभिद्रोहमित्यभि-द्रोहम् । | जनेऽभिद्रोहम्[5] |
| अधायि | महापृष्ठ्य | सुमदिति सु-मत् । मे । अधायि । मन्म । | सुमन्मेऽधायिमन्म[6] |
| अदः | उक्थ्य | ये । अदः । रोचने । दिवः । | येऽदो रोचनेदिवः[7] |
| अथो | उक्थ्य | मह्यम् । अग्ने । अथो इति । सीद । | मह्यमग्नेऽथो सीद[8] |
| अदुग्धाः | याज्या | शूर । नोनुमः । अदुग्धाः । | शूर नोनुमोऽदुग्धाः[9] |
| अरिष्टाः | विहव्य | पूर्वे । अरिष्टाः । स्याम । | पूर्वेऽरिष्टाः स्याम[10] |
| अरथाः | याज्या | पव्यः । अरथाः । | पव्योऽरथाः[11] |
| अर्चन्ति | याज्या | गायत्रिणः । अर्चन्ति । | गायत्रिणोऽर्चन्ति[12] |
| अन्तरस्याम् | उक्थ्य | अभीति । शुशुचः । अन्तः । अस्याम् । | अभि शुशुचोऽन्तरस्याम्[13] |
| अत्रस्थ | उक्थ्य | ये । अत्र । स्थ । पुराणः । | येऽत्रस्थ पुराणः[14] |
| अन्नाय | वाजपेय | रायः । पोषः । अन्नाय । त्वा । | रायस्पोषोऽन्नाय त्वा[15] |

१. ४।३।१३ २. ७।६।१२ ३. १।२।१४ ४. ४।२।९
५. ३।४।१३ ६. ४।६।८ ७. ४।२।८ ८. ४।१।९
९. २।४।१४ १०. ४।७।४ ११. १।६।१२ १२. १।६।१२
१३. ४।१।९ १४. ४।२।४ १५. १।७।९

| सूत्र के पद | अनुवाक | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|---|
| अङ्गिरस्वत् | उख्य | पृथिव्याः । सधस्थ इति सध-स्थे । अङ्गिरस्वत् । | पृथिव्याः सधस्थेऽङ्गिरस्वत्[1] |
| अकरम् | रुद्राध्याय प्रथम | अहम् । तेभ्यः । अकरम् । नमः । | अहं तेभ्योऽकरं नमः[2] |

(६) धातारातिं अनुवाकों में गाहमानः, जायमानः हेतयः, मन्यमानः, वनस्पतिभ्यः, पते, स्निधः, तपसः, स्वधावः, भामितः, अग्नयः तथा धातारातिं से अन्य स्थलों में आयो, अध्वर्यो एवं क्रतो पूर्व में होने पर पदादि अकार लुप्त हो जाता है[3]। उदाहरण रेखा चित्र में प्रस्तुत हैं —

| | | | |
|---|---|---|---|
| गाहमानः | विकर्ष | गाहमानः । अदायः । | गाहमानोऽदायः[4] |
| जायमानः | याज्या | जायमानः । अह्लाम् । केतुः । | जायमानोऽह्लां केतुः[5] |
| हेतयः | रुद्राध्याय उपोत्तम | हेतयः । अन्यम् । अस्मात् । | हेतयोऽन्यमस्मत्[6] |
| मन्यमानः | याज्या | मन्यमानः । अमर्त्यम् । | मन्यमानोऽमर्त्यम्[7] |
| वनस्पतिभ्यः | विकर्ष | वनस्पतिभ्य इतिवनस्पति-भ्यः । अधीति । संभृतामिति सम्-भृताम् । | वनस्पतिभ्योऽधि संभृताम्[8] |
| पते | उख्य | अन्नपत इत्यन्न-पते । अन्नस्य । | अन्नपतेऽन्नस्य[9] |
| स्निधः | उख्य | निहः । अतीति । स्निधः । अतीति । अचित्तिम् । | निहो अतिस्निधोऽत्यचित्तिम्[10] |
| तपसः | उख्य | तपसः । अधीति । जातः । | तपसोऽधि जातः[11] |

१. ४।१।६ २. ४।५।१

३. गाहमानो जायमानोहेतयोमन्यमानोवनस्पतिभ्यः पतेस्निधस्तपसस्स्वधावो भामितोऽग्नयआयोऽध्वर्योक्रतोपूर्वः । तै० प्रा० १२।८

४. ४।६।४ ५. २।४।१४ ६. ४।५।१० ७. १।४।४६

८. ४।६।१ ९. ४।२।३ १०. ४।१।७ ११. ४।२।१०

| सूत्र के पद | अनुवाक | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|---|
| स्वधाव: | याज्या | देव । स्वधाव इति स्वधाव: ।अमृतस्य । धाम । | देव स्वधावोऽमृतस्य धाम[1] |
| भामित: | याज्या | भामित: । अमित्रस्य । | भामितोऽमित्रस्य[2] |
| अग्नय: | श्येनाय | यान् । अग्नय: । अन्वतप्यन्तेत्यनु अतप्यन्त । | यानग्नयोऽन्वतप्यन्त[3] |

उपर्युक्त उदाहरण धातारातिं अनुवाकों के हैं। ११/३ से इन स्थलों में अलोप की प्राप्ति थी, प्रस्तुत सूत्र उसका अपवाद है। धातारातिं से भिन्न स्थलों के उदाहरण —

| सूत्र में उद्धृत पद | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| आयो | अग्ने । अदब्धायो इत्यदब्ध-आयो । अशीततनो इत्यशीत-तनो । | अग्नेऽदब्धायोऽशीततनो[4] |
| अध्वर्यो | अध्वर्यो इति । अवे: । अपा: । | अध्वर्योऽवेरपा:[5] |
| क्रतो | शतक्रतो इति शत-क्रतो । | शतक्रतोऽनु ते दायि[6] |

### अकारलोप के अपवाद स्वरूप अलोप-विषयक नियम

(१) धातारातिं इत्यादि अनुवाकों के मध्य वर्तमान अꣳहस:, अꣳहति:, अनिष्टृत:, अवन्त्वस्मान्, अवद्यात् तथा अहनि—इन पदों के आदि में स्थित अकार एकार अथवा ओकार पूर्व में होने पर भी लुप्त नहीं होता है[7]। उदाहरण रेखा-चित्र द्वारा प्रस्तुत किये जा रहे हैं —

| सूत्र के पद | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| अꣳहस: | प्रमुञ्चन्त इति प्र-मुञ्चन्त: । न: । अंहस: । | प्रमुञ्चन्तो नो अंहस:[8] |

१. ३।१।११ २. १।६।१२ ३. ३।२।८ ४. १।१।१३
५. ६।४।३ ६. २।५।१२
७. अꣳहसोऽꣳहतिरनिष्टृतोऽवन्त्वस्मानवद्यादहनि च । तै० प्रा० ११।४
८. ४।३।१३

| सूत्र के पद | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| अँहतिः | परिद्वेषस इति परि-द्वेषसः । अंहतिः । | परिद्वेषसो अंहतिः[1] |
| अनिष्टृतः | वर्धताम् । ते । अनिष्टृतः । | वर्धतां ते अनिष्टृतः[2] |
| अवन्त्वस्मान् | ते अवन्तु । अस्मान् । | ते अवन्त्वस्मान्[3] |
| अवद्यात् | मित्रमह इति मित्र-महः । अवद्यात् । | मित्रमहो अवद्यात्[4] |
| अहनि | शुचिः । शुक्रे । अहनि । | शुचिः शुक्रे अहनि[5] |

उपर्युक्त उदाहरण याज्या, उख्य तथा महापृष्ठ्य अनुवाकों के हैं। अतः अँहतिः आदि के अकार का लोप नहीं हुआ है। १२/४ से प्राप्त लोप का प्रस्तुत नियम निषेध करता है।

(२) घर्मासः, आपः, मर्तः, रथः, त्वः, दत्ते तथा वातः पद पूर्व में हों तो अनु का अकार लुप्त नहीं होता है[6]। यहाँ पर विसर्ग में समाप्त होने वाले तथा ओ हो जाने वाले उक्त पदों को पूर्व निमित्त के रूप में जानना चाहिए। उदाहरण—त्रयः। घर्मासः। अनु। (प० पा०) त्रयो घर्मासो अनु[7] (सं० पा०)। तस्मात्। आपः। अन्विति। (प० पा०) तस्मादापो अनु[8] (सं० पा०)। यदा। ते। मर्तः। अन्विति। (प० पा०) यदा ते मर्तो अनु[9] (सं० पा०) अन्विति। त्वा। रथः। अन्विति। (प० पा०) अनु त्वा रथो अनु (सं० पा०)[10]। पीयति। त्वः। अन्विति। (प० पा०) पीयति त्वो अनु[11] (सं० पा०)। शुक्रम्। आ इति। दत्ते। अन्विति। (प० पा०) शुक्रमादत्ते अनु[12] (सं० पा०)। तत्। वातः। अन्विति। (प० पा०) तद्वातो अनु[13] (सं० पा०)—सभी उदाहरणों में १२।४ से नकार के बाद स्वर होने से अनु के अकार का लोप प्राप्त था। प्रस्तुत नियम से उसका निषेध हो जाता है।

अलुप्त अकार के स्वरूप को बतलाते हुए ११।१९ में कहा गया है कि एकार तथा ओकार के बाद में विद्यमान अलुप्त अकार अपने पूर्ववर्ती एकार तथा ओकार के अर्धसदृश रूप को प्राप्त होता है—यह कतिपय आचार्यों का

१. २।६।११ २. ४।१।७ ३. २।६।१२
४. १।२।१४ ५. ४।४।१२
७. अनु घर्मास आपोमर्तोरथस्त्वोदत्तेवातः पूर्वः। तै० प्रा० ११।५
८. ४।३।११ ९. ५।६।१ १०. ४।६।७
११. ४।२।३ १२. ३।२।२ १३ ५।५।७

मत है[1]। उदाहरण—ते अग्र अश्वमायुञ्जन्[2]। (सं० पा०) (२) यो रुद्रो अग्नौ यो अप्सु[3]।— इन उदाहरणों में अग्र का अलुप्त अकार एकार के अर्धसदृश तथा अग्नौ का अकार ओकार के अर्धसदृश रूप वाला है।

विकार-विहीन स्वर-सन्धि—जब पदान्त स्वर तथा पदादि स्वर एक दूसरे के समीप में आ जाते हैं अर्थात् सन्धि को प्राप्त करते हैं किन्तु उनमें कोई विकार नहीं आता है, वे अपने मूल-रूप में ही बने रहते हैं तो इस प्रकार की सन्धियों को विकार-विहीन सन्धि कहते हैं। इसे ही वैदिक व्याकरण में प्रकृति-भाव कहते है। विकार की संभावना होने पर भी विकार का न होना प्रकृति-भाव है। अब तै० प्रा० के उन स्थलों को प्रस्तुत किया जा रहा है जहाँ सन्धि के परिणाम स्वरूप विकार नहीं होता है—

(१) अपृक्त संज्ञक उकार, स्वर परे रहते, प्रकृतिरूप से रहता है तथा उकार और स्वर के बीच में वकार का आगम होता है[4]। इस प्रकार स्वर बाद में होने पर अपृक्त उकार की परवर्ती स्वर के साथ सन्धि नहीं होती है। यथा— अदन्ति। उ। एव। अस्य। अनुष्याः। (प० पा०) अदन्त्युएवास्य अनुष्याः[5] (सं० पा०)। इस स्थल में अपृक्त उकार के बाद स्वर-वर्ण एकार है अतः प्रस्तुत नियम से उकार की परवर्ती स्वर के साथ सन्धि नहीं हुई।

(२) धा, मा, पा के अन्तिम स्वर संहिता-पाठ में असि बाद में होने पर एका-देश (सन्धि) को नहीं प्राप्त करते हैं[6]। यथा—स्वधेति स्व-धा। असि। उर्वी (प० पा०) स्वधा अस्युर्वी[7] (सं० पा०)। सहस्रस्य। प्रमेति प्र-मा। असि। (प० पा०) सहस्रस्य प्रमा असि[8] (सं० पा०)। धवन्वन्। इव। प्रपेति प्र-पा। असि। (प० पा०) धन्वन्निव प्रपा असि[9] (सं० पा०)।

(३) बुध्निया, ज्या, आ पूषा तथा अभिनन्त के अन्तिम स्वर संहिता पाठ में स्वर बाद में होने पर एकादेश को नहीं प्राप्त करते हैं[10]। यथा—प्रेति। बुध्निया। ईरते। (प० पा०) प्रबुध्निया ईरते[11] (सं० पा०)। ज्या। इयम्।

---

१. सपूर्वस्यार्द्धसदृशमेकेषाम्। तै० प्रा० १०।१९

२. १।१।७ ३. ५।५।९

४. उकारोऽपृक्तः प्रकृत्या वकारोऽन्तरे। तै० प्रा० ९।१६

५. २।३।७ ६. न धामापासिपरो ······ आर्षे। तै० प्रा० १०।१३

७. १।१।९ ८. ४।४।११ ९. २।५।१२

१०. ········बुध्नियाज्यापूषाभिनन्तार्षे। तै० प्रा० १०।१३ ११. ४।३।१३

( प० पा० ) उधा इयम्[1] ( सं० पा० ) । एति । पूषा । एतु । आ (इति) । वसु । ( प० पा० ) आ पूषा एत्वा वसु[2] ( सं० पा ) । एति । ते । सुपर्णा इति सु-पर्णाः । अमिनन्त । एवैः । (प० पा०) आ ते सुपर्णा अमिनन्त एवैः[3] (सं० पा०) ।

(४) श्येती तथा मिथुनी का अन्तिम ईकार स्वर परे रहते सन्धि (यकार) को नहीं प्राप्त करता है। प्रकृति भाव से रहता है[4] । यथा—श्येतेन । श्येती । अकुरुत । ( प० पा० ) श्येतेन श्येती अकुरुत[5] (सं० पा०) । न । मिथुनी । अभवन् । (प० पा०) न मिथुनी अभवन्[6] (सं० पा०) ।

(५) अवर्ण अर्थात् अ या आ पूर्व में होने पर तथा स्वर बाद में होने पर यकार तथा वकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर (आ) की परवर्ती स्वर के साथ सन्धि नहीं होती है[7] । यथा—आपः । उन्दन्तु । (प० पा०) आप उन्दन्तु[8] (सं० पा०) । ध्रुवाः । अस्मिन् । गोपताविति गो-पतौ । स्यात् । (प०पा०) ध्रुवा अस्मिन्गोपतौ स्यात्[9] । (सं० पा०) । प्रस्तुत नियम में जिस यकार तथा वकार का उल्लेख किया गया है वह इन तीन प्रकार की सन्धियों के परिणाम-स्वरूप प्राप्त होता है—(१) अवर्णपूर्व में होने पर, स्वर बाद में होने पर विसर्जनीय यकार को प्राप्त करता है। (९।१०) (२) स्वर-वर्ण बाद में होने पर पदान्त एकार, ओकार, ऐकार तथा औकार क्रम से अय्, अव्, आय् और आव् हो जाते हैं। (९।११,१२,१४,१५) । (३) ग्रह, उक्थ, याज्या, महापृष्ठ्य तथा हिरण्यवर्णीय आदि अनुवाकों में आकार जिसके पहले है ऐसा नकार यकार हो जाता है (९।२०) । ९।२१, २२ में भी नकार का यकार होना विहित है ।

(६) प्लुत तथा प्रग्रह स्वर सन्धि-कार्य को नहीं प्राप्त करते हैं[10] । इसका अर्थ यह है कि स्वर परे रहते भी प्लुत तथा प्रग्रह स्वरों की परवर्ती स्वर के साथ सन्धि नहीं होती है। यथा—अस्तु । ह ३ । इति । अब्रूताम् । ( प० पा० ) अस्तु ही३ इत्यब्रूताम्[11] (सं० पा०) । ते इति । एनम् । अभि । (प० पा०) ।

---

१. ४।६।६ २. २।४।५ ३. ३।१।११
४. न श्येती मिथुनी । तै० प्रा० १०।१८ ५. ५।५।८
६. ५।३।६ ७. लुप्यते त्ववर्णपूर्वो यवकारो । परश्च परश्च । तै० प्रा० १०।१९,२५ ८. १।२।१ ९. १।१।१
१०. न प्लुतप्रग्रहो । तै० प्रा० १०।२४ ११. ७।१।६

त्वे एनमभि[1] (सं० पा०)। प्रग्रह के प्रमुख स्थल संक्षेप में अधोलिखित हैं—

(१) पदान्त ऊकार प्रग्रह संज्ञक होता है[2]। यथा—हनू वा एते[3] (सं० पा०)।

(२) असांहित[4] ओकार प्रग्रह संज्ञक होता है[5]। यथा—विद्मा हि सूनो असि[6] (सं० पा०)।

(३) स्, म्, ह्, द्, थ् तथा पित् पूर्व में होने पर भी असांहित ओकार प्रग्रह होता है[7]। यथा—सो एवैषैतस्य[8] (सं० पा०), इन्दो इत्याह[9] (सं० पा०), पितो आविशस्व[10] (सं० पा०) इत्यादि।

(४) पदान्त एकार तथा ईकार प्रग्रह संज्ञक हैं[11]। यथा—अस्मे ते बन्धुः[12] (सं० पा०)।

(५) त्वे का अन्तिम एकार सावग्रह पद के अन्त में न होने पर प्रग्रह संज्ञक होता है[13]। यथा—त्वे क्रतुमपि[14] (सं० पा०)।

(६) देवते, उभे, मागधे, ऊर्ध्वे, विशाखे, शृंगे, एने, मेध्ये, तृणे, तृचे, कनीनिके, पार्श्वे, शिवे, चोत्तमे, एवोत्तरे, शिप्रे, रथन्तरे, वत्सरस्य रूपे, विरूपे, विपुरूपे, सदोहविर्धाने, अधिषवणे, अहोरात्रे, धृतव्रते, स्तुतशस्त्रे, ऋक्सामे, अक्ते, अचिते, रैवते, पूर्ते, प्रत्ते, विधृते, अनृते, अच्छिद्रे, बहुले, पूर्वजे तथा कृणुष्व सदने आदि पदों के अन्तिम एकार प्रग्रह संज्ञक होते हैं[15]। यथा—देवते

---

१. २।५।३ २. ऊकारः। तै० प्रा० ४।५ ३. ६।२।११

४. सन्धि से उत्पन्न होने वाले को सांहित कहते हैं। जो पद-पाठ में विद्यमान नहीं होता है किन्तु सं० पा० में विद्यमान होता है, वह सांहित कहलाता है। इससे अन्य असांहित है। इस प्रकार जो सन्धि से उत्पन्न न हो, जो पद-पाठ में विद्यमान हो और संहिता-पाठ में भी विद्यमान हो वह असांहित कहलाता है।

५. ओकारोऽसांहितोऽकारव्यञ्जनपरः। तै० प्रा० ४।६ ६. १।३।१४

७. समहदथपितृपूर्वश्च। तै० प्रा० ४।७ ८. २।२।९ ९. ६।५।८

१०. ५।७।२ ११. अथैकारेकारौ। तै० प्रा० ४।८ १२. १।२।७

१३. त्वे इत्यनिङ्ग्यान्तः। तै० प्रा० ४।१० १४. ३।५।१०

१५. देवते उभे ········· तै० प्रा० ४।११

समृद्ध्यै[१] (सं० पा०)। उभे सुश्चन्द्रे[२] (सं० पा०)। मागधे मागधा अस्मै[३] (सं० पा०), ऊर्ध्वे समिधावा दधाति[४], विशाखे नक्षत्रम्[५] इत्यादि।

(७) अमी, चक्षुषी, कार्ष्णी, देवताफाल्गुनी, मुष्टी, धी, नाभी, वपाश्रपणी, अह्नी, जन्मनी, सुम्निनी, सामनी, वैष्णवी, ऐक्षवी, दर्वी और द्यावापृथिवी—पदों का अन्त्य ईकार प्रग्रह संज्ञक है[६]। यथा—(१ अमी त्वा जहति[७] (२) चक्षुषी वा एते[८] (३) कार्ष्णी उपानहौ[९] (४) पितरो देवता-फाल्गुनी नक्षत्रम्[१०] (५) मुष्टी करोति वाचम्[११] (६) प्रधी तावुक्थ्या[१२] इत्यादि।

(८) द्यावापृथिवी से पूर्ववर्ती पदान्त एकार तथा ईकार भी प्रग्रह होते हैं[१३]। यथा—यावती द्यावापृथिवी[१४], अच्छिन्ने द्यावापृथिवी[१५]।

(९) हरी, सहुरी, सहूती, कल्पयन्ती, आपृषती तथा आहुती के ईकार प्रग्रह होते हैं[१६]। आहुती से पूर्ववर्ती पद का अन्तिम वर्ण भी प्रग्रह होता है[१७]। यथा—(१) हरी ते युञ्जा पृषती[१८] (२) सहुरी सपर्यात्[१९] (३) सहूती वनतंगिरः[२०] (४) पुरोडाशमेते आहुती[२१] आदि।

(१०) वाससी, तपसी, रोदसी का ईकार प्रग्रह है[२२]। यथा—वाससी इव विवसानौ[२३] दीक्षातपसी अव रुन्धे[२४] आदि।

(११) व्यचस्वती, भरिष्यन्ती, नः पृथिवीः का ईकार प्रग्रह संज्ञक है[२५]। यथा व्यचस्वती सं वसाथा[२६] इत्यादि।

---

१. २।१।९ २. ४।४।४ ३. २।५।६
४. तै० सं० २।६।६ ५. ४।४।१०
६. अमी चक्षुषी ..... द्यावापृथिवी। तै० प्रा० ४।१२
७. ३।२।११ ८. २।६।२ ९. ५।४।४
१०. ४।४।१० ११. ५।२।१ १२. ७।४।११
१३. पूर्वश्च। तै० प्रा० ४।१३ १४. तै० सं० ३।२।६
१५. ४।२।९ १६. हरी सहुरी.... ......। तै० प्रा० ४।१५
१७. पूर्वश्च। तै० प्रा० ४।१६ १८. ४।६।९ १९ और २०. २।३।१४
२१. १।५।२ २२. वाससी तपसी रोदसी। तै० प्रा० ४।१७
२३. १।५।१० २४. ६।१।१ २५. व्यचस्वती ..... । तै० प्रा० ४।१९
२६. ४।१।३

(१२) ये अप्रथेताम्, उर्वी, ते अस्य, यं क्रन्दसी, छन्दस्वती, ते आचरन्ती तथा अन्तरा इत्यादि ऋचाओं में अन्तिम ईकार तथा एकार प्रग्रह संज्ञक हैं[१]। यथा—अप्रथेतामभिमतेभिः[२], उर्वी रोदसी वरिवः[३] इत्यादि।

(१३) इरावती पद से प्रारंभ करके दाधार पर्यन्त पदान्त ईकार तथा एकार प्रग्रह-संज्ञक होते हैं[४]। यथा—इरावती धेनुमती हि भूतम्[५]।

उपर्युक्त स्थलों के अतिरिक्त अन्य स्थलों की भी गणना प्रग्रह-संज्ञक स्वरों के अन्तर्गत चतुर्थ अध्याय के सूत्रों में की गयी है। उन पदों को संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) पूर्ववर्ती जे से लेकर अयं पर्यन्त पदान्त ईकार तथा एकार प्रग्रह होते हैं[६]। इस पर त्रिभाष्यरत्नकार का कथन है कि प्रस्तुत सूत्र के द्वारा बतलाये गये पूर्वंजे से अयं पर्यन्त स्थल में पूर्वंजे पद दो बार आया है। अतः यह शंका उत्पन्न होती है कि इस सूत्र का विषय पहले वाले पूर्वंजे पद से लेकर है अथवा बाद वाले पूर्वंजे से लेकर है। अतः सूत्र का अर्थ इस प्रकार करना चाहिए—पूर्ववर्ती जे से लेकर अयं तक के स्थल में पदान्त ईकार तथा एकार प्रग्रह संज्ञक[७] हैं।

(२) गर्भम्, उप तथा एव रसेन बाद में होने पर इमे का एकार प्रग्रह-संज्ञक होता है[८]।

(३) क्रूरम्, आपः, सजूः तथा ब्रह्मज इत्यादि पदों से प्रारम्भ होने वाले अनुवाकों में भी इमे का एकार प्रग्रह होता है[९]।

---

१. ये अप्रथेतामुर्वी ते अस्य यं क्रन्दसी छन्दस्वती ते आचरन्ती अन्तरैतासु। तै० प्रा० ४।२०    २. ४।७।१५    ३. ४।१।८

४. इरावती प्रभृत्यादाधार। तै० प्रा० ४।२२। इरावती से लेकर दाधार तक के स्थल में इन पदों के अन्तिम ईकार तथा एकार प्रग्रह होते हैं—वती। मती। यवसिनी। यशस्ये। एते।

५. १।२।१३    ६. पूर्वंजेप्रभृत्याऽयम्। तै० प्रा० ४।२३

७. पूर्वंजे से लेकर अयं पर्यन्त स्थल इस प्रकार हैं—पूर्वंजे ऋतावरी इत्याह पूर्वंजे ह्येते ऋतावरी देवी देवपुत्रे इत्याह देवी ह्येते देवपुत्रे उपहूतोऽयम्। तै० सं० २।६।७।    ८. इमे गर्भमुपैवरसेनपरः। तै० प्रा० ४।२४

९. क्रूरमापः सजूर्ब्रह्मजेतेषु। तै० प्रा० ४।२५

(४) ब्रह्मजज्ञानम् अनुवाक में पूर्णे का एकार भी प्रग्रह संज्ञक होता है[१]।

(५) दृढे का एकार प्रग्रह होता है[२]।

(६) पकार बाद में होने पर ध्नी तथा चक्रे का ईकार और एकार प्रग्रह होता है[३]।

(७) न्वती का ईकार प्रग्रह संज्ञक होता है[४]।

(८) समीची का अन्त्य ईकार प्रग्रह होता है[५]।

(९) यत् तथा प्र बाद में होने पर ची का ईकार प्रग्रह होता है[६]।

(१०) आन्मही का ईकार प्रग्रह संज्ञक होता है[७]।

(११) पती शब्द का जहाँ-जहाँ श्रवण होता है वहाँ पती का ईकार प्रग्रह होता है[८]। तात्पर्य यह है कि पती शब्द पद हो अथवा पद का एकदेश सर्वत्र प्रग्रह होता है।

(१२) ग्नी का ईकार प्रग्रह होता है[९]।

(१३) वीड्, द्वारो, कृ णः, चरावः तथा यदा बाद में होने पर पदान्त ईकार तथा एकार प्रग्रह-संज्ञक होते हैं[१०]।

(१४) आकार तथा एकार पूर्व में होने पर अनेक स्वर वाले पदके ते तथा थे का एकार प्रग्रह होता है[११]। यथा—मृजाते[१२]।

(१५) मा पातं, नमः, एनमभि, वायुः, गर्भम्, उप, अहः या तु पद बाद में होने पर ते का एकार प्रग्रह होता है[१]।

---

१. पूर्णे च। तै० प्रा० ४।२६
२. दृढे। तै० प्रा ४।२७
३. ध्नीचक्रे पपरे। तै० प्रा० ४।२८
४. न्वती। तै० प्रा० ४।२९
५. समीची। तै० प्रा० ४।३१
६. चीयत्प्रपरः। तै० प्रा० ४।३३
७. आन्मही। तै० प्रा० ४।३४
८. पतीश्रुतौः। तै० प्रा० ४।३५
९. ग्नी। तै० प्रा० ४।३६
१०. वीड्द्वारोकृष्णश्चरावोयदापरः। तै० प्रा० ४।३८
११. आकारैकारपूर्वस्तु बहुस्वरस्य ते थे। तै० प्रा० ४।४०
१२. तै० सं० २।२।६
१३. ते मा पातं नम एनमभि वायुर्गर्भमुपाहस्तु परः। तै० प्रा० ४।४२

(१६) तनुवो, वैसं, एव, हि, यज्ञ, पत् तथा इष्टक् बाद में होने पर एते का अन्तिम एकार प्रग्रह होता है[1]। यथा—तस्यैते तनुवो[2]।

(१७) पूर्व सूत्र में स्थित पत् तथा इष्टक्—इन दोनों के बाद वाला भी पदान्त एकार प्रग्रह होता है[3]। यथा—यज्ञस्य ह्येते पदे[4]।

(१८) स्थः बाद में होने पर पदान्त एकार प्रग्रह होता है[5]।

(१९) पूर्ववर्ती सूत्र में उक्त निमित्त तथा निमित्तिन् दोनों के बाद वाला भी पदान्त ईकार अथवा एकार प्रग्रह होता है[6]। अर्थात् स्थः तथा उससे पूर्ववर्ती प्रग्रह स्वर दोनों से परवर्ती पदान्त ईकार अथवा एकार प्रग्रह होता है। यथा—शिल्पे स्थस्ते वामा रमे ते[7]।

(२०) सोमाय स्वराज्ञे—इस अनुवाक में पदान्त ईकार अथवा एकार प्रग्रह होता है[8]। यथा—अवी द्वे धेनू भौमी[9]।

(२१) द्वे का एकार सर्वत्र प्रग्रह होता है[10]।

(२२) द्वे के बाद वाला भी पदान्त ईकार अथवा एकार प्रग्रह होता है[11]। यथा—द्वे शुक्ले द्वे कृष्णे[12]।

(२३) एक पद से व्यवहित होने पर भी द्वे से बाद वाला पदान्त ईकार अथवा एकार प्रग्रह होता है[13]। यथा—द्वे वाव देवसत्रे[14]।

(२४) गमयतः, ऊकार से व्यतिरिक्त वर्ण से बाद में वर्तमान भवतः (पद), तनूयत्, अकरोत्, इष्टि[15] संज्ञक प्रश्नों में स्थित कुर्यात्, अब्रूताम्, वाचयति,

---

१. एते तनुवेवैंसमेवहियज्ञपदिष्टकः। तै० प्रा० ४।४४ २. ५।७।३
३. परश्च द्वयोः। तै० प्रा० ४।४५ ४. ५।१।६
५. स्थः परः। तै० प्रा० ४।४६ ६. परश्चोभयोः। तै० प्रा० ४।४७
७. १।२।२ ८. सोमाय स्वैतस्मिन्। तै० प्रा० ४।४८ ९. ५।६।२१
१०. द्वे। तै० प्रा० ४।४९ ११. परश्च। तै० प्रा० ४।५०
१२. ५।३।१ १३. एकव्यवेतोऽपि। तै० प्रा० ४।५१ १४. ७।४।२
१५. वै० भा० ने तै० सं० में इन स्थलों को इष्टिसंज्ञक माना है—
१—दशम प्रश्न—अन्तिम अनुवाक को छोड़कर (२।२।१-११)
२—एकादश प्रश्न—अन्तिम अनुवाक को छोड़कर (२।३।१-१३)
३ -द्वादश प्रश्न—अन्तिम अनुवाक को छोड़कर (२।४।१-१३)

बिभृतस्त, अग्नि गायत्रम्, ताभ्यामेव, उभाभ्याम् और अवान्तरम्—ये बाद में होने पर पूर्व में छठें पद तक वर्तमान पदान्त ईकार अथवा एकार प्रग्रह होता है[१]। यथा—ते एवैनं प्रतिष्ठां गमयतः[२], उत्तरावर्ती भवत[३], एते वै महायज्ञस्यान्त्ये तनू यत्[४], बृहन्वती अग्रवती याज्यानुवाक्ये अकरोत्[५], ते अब्रूतां वरं वृणावहै[६], हविर्द्धाने प्राची प्रवर्त्तयेयुः[७], इमे वै सहाऽऽस्ताम्[८], वैश्वदेवाग्निमारुते उक्थे अव्यथयन्ती स्तभ्नीताम्[९], उत्तमे औदुम्बरी वाचयति[१०], एते दधाते ये अग्नि गायत्रम्[११], एते वै यज्ञस्याञ्जसायनी श्रुती ताभ्यामेव[१२], ये द्वे अहोरात्रे एव ते उभाभ्याम्[१३], उत्सृज्ये इत्याहुर्ये अवान्तरं[१४]।

प्रग्रह-स्वर के अपवाद—तै०प्रा० के चतुर्थ अध्याय के नौ सूत्रों में[१५] उन नियमों का विधान किया गया है जिनके द्वारा कतिपय पद प्रग्रह संज्ञक नहीं होते है—

(१) रुन्धे का अन्तिम स्वर (एकार, सर्वत्र प्रग्रह नहीं होता है[१६]। यथा—रुन्धे द्यावापृथिवी[१७]—यहाँ पर द्यावापृथिवी से पूर्व में होने के कारण ४।१३ से प्रग्रहत्व की प्राप्ति थी, प्रस्तुत नियम से उसका निषेध हो जाता है।

(२) ये अप्रयेताम् इत्यादि ऋचाओं में उपस्थे का एकार प्रग्रह नहीं होता है[१८]। यथा—बिभृतामुपस्थे[१९]। ४।२० से प्राप्त प्रग्रहत्व का निषेध हुआ है।

(३) पकार परे रहते न्वती का ईकार प्रग्रह नहीं होता है[२०]। यथा—मूर्धन्वती पुरोऽनुवाक्या भवति[२१]। ४।२९ से प्राप्त प्रग्रहत्व का निषेध हुआ है।

---

१. गमयतो भवतो आ षष्ठात्। तै० प्रा० ४।५२
२. तै० सं० २।१।४ ३. ५।४।८ ४. २।२।७ ५. २।३।४
६. २।५।२ ७. ३।१।३ ८. ३।४।३ ९. ४।४।२
१०. ५।१।१० ११. ६।३।५ १२. ७।२।१ १३. ७।४।४
१४. ७।५।७ १५. तै० प्रा० ४।१४, २१, ३०, ३२, ३७, ३९, ४१, ५३ तथा ५४। १६ न रुन्धे नित्यम्। तै० प्रा० ४।१४,
१७. ६।४।१ १८. नोपस्थे। तै० प्रा० ४।२१ १९. ४।६।६
२०. पपरो न। तै० प्रा० ४।३० २१. २।६।२

(४) नकार बाद में होने पर समीची का अन्तिम ईकार प्रग्रह नहीं होता है[१]। यथा—समीची नामासि[२]। ४।३१ से प्राप्त प्रग्रहत्व का निषेध हुआ है।

(५) हि पद परे रहते ग्नी का ईकार प्रग्रह नहीं होता है[३]। यथा—ऐन्द्राग्नी हि बार्हस्पत्या[४]। ४।३२ से प्राप्त प्रग्रहत्व का निषेध किया गया है।

(६) ज्ञे तथा अह्ने का एकार नित्य प्रग्रह नहीं होता है[५]। यथा—वरुणाय राज्ञे कृष्णः[६]। एण्यह्ने कृष्णः[७]। ४।३८ से प्राप्त प्रग्रहत्व का निषेध किया गया है।

(७) शार्याते का एकार प्रग्रह नहीं होता है[८]। उदाहरण—शार्याते अपिबः सुतस्य[९]। अनेक स्वर वाला पद होने से ४।४० से प्राप्त प्रग्रहत्व का निषेध हुआ है।

(८) ग्रामी, वर्चसी, मियुनी, मासे, लोके तथा धत्ते के अन्तिम स्वर (ईकार तथा एकार) गमयतः इत्यादि बाद में होने पर भी प्रग्रह नहीं होते हैं[१०]। यथा—ग्राम्येव भवति गणवति याज्यानुवाक्ये भवतः[११], ब्रह्मवर्चस्येव भवत्युभयतो रुक्मो भवतः[१२] इत्यादि। यहाँ पर ४।३२ से प्राप्त प्रग्रहत्व का निषेध किया गया है।

(९) एक पद में विद्यमान होने पर अत्ते तथा अवे का एकार सर्वत्र प्रग्रह नहीं होता है[१३]। यथा—अवरुन्धतेऽतिरात्रावभितो भवतः[१४] इत्यादि। यहाँ पर भी भवतः इत्यादि बाद में होने से ४।५२ से प्रग्रहत्व की प्राप्ति थी। प्रस्तुत सूत्र उसका अपवाद है।

### स्वर-व्यञ्जन-सन्धि

इस श्रेणी में पदान्त स्वर तथा पदादि व्यञ्जन की सन्धि को रखा गया है जिसे अधोलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है—

---

१. नपरो न। तै० प्रा० ४।३२ २. ५।५।१०
३. न हिपरः। तै० प्रा० ४।३७ ४. ५।५।६
५. न ज्ञेऽह्ने नित्यम्। तै० प्रा० ४।३९ ६. ५।५।११
७. ५।५।१५ ८. न शार्याते। तै० प्रा० ४।४१ ९. १।४।१८
१०. न ग्रामी वर्चसी मियुनी मासे लोके धत्ते। तै० प्रा० ४।५३
११. २।३।३ १२. २।३।२
१३. अत्ते समानपदे नित्यमेव च। तै० प्रा० ४।५४ १४. ७।२।६

१—स्वरों का ह्रस्वत्व—संहिता-पाठ में विद्यमान दीर्घ स्वर – आ, ई तथा ऊ—पद-पाठ के समय कतिपय विशिष्ट परिस्थितियों में ह्रस्व हो जाते हैं। तै० प्रा० में विहित नियमों के अनुसार अधोलिखित परिस्थितियों में संहिता-पाठ में स्थित दीर्घ स्वर का पद-पाठ में ह्रस्व हो जाता है—

१—अधिकार-सूत्र—पद-विभाग करने में (संहितास्थ) व्यञ्जन परे रहते पद के आदि अथवा अन्त में विद्यमान दीर्घ-स्वर ह्रस्व हो जाता है[1] अर्थात् संहिता-पाठ में विद्यमान जो दीर्घ है वह पद-पाठ में व्यञ्जन बाद में होने पर ह्रस्व हो जाता है।

## संहितास्थ दीर्घ स्वरों का पद-पाठ में ह्रस्वत्व

१—पदादि आकार का ह्रस्वत्व—वि अथवा उत् पूर्व में होने पर अनुदात्त आन् ऊष्म-वर्ण-रहित पद में पद-विभाग के समय व्यञ्जन परे रहते ह्रस्व हो जाता है[2]। तात्पर्य यह है कि आन् का आकार अकार हो जाता है यदि (१) आकार अनुदात्त हो; (२) यह ऊष्म-वर्ण रहित पद में विद्यमान हो; (३) इसके पूर्व में वि अथवा उत् हो; (४) इससे बाद में व्यञ्जन हो तथा (५) यह अपने पूर्ववर्ती शब्द (वि अथवा उत्) से विभक्त हो। यथा १) व्यानाय[3] (सं० पा०) व्यानायेति वि-अनाय। (प० पा०) (२) उदानाय[4] (सं० पा०) उदानायेत्युत् अनाय। (प० पा०) इन ऊष्म-वर्ण-रहित पदों के उदाहरणों में अनुदात्त आन् पद से पूर्व में वि तथा उत् हैं और बाद में व्यञ्जन है। अतः पद-पाठ में आन् का आकार ह्रस्व हो गया है।

(२) अवग्रहान्त अकार का ह्रस्वत्व –(१) देवा, शीका, सुम्ना, श्वा, ऋता, वयुना, हृदया, अवा, उक्था तथा शुद्धा सावग्रह पद होने पर इनका अन्तिम स्वर परवर्ती पद से पृथक् होने पर व्यञ्जन परे रहते ह्रस्व हो जाता है[5]। यथा –देवायते यजमानाय[6] (सं० पा०)। देवायत इति देव-यते। यजमानाय। (प० पा०)। शीकायते स्वाहा[7] (सं० पा०) शीकायते इति शीक-यते। स्वाहा। (प० पा०)। सुम्नायन्तो हवामहे[8] (सं० पा०)। सुम्नायन्त इति सुम्न-यन्तः। हवामहे। (प० पा०)। द्यावापृथिव्या

---

१. अथादावुत्तरे विभागे ह्रस्वं व्यञ्जनपरः। तै० प्रा० ३।१

२. व्युत्पूर्वं मानमुदात्तोऽनूष्मवति। तै० प्रा० ३।१५ ३. ४।२।९

४. ४।२।९ ५. देवाशीकासुम्नाश्वर्तावयुनाहृदयावोक्थाशुद्धा। तै० प्रा० ३।८

६. ३।५।५, ७. ७।५।११ ८. १।५।११

श्वाविद्[1] (सं० पा०) द्यावापृथिव्येति द्यावापृथिव्या। श्वाविदिति श्व-वित्। (प० पा०)। अश्वावती सोमवतीम्[2] (सं० पा०)। अश्वावतीमित्यश्व-वतीम्। सोमावतीमिति सोम-वतीम्। (प० पा०)। ऋतायव: पुरान्न-मक्षन्[3] (सं० पा०)। ऋतायव इत्यृत-यव:। पुरा। अन्नम्। अक्षन्। (प० पा०)। वयुनाविदेक:[4] (सं० पा०) वयुनाविदिति वयुन-वित्। एक:। (प० पा०)। हृदयाविधश्चित्[5]। (सं० पा०)। हृदयाविध इति हृदय-विध:। चित्। (प० पा०)। अघायवो मा गन्धर्वो विश्वावसुरा-दधत[6] (सं०पा०)। अघायव इत्यघ-यव:। मा। गन्धर्व:। विश्वावसुरिति विश्व-वसु:। एति। दधत। (प० पा०)। उक्थामदानां धेनु:[7] (सं० पा०)। उक्थामदानामित्युक्थ-मदानाम्। धेनु:। (प० पा०)। आपो देवी: शुद्धायुव:[8] (सं० पा०)। आप:। देवी:। शुद्धायुव इति शुद्ध-युव:। (प० पा०)। सावग्रह पद के पूर्व पद में स्थित देवा इत्यादि पदों का आकार ह्रस्व हो गया है।

(२) वत्, (वन्) अथवा वान् बाद में होने पर इन्द्रा का अन्तिम स्वर (आ) ह्रस्व हो जाता है[9] (यदि वह सावग्रह पद का पूर्व पद हो)। यथा—इन्द्रावतीमपचितीम्[10] (सं० पा०)। इन्द्रावतीमितीन्द्र-वतीम्। अपचितीमित्य-पचितीम्। (प० पा०)। इन्द्रावन्तो मरुत:[11] (सं० पा०)। इन्द्रावन्त इतीन्द्र-वन्त:। मरुत:। (प० पा०)। इन्द्रावान् स्वाहा[12] (सं० पा०)। इन्द्रा-वानितीन्द्र-वान्। स्वाहा। (प० पा०)। वत्, वन् तथा वान् परे रहते सावग्रह पद का पूर्वपद इन्द्रा का आकार पद-पाठ में ह्रस्व हो गया है।

(३) व परे रहते चित्रा का अन्त्य स्वर (आ) पद-विभाग में ह्रस्व हो जाता है[13]। यथा—चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय[14] (सं० पा०)। चित्रावसो इति चित्र-अवसो। स्वस्ति। ते। पारम्। अशीय। (प० पा०)—व बाद में रहने से चित्रा का आकार अकार हो गया है।

(४) प्रस्या, इन्द्रिया, द्रविणा, विश्वदेव्या, दीर्घा, वीर्या, विश्वा, वाता, स्वा, भंगुरा, कर्णका, वृष्णिया, सुगोपा, ऋक्सामा, अघा, सत्रा, वर्षा, पुष्पा, मेघा,

---

१. ५।५।२०  २. ४।२।६  ३. २।२।५  ४. १।२।१३
५. १।४।४५  ६. १।२।९  ७. २।४.११  ८. १।३।८
९. इन्द्रा वद्वान्परः। तै० प्रा० ३।३  १०. ५।७।४  ११. ४।७।४
१२. १।१।१२  १३. चित्रा वपरः। तै० प्रा० ३।४  १४. १।५।१५

आ तथा त्वा के अन्तिम स्वर (आकार) पद-पाठ में व्यञ्जन बाद में होने पर ह्रस्व हो जाते हैं[१]। यथा—प्रस्थावद्रथ वाहनम्[२] (सं० पा०)। प्रस्थावदिति प्रस्थ-वत्। रथवाहनमिति रथ-वाहनम्। (प० पा०)। इन्द्रियावते पुरोडाशम्[३] (सं० पा०)। इन्द्रियावत इतीन्द्रिय-वते। पुरोडाशम्। (प० पा०)। द्रविणावतः कुरुते[४] (सं० पा०)। द्रविणावत इति द्रविण-वतः। कुरुते। (प० पा०)। विश्वदेव्यावते श्वात्राः[५] (सं० पा०)। विश्वदेव्यावत इति विश्वदेव्य-वते। श्वात्राः। (प० पा०)। दीर्घाधियो रक्षमाणाः[६] (सं० पा०)। दीर्घाधिय इति दीर्घ-धियः। रक्षमाणः। (प० पा०)। वीर्यावन्तमभिमातिषाहम्[७] (सं० पा०)। वीर्यावन्तमिति वीर्य-वन्तम्। अभिमातिषाहमित्यभिमातिसाहम्। (प० पा०)। मा विश्वामित्रस्य सूक्तम्[८] (सं०पा०)। विश्वामित्रस्येति विश्व-मित्रस्य। सूक्तमिति सु-उक्तम्। (प०पा०)। वातावद्वर्षन्[९]। (सं० पा०)। वातावदिति वात-वत्। वर्षन्। (प० पा०)। त्वावतो मघोनः[१०] (सं० पा०। त्वावत इति त्व-वतः। मघोनः। (प० पा०)। भेत्तारं भंगुरावतः[११]। (सं० पा०)। भेत्तारम्। भङ्गुरावत इति भंगुर-वतः। (प० पा०)। कर्णकावत्येतया[१२]। (सं० पा०)। कर्णकावतीति कर्णक-वती। एतया। (प० पा०)। वृष्णियावतः तव[१३] (सं० पा०)। वृष्णियावत इति वृष्णिय-वतः। तव। (प० पा०)। सुगोपातमो जनः[१४] (सं० पा०)। सुगोपातम इति सुगोप-तमः। जनः। (प० पा०)। ऋक्सामाभ्यां यजुषा[१५]। (सं० पा०)। ऋक्सामाभ्यामित्यृक्साम-भ्याम्। यजुषा। (प० पा०)। अघाश्वादेवैनम्[१६] (सं०पा०)। अघाश्वादित्यघ-श्वात्। एव। एनम्। (प० पा०)। सत्राजितं धनजितम्[१७] (सं० पा०)। सत्राजितमिति सत्र-जितम्। धनजितमिति धन-जितम्। (प० पा०)। वर्षाह्वां जुहोति[१८] (सं० पा०)। वर्षाह्वामिति वर्ष-ह्वाम्। जुहोति। (प० पा०)। पुष्पावतीः सुपिप्पलाः[१९] (सं० पा०)।

---

१. प्रस्थेन्द्रियाद्रविणा ........ त्वा। तै० प्रा० ३।५ २. तै० सं० ४।२।५

३. ३।२।७ ४. ५।३।११ ५. १।४।१ ६. २।१।११

७. १।२।७ ८. ५।२।३ ९. २।४।७ १०. २।२।१२

११. १।५।६ १२. १।५।७ १३. ३।५।६

१४. ४।२।११ १५. १।२।३ १६. ३।१।७

१७. ४।१।१ १८. २।४।१० १९. ४।१।४

पुष्पावतीरिति पुष्प-वतीः। सुपिप्पला इति सु-पिप्पलाः। (प० पा०)। मेघायते स्वाहा[1] (सं० पा०)। मेघायते इति मेघ-यते। स्वाहा। (प० पा०)। प्रावणेभिः सजोषसः[2] (सं० पा०)। प्रावणेभिरिति प्र-वनेभिः। सजोषस इति स-जोषसः। (प०पा०)। स्वाधियं जनयत्सूदयच्च[3] (सं०पा०)। स्वाधियमिति स्व-धियम्। जनयत्। सूदयत्। च। (प० पा०)।

(५) इष्टा का अन्तिम स्वर (आ) पद-पाठ में व्यञ्जन परे रहते ह्रस्व हो जाता है यदि उसके पूर्व में लोक अथवा एव शब्द हो[4]। यथा—सममुष्मिँल्लोक इष्टापूर्तेन[5]। (सं० पा०)। समिति। अमुष्मिन्। लोके। इष्टापूर्तेनेतीष्ट-पूर्तेन। (प० पा०)। स त्वेवेष्टापूर्ती[6] (सं० पा०)। सः। तु। एव। इष्टापूर्तीतीष्ट-पूर्ती। (प०पा०)। लोक तथा एव पूर्व में रहते इष्टा का अन्तिम स्वर ह्रस्व हो गया है।

३—पदान्त आकार का ह्रस्वत्व—(१) अत्रा, सचस्वा, नुदा, मृडा, वर्धा, शिक्षा, रक्षा, अद्या, भवा, भजा, यत्राचरा, पिबा, ना, धामा, धारया, धर्षा, धा, वर्द्धया, बोधात्रा, तत्रा, मुञ्चा, अश्वस्या, पृणस्वा, हिष्ठा, त्वन्तरा, जनिष्वा, युक्ष्वा तथा अच्छा का अन्त्य स्वर पद-पाठ में व्यञ्जन बाद में रहने पर ह्रस्व हो जाता है[7]। यथा—अवा नो देव्या कृपा[8] (सं० पा०)। अव। नः। देव्या। कृपा। (प० पा०)। सचस्वा नः स्वस्तये[9] (सं० पा०)। सचस्व। नः। स्वस्तये। (प० पा०)। प्रणुदा नः सपत्नान्[10] (सं० पा०)। प्रेति। नुद। नः। सपत्नान्। (प०पा०)। मृडा जरित्रे रुद्र[11] (सं० पा०)। मृड। जरित्रे। रुद्र। (प०पा०) वर्धा नो अमवच्छवः[12] (सं०पा०)। वर्ध। नः। अमवदित्यम-वत्। शवः। (प० पा०)। शिक्षा नो अस्मिन्[13] (सं० पा०)। शिक्ष। नः। अस्मिन्। (प० पा०)। रक्षा च नो अधि[14] (सं० पा०)। रक्ष। च। नः। अधीति। (प० पा०)। अद्या देवान्जुष्टतमः[15] (सं० पा०)। अद्य। देवान्। जुष्टतम इति जुष्ट-तमः। (प० पा०)। भवा पायुर्विशो अस्याः[16] (सं० पा०)। भव। पायुः। विशः। अस्याः। (प० पा०)। व्रजे भजा त्वं नः[17]।

---

१. ७।१।११ २. ४।३।४ ३. १।३।१४
४. लोक एवेष्टा। तै० प्रा० ३।६ ५. १।३।८; ६. १।७।३;
७. अत्रा सचस्वा ......... अच्छा। तै० प्रा० ३।८ ८. ४।१।४;
९. १।५।६; १०. ४।६।१२; ११. ४।५।१० १२. २।६।११ १३. ७।५।७
१४. ४।५।१० १५. ४।६।७ १६. १।२।१४; १७. १।६।१२

(सं० पा०)। व्रजे। भज। त्वम्। नः। (प० पा०)—इत्यादि स्थलों में अवा इत्यादि पद अवग्रह नहीं हैं। अतः पद-पाठ में इनका अन्तिम स्वर (आकार) ह्रस्व हो गया है।

(२) अग्नि[1] तथा याज्या अनुवाकों में अधा का अन्तिम स्वर ह्रस्व हो जाता है[2]। यथा—अवा ह्यग्ने क्रतोः[3] (सं० पा०)। अध। हि। अग्ने। क्रतोः। (प० पा०)। अधा यथा नः[4]। (सं पा०)। अध। यथा। नः। (प० पा०)। ये उदाहरण अग्नि तथा याज्या अनुवाकों के हैं अतः व्यञ्जन (ह् तथा य्) बाद में रहते अधा का अन्तिम स्वर ह्रस्व हो गया है।

(३) कुत्रा, दक्षिणेना, स्वेना, हन्तना, जगामा, रुहेमा, विद्मा, ऋध्यामा, चक्रमा, क्षामा, स्तरीमा, भरेमा, वर्षयथा, ईरयथा, आरिथा, पाथा, अथा, सिञ्चथा, जनयथा, जयता, उक्षता, अवता, याता, शृणुता, कृणुता, और विभृता पदों का अन्तिम स्वर पद-पाठ में व्यञ्जन बाद में होने पर ह्रस्व हो जाता है[5]। यथा—कुत्रा चिद्यस्य समृतौ[6] (सं० पा०)। कुत्र। चित्। यस्य। समृताविति सम्-ऋतौ। (प० पा०)। दक्षिणेना वसूनि[7]। (सं० पा०)। दक्षिणेन। वसूनि। (प० पा०)। स्वेना हि वृत्र शवसा[8]। (सं० पा०)। स्वेन। हि। वृत्र। शवसा। (प० पा०)। तपसा हन्तना तम्[9]। (सं० पा०)। तपसा। हन्तन। तम्। (प० पा०)। आ जगामा परस्याः[10]। (सं० पा०)। एति। जगाम। परस्याः। (प० पा०)। अत्रजन्तीमा रुहेमा स्वस्तये[11]। (सं० पा०)। अत्रजन्तीम्। एति। रुहेम। स्वस्तये। (प० पा०)। विद्मा ते अग्ने[12]। (सं०पा०)। विद्म। ते। अग्ने। (प०पा०)। ऋध्यामा त ओहैः[13]। (सं० पा०)। ऋध्याम। ते। ओहैः। (प० पा०)। चक्रमा कच्चन आगः[14]। (सं० पा०)। चक्रम। कत्। चन। आगः। (प० पा०)। क्षामा रेरिहद्वीरुधः

१. अग्नि अनुवाक से तात्पर्य चतुर्थ काण्ड से है। अग्निप्रकाशक मन्त्रों का कथन होने से चौथा काण्ड अग्नि से सम्बन्धित माना जाता है।

२. अधाग्नियाज्ये। तै० प्रा० ३।९

३. ४।४।४

४. २।६।१२

५. कुत्रादक्षिणेना ……… विभृता। तै० प्रा० ३।१०

६. २।१।११

७. ३।४।११

८. ७।४।१५

९. ४।३।१३

१०. १।६।१२

११. १५।११

१२. ४।३।२

१३. ४।४।४

१४. ४।७।१५

समञ्जन्[1]। (सं० पा०)। क्षाम। रेरिहत्। वीरुधः। समञ्जनिति सम्-अञ्जन्। (प० पा०)। इत्यादि में कृत्वा आदि का अन्तिम स्वर ह्रस्व हो जाता है।

(४) भरता का अन्तिम स्वर याज्या अनुवाकों में, पद पाठ में व्यञ्जन परे होने पर, ह्रस्व हो जाता है[2]। यथा—धिया भरता जातवेदसम्[3]। (सं० पा०। धिया। भरत। जातवेदसमिति जात-वेदसम्। यह उदाहरण याज्या अनुवाक का है अतः भरता का अन्तिम स्वर ह्रस्व हो गया है।

(५) अत्ता, भवता, अनदता, तरता, तपता, जुहुता, वोचता, मुञ्चता, चृता, घुष्या, जनया, वर्तया, सादया, पारया, दीया, हरा, भरा, अपा, ससादा, सृजा, तिष्ठा तथा येना पदों का अन्तिम स्वर, पद-पाठ में व्यञ्जन बाद में होने पर, ह्रस्व हो जाता है[4]। यथा—अत्ता हवींषि[5] (सं० पा०)। अत्त। हवींषि। (प० पा)। आदित्यासो भवता मृडयन्तः[6] (सं० पा०)। आदित्यासः। भवत। मृडयन्तः। (प० पा०)। अहावनदता हते[7]। (सं० पा०)। अहो। अनदत। हते। (प० पा०)। सुत्रो रुहाणास्तरता रजांसि[8]। (सं० पा०)। सुवः। रुहाणाः। तरत। रजांसि। (प० पा०)। तपता सुवृक्तिभिः[9]। (सं० पा०)। तपत। सुवृक्तिभिरिति सुवृक्ति-भिः। (प० पा०)। पित्रे जुहुता विश्वकर्मणे[10]। (सं० पा०)। पित्रे। जुहुत। विश्वकर्मणे। (प० पा०)। विश्वे देवासो अधि वोचता मे[11]। (सं० पा०)। विश्वे। देवासः। अधीति। वोचत। मे। (प० पा०)। पदि षितामभुञ्चता यजत्राः[12]। (सं० पा०)। पदि। सिताम्। अमुञ्चत। यजत्राः। (प० पा०)। अयस्मयं विचृता बन्धमेतम्[13]। (सं०पा०)। अयस्मयम्। वीति। चृत। बन्धम्। एतम्। (प० पा०)। परुष्परुरनुघुष्या वि शस्त[14]। (सं० पा०)। परुष्परुरिति परुः—परुः। अनुघुष्येत्यनुघुष्य। वीति। शस्त। (प० पा०) इत्यादि। इनमें अत्ता इत्यादि के अन्तिम स्वर ह्रस्व हो गये हैं।

उपर्युक्त नियम अनवग्रह पदान्त (अ.) के ह्रस्वत्व के विषय में बतलाये गये हैं। अधोलिखित नियमों में अवग्रह (सावग्रह-पद का पूर्व-पद) तथा

---

१. १।३।१४ २. भरता याज्यासु। तै० प्रा० ३।११ ३. ३।५।११
४. अत्ता भवता ............ येना। तै० प्रा० ३।१२ ५. २।६।१२
६. १।४।२२ ७. ५।६।१ ८. ३।५।४ ९. १।६।१२ १०. ४।६।२
११. ४।७।१४ १२. ४।७।१५ १३. ४।२।५ १४. ४।६।९

अनवग्रह (सावग्रह-पद के जो पूर्व-पद नहीं है, पृथक्भूत पद हैं उन) पदान्त ईकार तथा ऊकार के ह्रस्व होने का विधान किया गया है —

(४) अवग्रहान्त ईकार का ह्रस्वत्व—(१) शक्ती, रथी, त्विषी, वाशी, रात्री, ओषधी, आहुती, व्याहृती, स्वाहाकृती, ह्रादुनी, शची, चिती, श्रोणी, पृष्ठी, पूती, अमी, चर्षणी, परी, अधी, पारी—इन पदों का अन्तिम स्वर (ईकार) पद-पाठ में व्यञ्जन परे रहते ह्रस्व हो जाता है[१] यदि ये पद अवग्रह हों। यथा—शक्तीवन्तो गभीराः[२]। (सं० पा०)। शक्तीवन्त इति शक्ति-वन्तः। गभीराः। (प० पा०)। रथीतमो रथीनाम्[३]। (सं० पा०)। रथीतमाविति रथि-तमो। रथीनाम्। प० पा०)। त्विषीमते पथीनाम्[४]। (सं० पा०)। त्विषीमत इति त्विषिमते। पथीनाम्। (प० पा० )। वाशीमन्त इष्मिणः[५]। सं पा०)। वाशीमन्त इति वाशिमन्तः। इष्मिणः। (प०पा०)। रात्रीभिरसुम्नन्[६]। (सं० पा०)। रात्रीभिरिति रात्रिभिः। असुम्नन्। (प० पा०)। ओषधीभ्यो वेहतम्[७]। (सं० पा०)। ओषधीभ्य इत्योषधि-भ्यः। वेहतम्। ( प० पा० )। आहुतीभिरनुयाजेषु[८]। ( सं० पा० )। आहुतीभिरित्याहुति-भिः। अनुयाजेष्वित्यनुयाजेषु। (प० पा० )। एताभिर्व्याहृतीभिः[९]। (सं० पा०)। एताभिः। व्याहृतीभिरितिव्याहृति-भिः। (प० पा०)। स्वाहाकृतीभ्यः प्रेष्य[१०]। (सं० पा०)। स्वाहाकृतीभ्य इति स्वाहाकृति-भ्यः। प्रेति। इष्य। (प० पा०)। ह्रादुनीभ्यः स्वाहा[११]। (सं० पा०)। ह्रादुनीभ्य इति ह्रादुनि-भ्यः। स्वाहा। (प० पा०)। इत्यादि उदाहरणों में शक्ती इत्यादि पद अवग्रह हैं, अतः इनका अन्तिम स्वर पद-पाठ में ह्रस्व हो गया है।

(२) उश्मसी, क्रयी, कृधी, श्रुधी तथा यदी—इन पदों के अवग्रह न होने पर इनका अन्तिम स्वर (ईकार) पद-पाठ में व्यञ्जन बाद में होने पर ह्रस्व हो जाता है[१२]। यथा—उश्मसी गमध्यै[१३]। (सं पा०)। उश्मसी। गमध्यै।

---

१. शक्ती रथी त्विषी वाशी रात्र्योषध्याहुती व्याहृती स्वाहाकृती ह्रादुनी शची चिती श्रोणी पृष्ठी पूत्यमी चर्षणी पर्यधी पारी ...... इत्यवग्रहः। तै० प्रा० ३।७

२. ४।६।३ ३. ४।७।१५ ४. ४।५।२ ५. २।१।११ ६. २।४।१

७. २।१।५ ८. २।६।९ ९. १।६।१० १०. ६।३।९ ११. ७।४।१३

१२. उश्मसीक्रयीकृधीश्रुधीयदी। तै० प्रा० ३।१३ १३. १।३।६

(प० पा०) । रुद्र यत्ते क्रयी परम्[1] । (सं० पा०) । रुद्र । यत् । तेपा । क्रयि । परम् । (प० पा०) । क्रुधी स्वस्माँ अदितेः[2] । (सं० पा०) । क्रुधि । स्विति । अस्मान् । अदितेः । (प० पा०) । इमं मे वरुण श्रुधी हवम्[3] । (सं० पा०) । इमम् । मे । वरुण । श्रुधि । हवम् । (प० पा०) । यदी भूमिं जनयन् विश्वकर्मा[4] । (सं० पा०) । यदि । भूमिम् । जनयन् । विश्वकर्मेति विश्वकर्मा । (प० पा०)—ये पद अवग्रह नहीं हैं । अतः पद-पाठ में इनका ईकार ह्रस्व हो गया है ।

अवग्रहान्त ऊकार का ह्रस्वत्व —(१) शत्रू, विषू, वसू, अनू, हनू, सू तथा विभू पद, यदि अवग्रह हों, तो इनका अन्तिम स्वर (ऊकार) व्यञ्जन परे रहते पद-पाठ में ह्रस्व हो जाता है[5] । यथा —शत्रूयतो हन्ता[6] । (सं० पा०) । शत्रूयत इति शत्रु-यतः । हन्ता । (प० पा०) । विषूवान्विषूवन्तः[7] । (सं० पा०) । विषूवानिति विषुवान् । विषूवन्त इति विषु-वन्तः । (प० पा०) । अरमतिर्वसूयुः[8] । (सं० पा०) । अरमतिः । वसूयुरिति वसु-युः । (प० पा०) । अनूराधा नक्षत्रम्[9] । (सं० पा०) । अनूराधा इत्यनुराधाः । नक्षत्रम् । (प० पा०) हनूभ्यां स्वाहा[10] । (सं०पा०) । हनूभ्यामिति हनुभ्याम् । स्वाहा । (प०पा०) । सूयवसिनी मनवे[11] । (सं० पा०) । सूयवसिना इति सु-यवसिनी । मनवे । (प० पा०) । विभूदाव्ने[12] । (सं० पा०) । विभूदाव्न इति विभु-दाव्ने । (प० पा०) । शत्रू आदि पद अवग्रह हैं, अतः व्यञ्जन बाद में होने पर पद-पाठ में इनका ऊकार ह्रस्व हो गया है ।

(२) सू, तू, नू, मिथू, मक्षू तथा ऊ पद यदि अवग्रह न हों तो इनका ऊकार पद-पाठ में व्यञ्जन बाद में होने पर ह्रस्व हो जाता है[13] । यथा —मो षू णः[14] । (सं० पा०) । मो इति । सु (इति) । नः । (प० पा०) । आ तू नः उप गन्तन[15] । (सं० पा०) । एति । तु (इति) । नः । उप । गन्तन । (प०पा०) । एतशस्य नू रण आ[16] । (सं० पा०) एतशस्य । नु । रणे । आ (इति) । (प० पा०) । गात्राण्यसिना मिथूकः[17] । (सं० पा०) । गात्राणि । असिना ।

१. १।८।१४ २. ४।७।१५ ३. २।१।११ ४. ४।६।२
५. ...... शत्रू विषू वसू अनू हनू सू विभू इत्यवग्रहः । तै० प्रा० ३.७
६. १।५।६ ७. ७।४।३ ८. ४।३।१३ ९. ४।४।१० १०. ७।३।१६
११. १।२।१३ १२. ३।५।८ १३. सू तू नू मिथू मक्षू ऊ । तै० प्रा० ३।१४
१४. १।८।३ १५. १।५।११ १६. ४।६।१ १७. ४।६।९

मियु । कः । (प०पा०) । मक्षू देवव्रतो रथः[१] । (सं०पा०) । मक्षु । देवव्रत इति देवव्रतः । रथः । (प० पा०) । अस्माभिरू नु प्रतिचक्ष्या[२] । (सं० पा०) । अस्माभिः । उ । नु । प्रतिचक्ष्येति प्रति-चक्ष्या । (प० पा०) । इन स्थलों में सू आदि अवग्रह नहीं हैं, अतः व्यञ्जन परे रहते पद-पाठ में इनका ऊकार ह्रस्व हो गया है ।

व्यञ्जन-स्वर-सन्धि—पदान्त व्यञ्जन तथा पदादि स्वर की सन्धि को व्यञ्जन-स्वर-सन्धि के अन्तर्गत रखा जा सकता है । तै० प्रा० के एक मात्र सूत्र (८।३) में इस सन्धि का विधान किया गया है । स्वर अथवा घोषवत् वर्ण बाद में होने पर प्रथम स्पर्श अपने वर्ग का तृतीय स्पर्श हो जाता है[३] । इस प्रकार प्रथम स्पर्श के पदान्त होने पर तथा स्वर अथवा घोषवत् वर्ण के पदादि होने पर प्रथम स्पर्श अपने ही वर्ग का तृतीय स्पर्श हो जाता है । यथा – ऋभक् । अयाट् । ऋधक् । उत । (प० पा०) । ऋधगयाड्ढगुत[४] (सं० पा०) यहाँ पर तीन स्थलों में स्वर वर्ण (अ, ऋ, उ) बाद में होने पर प्रथम स्पर्श (क्, ट्, क्) अपने वर्ग का तृतीय (ग्, ड्, ग्) हो गया है । घोषवत् व्यञ्जन परे होने का उदाहरण व्यञ्जन-सन्धि के अन्तर्गत दिया जायेगा ।

## व्यञ्जन-सन्धि

सन्धि–नियमों के परिणामस्वरूप विकार को प्राप्त करने वाले पदान्त तथा पदादि व्यञ्जनों की सन्धि को व्यञ्जन-सन्धि कहते हैं । व्यञ्जन-सन्धि को तै० प्रा० के आधार पर इन दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) विसर्जनीय-व्यतिरिक्त व्यञ्जन-सन्धि और

(२) विसर्जनीय-सन्धि

विसर्जनीय-व्यतिरिक्त व्यञ्जन-सन्धि—इस सन्धि के अन्तर्गत व्यञ्जनों के संयोग से प्रथमादि स्पर्श-वर्णों में होने वाले विकारों को रखा गया है ।

प्रथम स्पर्श का द्वितीय भाव –(१) ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर प्रथम स्पर्श अपने वर्ग का द्वितीय स्पर्श हो जाता है[५] । यथा—विरप्शिन्निति वि रप्शिन् । उदादायेत्युत्-आदाय । (प० पा०) । विरफ्शिन् उदादाय[६] ।

---

१. १।:।२२ २. १।४।३३

३. तृतीयं स्वरघोषवत्परः । तै० प्रा० ८।३ ४. १।४।४४

. प्रथम ऊष्मपरो द्वितीयम् । तै० प्रा० १४।१२ ६. १।१।९

(सं० पा०)। तत्। षोडशी। (प० पा०) तथ् षोडशी[1]। (सं० पा०)। प्रत्यङ्क्। सोमः। (प० पा०)। प्रत्यङ्ख् सोमः[2]। (सं० पा०)—इन उदाहरणों में प्रथम स्पर्श पूर्व में है तथा ऊष्म-वर्ण बाद में है, अतः प्रथम स्पर्श अपने वर्ग का द्वितीय स्पर्श-वर्ण हो गया है।

(२) वाडभीकार आचार्य का कथन है कि असमान स्थान वाला ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर ही प्रथम स्पर्श अपने वर्ग का द्वितीय होता है[3]। यथा—विपृप इति त्रि-नृपः। विरप्शिन्निति विरप्शिन्। (प० पा०)। विसृपो विरफ्शिन्[4]। (सं० पा०)।

**प्रथम स्पर्श का तृतीय भाव**—प्रथम स्पर्श अपने वर्ग का तृतीय स्पर्श हो जाता है यदि उस प्रथम स्पर्श से परे घोषवत् वर्ण हो[5]। यथा—यत्। वै। होता। (प० पा०) यद्वै होता[6]। (सं० पा०)। यहाँ घोषवत् वर्ण (वकार) बाद में होने से प्रथम स्पर्श (तकार) अपने वर्ग का तृतीय (दकार) स्पर्श हो गया है।

**प्रथम स्पर्श का अनुनासिकभाव**—प्रथम स्पर्श-वर्ण अपने वर्ग का उत्तम (अन्तिम) स्पर्श हो जाता है यदि उसके (प्रथम स्पर्श के) बाद में उत्तम (अन्तिम) स्पर्श हो[7]। यथा—वाक्। मे। आसन्। (प० पा०) वाङ्मे आसन्[8]। (सं० पा०)। प्रस्तुत स्थल में प्रथम स्पर्श (क्) का अपने वर्ग का अन्तिम (ङ्) स्पर्श हो गया है क्योंकि उसके बाद में अन्तिम स्पर्श (म्) है।

**तकार के विकार**—(१) तकार चकार हो जाता है यदि बाद में श्, च् या छ् हो[9]। यथा—तत्। शंयोरिति शं-योः। (प० पा०) तच्छंयोः[10]। (सं० पा०)। तत्। च। अददुः। (प० पा०) तच्चाददुः[11]। (सं० पा०)। तत्। छन्दसाम्। (प० पा०)। तच्छन्दसाम्[12]। (सं० पा०)। इन स्थलों में तकार के बाद क्रमशः श्, च् तथा छ् हैं। अतः त् का च् हो गया है।

---

१. २।६।११ २. १।८।२१

३. वाडभीकारस्यासस्थानपरः। तै० प्रा० १४।१३ ४. १।१।९

५. तृतीयं······घोषवत्परः। तै० प्रा० ८।३ ६. ३।२।९

७. अथ प्रथमः। उत्तमपर उत्तमं सवर्गीयम्। तै० प्रा० ८।१२ ८. ५।५।९

९. तकारश्चकारं शचछपरः। तै० प्रा० ५।२२ १०. २।६।१०

११. ७।१।५ १२. ५।६।६

(२) तकार जकार हो जाता है यदि बाद में जकार हो[१]। यथा—तत्। जयानाम्। (प० पा०)। तज्जयानां[२]। (सं० पा०)।

(३) तकार का लकार हो जाता है यदि बाद में लकार हो[३]। यथा—यत्। लोहितम्। (प० पा०)। यल्लोहितम्[४]। (सं० पा०)। लकार परे रहते तकार लकार हो गया है।

(४) मकार परे रहते ककुत् का तकार भी अपने वर्ग का तृतीय स्पर्श हो जाता है[५]। यथा—ककुद्मानिति ककुत्-मान्। प्रतूर्तिरिति प्र-तूर्तिः। (प० पा०) ककुद्मान् प्रतूर्ति।[६]। (सं० पा०)। यह ८।२ का अपवाद है। ८।२ से उत्तम स्पर्श परे रहते तकार का नकार होना चाहिए था। किन्तु प्रस्तुत नियम से तकार दकार हो गया है।

नकार के विकार—(१) नकार शकार हो जाता है यदि उसके (नकार के) बाद में चकार हो[७]। यथा—अहीन्। च। सर्वान्। जम्भयन्। (प० पा०)। अहींश्च सर्वां जम्भयन्[८]। (सं० पा०)। यहाँ पर चकार बाद में रहते नकार शकार हो गया है।

अपवाद—आयन्, ऐरयन्, आध्नुवन्, अनड्वान्, घृणीवान्, वारुणान् तथा एवास्मिन्—इन पदों में वर्तमान पदान्त नकार चकार बाद में होने पर भी शकार नहीं होता है[९]। यथा—लोकम्। आयन्। चतस्रः। (प० पा०)। लोकमायन् चतस्रः[१०]। (सं० पा०)। याम्। ऐरयन्। चन्द्रमसि। (प० पा०) यामैरयञ्चन्द्रमसि[११]। (सं०पा०)। आध्नुवन्। चरुणा। अस्मिन्। (प०पा०)। आध्नुवञ्चरुणास्मिन्[१२]। (सं० पा०)। अनड्वान्। च। मे। धेनुः। च। मे। (प० पा०)। अनड्वाञ्च मे धेनुश्च मे[१३] (सं० पा०)। घृणीवान्। चेतति। त्मना। (प० पा०) घृणीवाञ्चेतति त्मना[१४] (सं० पा०)। वारुणान्। चतुष्क-पालानिति चतुः-कपालान्। निरिति। वपेत। (प० पा०)। वारुणाञ्चतुष्क-

---

१. जपरो जकारम्। तै० प्रा० ५।२३    २. ३।४।४
३. लपरो लकारम्। तै० प्रा० ५।२५    ४. २।१।७
५. ककुच्चमकारपरः। तै० प्रा० ८।४    ६. १।७।७
७. नकारः शकारञ्चपरः। तै० प्रा० ५।२०    ८. ४।५।१
९. नायन्नैरयन्नाध्नुवन्नड्वान्घृणीवान्वारुणानेवास्मिन्। तै० प्रा० ५।२१
१०. ५।२।३    ११. १।१।९    १२. ५।५।१
१३. ४।७।१०    १४. ३।५।११

पालान्निर्वपेत्[1] (सं० पा०)। एव । अस्मिन् । चक्षुः । धत्तः । (प० पा०)। एव अस्मिञ्चक्षुर्धत्तः[2] (सं० पा०)—इन सभी स्थलों में नकार शकार नहीं हुआ है।

(२) नकार ञकार हो जाता है यदि बाद में श्, च्, छ् अथवा ज् हो[3]। यथा—तेन। एव। एनान्। शमयति। (प० पा०)। तेनैवैनाञ्छमयति[4]। (सं० पा०)। याम्। ऐरयन्। चन्द्रमसि। (प० पा०) यामैरयञ्चन्द्रमसि[5] (सं० पा०)। तान्। छन्दोभिरिति छन्दः-भिः। अन्विति। (प० पा०)। ताञ्छन्दोभिरनु[6] (सं० पा०)। अपरूपमित्यप-रूपम्। आत्मन्। जायते। (प० पा०) अपरूपमात्मञ्जायते[7] (सं० पा०)।

अपवाद—पौष्करसादि आचार्य का मत है कि व्यञ्जन बाद में होने पर नकार ञकार नहीं होता है[8]। यथा—आदित्यान्। श्मश्रुभिरिति—श्मश्रु-भिः। (प० पा०)। आदित्यान् श्मश्रुभिः (आदित्याञ्छ्मश्रुभिः[9]) (सं० पा०)। यह मत अभीष्ट नहीं माना गया है।

(३) नकार लकार हो जाता है यदि बाद में लकार हो[10]। यथा—त्रीन्। लोकान्। उत्। अजयत्। (प० पा०)। त्रीँल्लोकानुदजयत्[11] (सं० पा०)। यहाँ लकार परे रहते नकार लकार हो गया है।

(४) तर्हान्, तस्मिन्, लोकान्, विद्वान्, तान्, त्रीन्, युष्मान्, उद्ध्वान्, अस्मकान्, ऋतून्, अश्मन्, कृण्वन्, पितृन्, अनान्, कपालान् और आद्युदात्त तिष्ठन्, नेमिर्देवान्, सवने पशून्—इनका प्राकृत नकार, तकार बाद में होने पर सर्वत्र (संहिता तथा पद-पाठ में) सकार हो जाता है[12]। यथा—शततर्हानिति शत-तर्हान्। तृँहन्ति। (प० पा०)। शततर्हाँस्तृँहन्ति[13]। (सं०पा०)। तस्मिन् त्वा। दधामि। (प० पा०)। तस्मिँस्त्वा दधामि[14]। (सं० पा०)। इमान्।

---

१. २।३।१२ २. २।२।९

३. नकार एतेषु ञकारम्। तै० प्रा० ५।२४

ऋ० प्रा० में इसे वर्णागम सन्धि के अन्तर्गत माना गया है।

४. ३।४।८ ५. १।१।९ ६. ?।५।९ ७. ३।५।७

८. व्यञ्जनपरः पौष्करसादेर्न पूर्वश्च ञकारम्। तै० प्रा० ५।३७

९. ५।७।१२ १०. लपरो लकारम्। तै० प्रा० ५।२५ ११. १।७।११

१२. तर्हाँस्तस्मिन् ........ प्राकृतो नित्ये। तै० प्रा० ६।१४

१३. १।३।७ १४. १।६।५

एव । लोकान् । तीर्त्वा । (प० पा०) । इमानेव लोकाँस्तीर्त्वा[1] (सं० पा०) । यः । एवम् । विद्वान् त्रैधातवीयेन । (प० पा०) । य एवं विद्वाँस्त्रैधातवीयेन[2] । (सं० पा०) । तान् । ते । दधामि । जम्भयोः । (प० पा० ) । ताँस्ते दधामि जम्भयोः[3] । (सं० पा० ) । त्रीन् । तृचान् । अन्विति । (प० पा०) । त्रीँस्तृचाननु[4] । ( सं० पा० ) । युष्मान् । ते । अन्विति । (प० पा०) । युष्माँस्तेऽनु[5] । (सं० पा०) । ऊर्ध्वान् । तान् । (प० पा०) । ऊर्ध्वाँस्तान्[6] (सं० पा०) । त्र्यम्बकानिति त्रि-अम्बकान् । तृतीयसवनमिति तृतीय-सवनम् । ( प० पा० ) । त्र्यम्बकाँस्तृतीयसवनम्[7] ( सं० पा० ) । ऋतून् । तन्वते । (प० पा०) । ऋतूँस्तन्वते[8] । ( सं० पा० ) । अश्मन् । ते । क्षुत् । (प० पा०) । अस्मँस्ते क्षुत्[9] (सं० पा०) । पुनः । कृण्वन् । त्वा । ( प० पा० ) । पुनः कृण्वँस्त्वा[10] (सं० पा०) । पितॄन् । तन्तुः । इति । (प० पा०) । पितॄँस्तन्तुरिति[11] (सं० पा०) । प्राणानिति प्र-अनान् तस्य । अन्तः । यन्ति । (प० पा०) । प्राणाँस्तस्यान्तर्यन्ति[12] । (सं० पा०) । द्वादश कपालानिति द्वादश-कपालान् । तृतीयसवन इति तृतीय-सवने । (प०पा०) । द्वादश कपालाँस्तृतीयसवने[13] (सं०पा०) । त्रिभिरिति त्रि-भिः । तिष्ठन् । तिष्ठति । (प० पा०) । त्रिभिस्तिष्ठँस्तिष्ठति[14] । (सं० पा०) । नेमिः । देवान् । त्वम् । परिभूरिति परि-भूः । असि । (प० पा०) नेमिर्देवाँस्त्वं परिभूरसि[15] (सं० पा०) । माध्यंदिने । सवने । पशून् । तृतीयसवन इति तृतीय-सवने । (प० पा०) । माध्यन्दिने सवनेपशूँस्तृतीयसवने[16] (सं०पा०) ।

(५) ग्रह,[17] उक्थ, याज्या, पृष्ठ्य[18] तथा हिरण्यवर्णीय अनुवाकों में पदान्त नकार से पूर्व में ईकार अथवा ऊकार हो तथा नकार से बाद में पदादि इति से

---

१. ३।५।४ २. २।४।११ ३. ४।१।१० ४. २।५।१०
५. ३।२।५ ६. ३।१।९ ७. ३।२।२ ८. ४।३।११
९. ४।६।१ १०. ४।७।१३ ११. ५।३।६ १२. ७।१।३
१३. ७।५।६ १४. ५।४।१२ १५. २।५।९ १६. ३।२।९
१७. तै० सं० १।४।१ से १।४।४२ तक के ४२ अनुवाकों को ग्रह संज्ञक कहते हैं ।
१८. अश्वमेध-काण्ड के आदि से लेकर नौ अनुवाक पृष्ठ्य संज्ञक हैं, जो इस प्रकार हैं—तै० सं० ४।४।१२; ४।६।६-९; ४।७।१५; ५।१।११; ५।२।११-१२ ।

अन्य स्वर हो तो नकार रेफ हो जाता है। नकार से पूर्व में यदि आ हो और पदादि स्वर बाद में हो तो नकार यकार हो जाता है[1]। उदाहरणों को प्रस्तुत तालिका द्वारा दिखलाया जा रहा है—

| अनुवाक | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| ग्रह | जहि। शत्रून्। अपेति। मृधः। | जहि शत्रूँरपमृधः[2] |
| ग्रह | मरुत्वान्। इन्द्रः। | मरुत्वाँइन्द्रः[3] |
| उख्य | ये। वा। वनस्पतीन्। अनु। | ये वा वनस्पतीँरनु[4] |
| उख्य | मधुमानिति मधु-मान्। अस्तु। सूर्यः। | मधुमाँअस्तु सूर्यः[5] |
| याज्या | ऋतून्। ऋतुपत इत्यृतु-पते। | ऋतूँऋंतुपते[6] |
| याज्या | अमवानित्यम-वान्। इमेन। | अमवाँइमेन[7] |
| पृष्ठ्य | शत्रून्। अनपव्ययन्त इत्यनपव्ययन्तः। | शत्रूँरनपव्ययन्तः[8] |
| पृष्ठ्य | जघनान्। उपेति। जिघ्नते। | जघनाँउपजिघ्नते[9] |
| हिरण्यवर्णीय | अग्नीन्। अप्सुषद ईत्यप्सु-सदः। | अग्नीँरप्सुषदो[10] |
| हिरण्यवर्णीय | सर्वान्। अग्नीन्। | सर्वाँअग्नीन्[11] |

(६) मर्त्यान्, उदयान्, अमृतान्, सोम पूर्व में न होने पर दुर्यान्, सो अस्मान्, अविमान्, गोमान्, मधुमान्, हविष्मान्, आर्ष-संहिता में हूतमान्, चिकित्वान्, इडावान्, कक्षीवान्, बाणवान्, हि पयस्वान्, वशान्, विदत्रान्, अमित्रान्, अरान्, पोषान् तथा महान्—इन पदों में इति से अन्य स्वर बाद में होने पर आकार पूर्व नकार यकार हो जाता है[12]। सूत्र में प्रयुक्त आर्ष शब्द का सम्बन्ध हूतमान् के साथ है। पद-पाठ में प्रक्षिप्त इति शब्द बाद में होने पर हूतमान् का नकार यकार न हो इसीलिए यहाँ आर्ष (संहितापाठ में स्थित) शब्द का प्रयोग किया गया है अर्थात् हूतमान् का नकार संहिता-पाठ में इति बाद में होने पर

---

१. अनितिपरो ग्रहोख्ययाज्यापृष्ठ्यहिरण्यवर्णीयेष्वीकारोकारपूर्वो रेफमाकारपूर्वश्च यकारम्। तै० प्रा० ९।२०

२. १।४।४२ ३. १।४।१९ ४. ३।२।८ ५. ४।२।९
६. ४।३।१३ ७. १।२।१४ ८. ४।६।६ ९. ४।६।६
१०. ५।६।१ ११. ५।६।१

१२. मर्त्यानुदयानमृतान्दुर्यान्सोमपूर्वः सो अस्मानविमान्गोमान्मधुमान्हविष्मान्हूतमानार्षेचिकित्वानिडावान्कक्षीवान्बाणवान्हिपयस्वान्वशान्विदत्रानमित्रानरान्पोषान्महांश्च। तै० प्रा० ९।२१

यकार हो जाता है। ९।२०, २१ में उल्लिखित पदों के अनुसार नकार यकार हो जाता है, यदि उसके बाद में संहिता-पाठ में विद्यमान कोई भी स्वर हो। यदि इतिपद संहिता-पाठ का अंश है तब इति का इकार बाद में होने पर भी नकार यकार हो जाता है। यथा—देवहूतमाँइत्युखायाम्[1] (सं० पा०) में हुआ है। नकार तब यकार नहीं होता है जब उसके बाद में प० पा० अथवा क्र० पा० में आने वाला ( अनार्ष ) इति हो। यही कारण है कि देवहूतमानिति देव-हूतमान्। ( प० पा० ) में नकार यकार नहीं हुआ है। यह इति संहिता-पाठ में उपलब्ध नहीं होता है। केवल पद-पाठ में ही उपलब्ध होता है।

उदाहरणों को प्रस्तुत तालिका में दिखलाया जा रहा है—

| सूत्र में उद्धृत पद | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| मर्त्यान् | मर्त्यान्। आ विवेशेत्या-विवेश। | मर्त्याँआविवेश[2] |
| उदयान् | उदिति। अयान्। अजस्रम्। | उदयाँअजस्रम्[3] |
| अमृतान् | उदिति। अस्थाम्। अमृतान्। अनु। | उदस्थाममृताँअनु[4] |
| असोम पूर्व दुर्यान् | भद्रान्। दुर्यान्। अभि। एति। एहि। | भद्रान्दुर्याँअभ्येहि[5] |
| सो अस्मान् | सः। अस्मान्। अधिपतीनित्यधिपतीन्। करोतु। | सो अस्माँअधिपतीन्करोतु[6] |
| अविमान् | अविमानित्यवि-मान्। अश्वी। | अविमाँअश्वी[7] |
| गोमान् | गोमानिति गो-मान्। अग्ने। | गोमाँअग्ने[8] |
| मधुमान् | मधुमानिति मधु-मान्। इन्द्रियावानितीन्द्रिय-वान्। | मधुमाँइन्द्रियावान्[9] |
| हविष्मान् | हविष्मान्। एति। विवासति। | हविष्माँआ विवासति[10] |
| हूतमान् | देवहूतमानिति देवहूतमान्। इति। उखायाम्। | देवहूतमाँइत्युखायाम्[11] |
| चिकित्वान् | चिकित्वान्। अन्विति। मन्यताम्। | चिकित्वाँअनु मन्यताम्[12] |
| इडावान् | इडावानितीडा-वान्। एषः। | इडावाँएषः[13] |

१. ५।५।३ २. ५।७।९ ३. ४।६।३
४. २।२।८ ५. १।६।३ ६. १।६।६
७. १।६।६ ८. १।६।६ ९. ३।१।१० १०. १।३।१२
११. ५।५।३ १२. ३।१।१४ १३. १।६।६

| सूत्र में उद्धृत पद | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| कक्षीवान् | कक्षीवानिति कक्षीवान् । औशिजः । | कक्षीवाँ औशिजः[1] |
| बाणवान् | विशल्य इति त्रि-शल्यः । बाणवानिति बाण-वान् । उत । | विशल्यो बाणवाँ उत[2] |
| हि पयस्वान् | असृक्ष्महि । पयस्वान् । अग्ने । | असृक्ष्महि पयस्वाँ अग्ने[3] |
| वशान् | स्तुतः । यासि । वशान् । अनु । | स्तुतो यासि वशाँ अनु[4] |
| विद्वान् | सुविद्वानिति सु-विद्वान् । अपीति । इतः । | सुविद्वाँ अपीत[5] |
| अमित्रान् | अमित्रान् । अपबाधमान-इत्यपबाधमानः । | अमित्राँ अपबाधमानः[6] |
| अरान् | अरान् । इव । अग्ने । | अराँ इवाग्ने[7] |
| पोषान् | पोषान् । अपुष्यत् । | पोषाँ अपुष्यत्[8] |
| महान् | अग्ने । महान् । असि । | अग्ने महाँ असि[9] |

(७) इन्द्रो मे, अकः, ऊढ्वम्, इहा, अप्येतु, अगन्म, ईडेन्यान्, आयजिष्ठ, आ च, ऋतु, अकुर्वत, अदुहत्, अदिति, अग्रे, अधरान्त्सपत्नान् तथा अलम् पद परे रहते आकारपूर्व नकार यकार को प्राप्त हो जाता है[10]। उदाहरणों को नीचे दिखलाया जा रहा है—

| सूत्र में उद्धृत पद | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| इन्द्रो मे | सपत्नान् । इन्द्रः । मे । | सपत्नाँ इन्द्रो मे[11] |
| अकः | निग्रामेणेति नि-ग्रामेण । अधरान् । अकः । | निग्रामेणाधराँ अकः[12] |
| ऊढ्वम् | यूयम् । देवान् । ऊढ्वम् । | यूयं देवाँ ऊढ्वम्[13] |
| इहा (इह आ) | अग्ने । देवान् । इह । एति । वह । | अग्ने देवाँ इहा वह[14] |
| अप्येतु (अपि एतु) | धर्मः । देवान् । अपीति । एतु । | धर्मो देवाँ अप्येतु[15] |

---

१. ५।६।५ २. ४।५।१ ३. १।४।४५
४. १।८।५ ५. १।८।५ ६. ४।६।४
७. २।५।९ ८. ७।१।९ ९. २।५।९
१०. इन्द्रोमेऽकरूढ्वमिहाप्येप्वगन्मेडेन्यानायजिष्ठ आचर्त्वकुर्वतादुहंददितिरग्रेऽधरान्त्सपत्नानलंपरश्च । तै० प्रा० ९।२२ ११. १।१।१३
१२. १।१।१३ १३. १।३।८ १४. १।३।१४ १५. १।५।१०

| सूत्र में उद्धृत पद | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| अगन्म | सुवः । देवान् । अगन्म । | सुवर्देवाँ॥अगन्म[1] |
| ईडेन्यान् | ईडामहे । देवान् । ईडेन्यान् । | ईडामहे देवाँ॥ईडेन्यान्[2] |
| आयजिष्ठ | देवान् । आयजिष्ठ इत्यायजिष्ठः । स्वस्ति । | देवाँ॥आयजिष्ठः स्वस्ति[3] |
| आ च | देवान् । एति । च । वक्षत् । | देवाँ॥आ च वक्षत्[4] |
| ऋतु | वाजः । देवान् । ऋतुभिरित्यृतु-भिः । | वाजो देवाँ॥ऋतुभिः[5] |
| अकुर्वत | वित्वा । कामान् । अकुर्वत । | वित्वा कामाँ॥अकुर्वत[6] |
| अदुहत् | यज्ञः । असुरान् । अदुहत् । | यज्ञोऽसुराँ॥अदुहत्[7] |
| अदिति | विवस्वान् । अदितिः । | विवस्वाँ॥अदितिः[8] |
| अग्रे | अग्निः । तान् । अग्रे । | अग्निस्ताँ॥अग्रे[9] |
| अधरान्त्सपत्नान् | अन्यान् । अधरान् । सपत्नान् । | अन्याँ॥अधरान्त्स-पत्नान्[10] |
| अलम् | पुरोडाशान् । अलम् । कुरु । इति । | पुरोडाशाँ॥अलंकुर्विति[11] |

९।२२ के अपवाद—(१) रश्मीन्, श्रपयान्, यमान्, पतङ्गान्, समानान्, अर्चान्, तथा यजीयान् पदों का अन्तिम नकार स्वर बाद में रहने पर भी यकार नहीं होता है[12]। यथा—पुरुत्रेति पुरु-त्रा । च । रश्मीन् । अन्विति । (प० पा०) । पुरुत्रा च रश्मीनन्[13] (सं० पा०) । अदितिः । श्रपयान् । इति । (प० पा०) । अदिति श्श्रपयानिति[14] (सं० पा०) । सुयमानिति सु-यमान् । ऊतये । (प० पा०) । सुयमानूतये[15] (सं० पा०) । पतङ्गान् । असंदित इत्यसं-दितः । (प० पा०) पतङ्गानसंदितः[16] (सं० पा०) । समानान् । उशन् । अग्ने । (प० पा०) समानानुशन्नग्ने[17] (सं० पा०) । अर्चान् । इन्द्र । ग्रावाणः । (प० पा०) अर्चानिन्द्र ग्रावाणः[18] (सं० पा०) । यजीयान् उपस्थ इत्युप-स्थे । मातुः । (प०पा०) यजीयानुपस्थे मातुः[19] (सं०पा०) । ग्रह,

---

१. १।७।९ २. २।५।९ ३. ४।३।१३ ४. ४।६।३
५. ४।७।१२ ६. १।५।६ ७. १।७।१ ८. १।५।३
९. ३।१।४ १०. ३।२।८ ११. ६।३।१
१२. न रश्मीँ॥श्रपयान्यमान्पतङ्गान्त्समानानर्चान्यजीयान् । तै० प्रा० ९।२३
१३. ४।२।२ १४. ४।१।५ १५. ४।७।१५ १६. १।२।१४
१७. ४।३।१३ १८. १।६।१२ १९. १।३।१४

उख्यादि अनुवाकों का होने के कारण उपर्युक्त उदाहरणों में ९।२० से रेफ तथा यकार की प्राप्ति थी। प्रस्तुत नियम से उसका निषेध हो गया हैं।

(२) उत् अथवा अथा पद बाद में होने पर भी पदान्त नकार रेफ अथवा यकार को नहीं प्राप्त करता है[1]। यथा—अमित्रान्। उदिति। नयामि। (प० पा०) अमित्रानुन्नयामि[2] (सं० पा०)। विद्वान्। अथ। भव। (प० पा०) विद्वानथा भव[3] (सं० पा०)।

मकार के विकार—

(१) स्पर्श वर्ण परे रहते पदान्त मकार परवर्ती स्पर्श के समान स्थान वाला अनुनासिक (उत्तम स्पर्श) हो जाता है[4]। यथा—तम्। ते। दुश्चक्षा इति दुः-चक्षाः। (प० पा०) तन्ते दुश्चक्षाः[5] (सं० पा०)। यम्। कामयेत। (प० पा०) यङ् कामयेत[6] (सं० पा०)। क्रमशः तकार तथा ककार परे रहते मकार नकार तथा ङकार हो गया हैं।

(२) अन्तःस्था-वर्ण परे होने पर पदान्त मकार परसवर्ण अनुनासिक को प्राप्त करता है[7]। अर्थात् पदान्त मकार के बाद यदि पदादि अन्तस्था-वर्ण (य्, र्, ल्, व्) हो तो मकार उस अन्तःस्था-वर्ण के समान स्थान वाला अनुनासिक (अनुनासिकगुण युक्त) हो जाता है। यथा— संयत्ता इति सं-यत्ताः। आसन्। (प० पा०) संय्यत्ता आसन् (संयत्ता आसन्[8]) (सं० पा०)। सुवर्गमिति सुवः-गम्। लोकम्। (प० पा०) सुवर्गँल्लोकम् (सुवर्गँ-लोकम्[9])। (सं० पा०) (३) संवत्सर इति सं-वत्सरः। (प० पा०) सँव्वत्सरः (संवत्सरः[10]) (सं० पा०)। इन स्थलों में क्रमश य्, ल्, व् परे रहते मकार अन्तःस्था के समान स्थान वाला अनुनासिक हो गया है।

अपवाद—रेफ बाद में होने पर मकार सवर्ण अनुनासिक नहीं होता है[11]। यथा—प्रेति। सम्राजमिति सम्-राजम्। (प०पा०) प्र सम्राजम्[12] (सं० पा०)।

---

१. उदथापरश्च। तै० प्रा० ९।२४ २. ४।१।१० ३. ३।२।११

४. मकारः स्पर्शपरस्तस्यसस्थानमनुनासिकम्। तै० प्रा० ५।२७

५. ३।२।१० ६. १।६।१०

७. अन्तस्थापरश्च सवर्णमनुनासिकम्। तै० प्रा० ५।२८

ऋ० प्रा० ४।७ में वशंगम-सन्धि के अन्तर्गत इसके समान नियम विहित है

८. १।५।१ ९. १।५।४ १०. १।५।१

११. न रेफपरः। तै० प्रा० ५।२९ १२. १।६।१२

मकार रेफ के समान स्थान वाला अनुनासिक नहीं हुआ है। यह ५।२८ का अपवाद है।

(३) कतिपय आचार्यों के मतानुसार यकार अथवा वकार परे होने पर भी मकार उनके समान स्थान वाला अनुनासिक नहीं होता है[1]। यथा—संयत्ता इति सम्-यत्ताः। (प० पा०) सम् यत्ताः (संयत्ताः[2]) (सं० पा०)। संवत्सर इति संवत्सरः। (प० पा०) सम्वत्सरः (संवत्सरः[3]) (सं० पा०)।

(४) आत्रेय आचार्य के मत में उत्तम (नकार अथवा मकार) का लकार होने पर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है[4]। यथा—इमान्। लोकान्। (प० पा०) इमाँल्लोकान्[5] (सं० पा०)। सुवर्गमिति सुवः-गम्। लोकम्। (प० पा०) सुवर्गँल्लोकम्[6] (सं० पा०)—इन स्थलों में क्रमशः नकार तथा मकार का लभाव होने पर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो गये हैं।

## ऊष्म-वर्णों के विकार

**हकार के विकार**—प्लाक्षि, कौण्डिन्य, गौतम तथा पौष्करसादि आचार्यों के मतानुसार प्रथम स्पर्श पूर्व में होने पर हकार उसके समान स्थान वाला चतुर्थ स्पर्श हो जाता है[7]। यथा—अर्वाक्। हि। एनम्। (प० पा०) अर्वाग्घ्येनम्[8] (सं० पा०)। तत्। हिरण्यम्। (प० पा०) तद्धिरण्यम्[9] (सं० पा०)।

कतिपय आचार्यों के मतानुसार प्रथम स्पर्श पूर्व में होने पर हकार विकार को नहीं प्राप्त करता है[10]। यथा—अर्वाक्। हि। एनम्। (प० पा०) अर्वाग् ह्येनम्[11] (सं० पा०)। यहाँ प्रथम स्पर्श पूर्व में रहते हकार अविकृत है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संहिता में पूर्ववर्ती विधान के अनुसार हकार का पूर्ववर्ती के समान स्थान वाला चतुर्थ स्पर्श ही प्राप्त होता है।

---

१. यवकारपरश्चैकेषामाचार्याणाम्। तै० प्रा ५।३०

२. १।५।१    ३. १।७।११

४. उत्तमलभावात् पूर्वोऽनुनासिक इत्यात्रेयः। तै० प्रा० ५।३१

५. ३।३।६    ६. १।५।४

७. प्रथमपूर्वोहकारश्चतुर्थं तस्य सस्थानं प्लाक्षिकौण्डिन्यगौतमपौष्करसादीनाम्। तै० प्रा० ५।३८    ८. ६।३।३    ९. ५।४।२

१०. अविकृत एकेषाम्। तै० प्रा० ५।३९    ११. ६।३।२

शकार का विकार—स्पर्श पूर्व में होने पर शकार छकार हो जाता है[1]। यथा—शरत्। श्रौत्री। (प० पा०)। शरच्छौत्री[2] (सं० पा०)। तकार पूर्व में होने पर शकार छकार हो गया है।

अपवाद—(१) मकार पूर्व में होने पर शकार छकार नहीं होता है[3]। यथा—संशितमिति सम्-शितम्। मे। ब्रह्म। (प०पा०) सꣳशितं मे ब्रह्म[4] (सं० पा०)। स्पर्श-वर्ण होने के कारण मकार पूर्व में रहते शकार को ५।३४ से छत्व की प्राप्ति थी। प्रस्तुत सूत्र से उसका निषेध हो जाता है।

(२) आचार्य वाल्मीकि के अनुसार पकार पूर्व में होने पर भी शकार छकार नहीं होता है[5]। यथा—अनुष्टुपित्यनु-स्तुप्। शारदी। (प० पा०) अनुष्टुफ्-शारदी (अनुष्टुप्छारद्यनुष्टुभः[6]) (सं० पा०) पूर्व में पकार है अतः शकार छकार नहीं हुआ है।

(३) आचार्य पौष्करसादि के मत में व्यञ्जन परे रहते शकार छकार नहीं होता है[7]। यथा—आदित्यान्। श्मश्रुभिरिति श्मश्रुभिः। (प० पा०) आदित्यान् श्मश्रुभिः[8] (सं० पा०)। यहाँ शकार के बाद में व्यञ्जन मकार है अतः शकार छकार नहीं हुआ।

## विसर्जनीय-सन्धि

तै० प्रा० के चार अध्यायों (५, ६, ८ तथा ९) में ९ प्रकार की विसर्जनीय-सन्धियों का उल्लेख किया गया है। सभी प्रातिशाख्यों में विसर्जनीय को पदान्तीय वर्ण माना गया है। परिस्थिति-विशेष में विसर्जनीय ओ, य्, र्, ऊष्म, ᳵक्, ᳶप् विकार को प्राप्त करता है अथवा कभी-कभी लुप्त भी हो जाता है।

## प्रमुख विसर्जनीय-सन्धियाँ

### विसर्जनीय का ओकार होना—

(१) अकार परे रहते सम्पूर्ण अः ओकार को प्राप्त करता है[9]। तात्पर्य यह है

---

१. स्पर्शपूर्वः शकारश्छकारम्। तै० प्रा० ५।३४ २. ४।३।२
३. न मकारपूर्वः। तै० प्रा० ५।३५ ४. ४।१।१०
५. पकारपूर्वश्च वाल्मीकेः। तै० प्रा० ५।३६ ६. ४।२।२
७. व्यञ्जनपरः पौष्करसादेर्न पूर्वश्च नकारम्। तै० प्रा० ५।३७
८. ५।७।१२ ९. ओकारमः सर्वोऽकारपरः। तै० प्रा० ९।७

कि अकार पदादि हो तो पदान्त विसर्जनीय अपने पूर्ववर्ती वर्ण (अ) के सहित ओकार हो जाता हैं। यथा—प्रेद्ध इति प्र-इद्धः। अग्ने।(प० पा०) प्रेद्धो अग्ने[1] (सं० पा०)। यहाँ अकार बाद में है अतः संपूर्ण अः ओकार हो गया है।

(२) घोषवत् वर्ण परे रहते भी अ के सहित विसर्जनीय ओकार हो जाता है[2]। यथा—मा। नः। मित्रः। वरुणः। (प०पा०) मा नो मित्रः वरुणः[3] (सं०पा०) प्रस्तुत स्थल में विसर्जनीय के बाद घोषवत् वर्ण (म्) है अतः विसर्जनीय का ओकार हो गया है।

## विसर्जनीय का यकार में परिवर्तन—

अवर्ण पूर्व में होने पर तथा स्वर बाद में होने पर विसर्जनीय यकार हो जाता है[4]। यथा—आपः। उन्दन्तु। (प० पा०) आप उन्दन्तु[5] (सं० पा०)। ताः। अब्रुवन् (प० पा०) ता अब्रुवन्[6] (सं० पा०) न। अन्वारभ्या ३ इत्यनु-आरभ्याः ३। इति। (प० पा०) नान्वारभ्या ३ इति[7]। (सं० पा०)। अवर्ण पूर्व में होने पर तथा स्वर बाद में होने पर विसर्जनीय का यकार हो गया है। पुनः १०।१९ से यकार का लोप हो गया है।

## विसर्जनीय का रेफ होना—

(१) आशीः, धूः तथा सुवः पद अवग्रह (समस्त पद का पूर्व पद) हों तो इनका विसर्जनीय रेफ हो जाता है तथा उस (रेफ) से परवर्ती सकार षकार हो जाता है[8]। यथा—इति। आशीर्पदयेत्याशीः-पदया। ऋचा। (प० पा०) इत्याशीर्पदयर्चा[9] (सं० पा०)। धूर्षाहविति धूः-साहो। अनश्रू। (प० पा०) धूर्षाहावनश्रू[10] (सं० पा०)। सुवर्षामिति सुवः-साम्। जिह्वाम्। अग्ने। (प० पा०) सुवर्षांजिह्वामग्ने[11] (सं० पा०)। इन स्थलों में अवग्रहस्थ आशीः, धूः तथा सुवः का विसर्जनीय रेफ हो गया है तथा सकार षकार हो गया है।

(२) स्वर अथवा घोषवत् वर्ण बाद में रहते विसर्जनीय रेफ हो जाता है[12]।

---

१. ४।६।५ २. घोषवत्परश्चः। तै० प्रा० ९।८ ३. ४।६।८

४. अथ स्वरपरो यकारम्। तै० प्रा० ९।१०

५. १।२।१ ६. २।३।५ ७. ६।३।८

८. अवग्रह आशीर्धूर्सुवरिति रेफं परः सकारः षकारम्। तै० प्रा० ५।१०

९. ६।२।९ १०. १।२।८ ११. ४।४।४

१२. रेफमेतेषु। तै० प्रा० ८।६

यथा—तत्। अग्निः। आह। (प० पा०) तदग्निराह[1] (सं० पा०)। आशीरित्याशीः। मे। ऊर्जम्। (प० पा०) आशीर्मे ऊर्जम्[2] (सं० पा०)। विसर्जनीय के बाद स्वर (आ) तथा घोषवत् वर्ण (म्) है। अतः विसर्जनीय रेफ हो गया है।

(३) ह्वाः, अभाः, वाः, ह्राः, अविभः, अजीगः, अकः, अनन्तः, विवः, सुवः, पुनः, अहरहः, प्रातः, वस्तः, शमितः, सवितः, सनुतः, स्तनुतः, स्तोतः, होतः, पितः, मातः, यष्टः, एष्टः, नेष्टः तथा त्वष्टः पदों का विसर्जनीय स्वर अथवा घोषवत् वर्ण बाद में होने पर रेफ हो जाता है[3]।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि अविभः तथा अजीगः—ये पद तै० सं० में एक-एक बार (क्रमशः २।५।१ तथा ४।६।७ में) प्रयुक्त हुए हैं और वहाँ इनके विसर्जनीय रेफ नहीं हुए हैं। अतः माहिषेय तथा सोमयार्य ने सूत्रकार के मत को पुष्ट करने के लिये जटा-पाठ का उदाहरण दिया है। गार्ग्यगोपालयज्वा इन उदाहरणों को इस विधान के क्षेत्र के बाहर मानते हैं।

प्रस्तुत सूत्र के उदाहरणों को इस तालिका द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है—

| सूत्र में उद्धृत पद | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| ह्वाः | मा। ह्वाः। मित्रस्य। | मा ह्वार्मित्रस्य[4] |
| अभाः | योनौ। अभाः। उखा। | योनावभारुखा[5] |
| वाः | तस्मात्। वाः। नाम। वः। हितम्। | तस्माद्वार्णाम वो हितम्[6] |
| ह्राः | मा। मे। प्रेति। ह्राः। अस्ति। वै। इदम्। | मा मे प्रह्रारस्ति वा इदम्[7] |
| अविभः | अविभः। तम्। | अविभस्तन्तमविभरविभस्तम्[8] (ज० पा०) |
| अजीगः | अजीगः। | अजीगरित्यजीगः[9] (ज०पा०) |
| अकः | देवत्रेति देव-त्रा। अकः। अजक्षीरेणेत्यज-क्षीरेण। | देवत्राकरजक्षीरेण[10] |

---

१. ४।२।८  २. ३।२।८

३. ह्वारभार्वार्ह्रारविभरजीगरकरनन्तर्विवस्सुवः पुनरहरहः प्रातर्वस्तः शमितः सवितस्सनुतस्स्तनुतः स्तोतर्होतः पितर्मातर्यष्टरेष्टर्नेष्टस्त्वष्टः। तै० प्रा० ७।८

४. १।१।४  ५. ४।२।५  ६. ५।६।१

७. ३।४।१२  ८. २।५।१  ९. ४।६।७  १०. ५।१।७

| सूत्र में उद्धृत पद | पद-पाठ | संहिता-पाठ |
|---|---|---|
| अनन्तः | यज्ञपरुष इति यज्ञ-परुषः । अनन्तरित्या इति अनन्तः-इत्यै । | यज्ञपरुषोऽनन्तरित्यै[१] |
| विवः | च । विवः । | च विर्विवश्च च विवः विवरितिविवः[२] (ज०पा०) |
| सुवः | सुवः । असि । सुवः । मे । | सुवरसि सुवर्मे[३] |
| पुनः | पुनः । आसद्येति आ-सद्य । सदनम् । | पुनरासद्य सदनम्[४] |
| अहरहः | अहरहरित्यहः-अहः । हविर्धानिना-मिति हविः-धानिनाम् । | अहरहर्हविर्धानिनाम्[५] |
| प्रातः | प्रातः । उपसद इत्युप-सदः । | प्रातरुपसदः[६] |
| वस्तः | दोषावस्तरिति दोषा-वस्तः । धिया । | दोषावस्तर्धिया[७] |
| शमितः | शृतम् । हवी३ः । शमितः इति । | शृतं हवी३श्शमितरिति[८] |
| सवितः | देव । सवितः । एतत् । ते । | देव सवितरेतत्ते[९] |
| सनुतः | द्वेषः । सनुतः । युयोतु । | द्वेषः सनुतर्युयोतु[१०] |
| स्तोतः | एतम् । स्तोतः । एतेन । | एतं स्तोतरेतेन[११] |
| होतः | होतः । यविष्ठ । सुक्रतो इति सु-क्रतो । | होतर्यविष्ठ सुक्रतो[१२] |
| पितः | मरुताम् । पितः । | मरुतां पितः पितर्मरुतां मरुतां पितः[१३] (ज०पा०) |
| मातः | पृथिवि । मातः । मा । मा । | पृथिवि मातर्मा मा[१४] |
| यष्टः | अग्ने । यष्टः । इदम् । नमः । | अग्ने यष्टरिदं नमः[१५] |
| एष्टः | अशीय । एष्टः । | अशीयेष्टरेष्टरशीयाशी-येष्टः[१६] (ज० पा०) |
| नेष्टः | नेष्टः । पत्नीम् । | नेष्टः पत्नीं पत्नीं नेष्टर्नेष्टः पत्नीम्[१७] (ज० पा०) |
| त्वष्टः | शिवः । त्वष्टः । इह । एति । गहि । | शिवस्त्वष्टरिहागहि[१८] |

---

१. ५।७।५ २. ४।२।८ ३. ५।७।६ ४. ४।२।३
५. २।५।६ ६. ६।२।३ ७. १।५।६ ८. ६।३।१०
९. ३।२।७ १०. १।७।१३ ११. ७।४।२० १२. १।२।१४
१३. ३।३।९ १४. ३।३।२ १५. १।१।१२ १६. १।८।२१
१७. ६।५।८ १८. ३।१।११

(४) पद में (पद-पाठ की अवस्था में) अनुदात्त पद में स्थित कः तथा आवः का विसर्जनीय, स्वर अथवा घोषवत् वर्ण बाद में रहने पर, रेफ हो जाता है[1]। तात्पर्य यह है कि जब पद-पाठ में कः तथा आवः पद अनुदात्त होता है तभी संहिता में कः और आवः का विसर्जनीय रेफ विकार को प्राप्त करता है। यथा—मिथुया। कः। भागधेयमिति भाग-धेयम्। (प० पा०) मिथुया कर्भागधेयम्[2] (सं० पा०)। सुरुच इति सु-रुचः। वेन। आवरित्यावः। (प० पा०) सुरुचो वेन आवः[3]। (सं० पा०)। इन स्थलों में कः और आवः पद-पाठ में अनुदात्त हैं अतः संहिता में इनका विसर्जनीय रेफ हो गया है।

(५) आद्युदात्त न होने पर अन्तः पद का विसर्जनीय रेफ को प्राप्त करता है[4] यथा—अन्तः। अग्ने। रुचा। (प० पा०) अन्तरग्ने रुचा[5] (सं० पा०) अग्निम्। अन्तः। भरिष्यन्ती इति। (प० पा०) अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती[6] (सं० पा०)। अनाद्युदात्त अन्तः पद का विसर्जनीय रेफ हो गया है।

(६) आवृत् पद परे रहते विसर्जनीय रेफ को प्राप्त करता है[7]। यथा—जिन्वः। आवृदित्या-वृत्। स्वाहा। (प० पा०) जिन्वरावृत् स्वाहा[8] (सं० पा०)।

(७) इति परे रहते विसर्जनीय हो जाता है[9]। अर्थात् आवृत् शब्द बाद में रहने पर जिन पदों का विसर्जनीय रेफ हो जाता है, उन्हीं पदों के बाद में यदि इति आ जाये तो भी उन पदों का विसर्जनीय रेफ में परिवर्तित हो जाता है। यथा—इति श्रुतः श्रुतरितीति श्रुतः[10] (ज० पा०) इति। श्रुतः। (प०पा०) ८।११ के अनुसार आवृत् बाद में होने पर श्रुतः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है। प्रस्तुत नियमानुसार इति परे रहते भी श्रुतः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है।

(८) अहाः, अहः तथा सुवः जब सावग्रह पद के अन्त में विद्यमान न हों तो इन विसर्जनीयान्त पदों का विसर्जनीय स्वर अथवा रेफव्यतिरिक्त घोषवत् वर्ण

---

१. करावरनुदात्ते पदे। तै० प्रा० ८।९

२. १।३।७ ३. ४।२।८

४. अन्तरनाद्युदात्ते। तै० प्रा० ८।१०

५. ४।१।९ ६. ४।१।३ ७. आवृत्परः। तै० प्रा० ८।११

८. २।४।७ ९. इतिपरोऽपि। तै० प्रा० ८।१२ १०. २।४।७

परे रहते रेफ हो जाता है[१]। यथा—अहाः। जातवेदा इति जात-वेदाः। (प० पा०) अहार्जातवेदाः[२] (सं० पा०)। अहः। देवानाम्। आसीत्। (प० पा०) अहर्देवानामासीत्[३] (सं० पा०)। सुवः। देवान्। अगन्म। (प० पा०) सुवर्देवाँ अगन्म[४] (सं० पा०)। इन उदाहरणों में अहाः, अहः तथा सुवः का विसर्जनीय रेफ हो गया है।

विसर्जनीय के रेफ होने का निषेध—

(१) रेफ परे रहते विसर्जनीय रेफ नहीं होता है[५]। यथा—सुवः। रोहाव। (प० पा०) सुवो रोहाव[६] (सं० पा०)—यहाँ बाद में रेफ होने से पदान्त विसर्जनीय का रेफ नहीं हुआ है। (र्) घोषवत् व्यञ्जन बाद में होने के कारण ८।६ से रेफ की प्राप्ति थी। प्रस्तुत नियम से उसका निषेध हो गया है।

(२) भिः अथवा भ्याम् परे रहते अहः का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है[७]। यथा—उत्तरैरित्युत्-तरैः। अहोभिरित्यहः-भिः। (प० पा०) उत्तरैरहोभिः[८] (सं० पा०)। शम्। अहोभ्यामित्यहः-भ्याम्। (प० पा०) शमहोभ्याम्[९] (सं० पा०)। ८।१३ से यहाँ रेफ की प्राप्ति थी। प्रस्तुत नियम से उसका निषेध होकर भिः, भ्याम् पर रहते अहः के विसर्जनीय का रेफ नहीं हुआ है।

(३) सभी आचार्यों का मत है कि अँहः का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है[१०]। यहाँ पर सभी आचार्य से तात्पर्य यह है कि कतिपय आचार्य अँहः में अनुस्वार को अभीष्ट मानते हैं तथा कतिपय आचार्य अभीष्ट नहीं मानते हैं—इन सभी आचार्यों का यह मत है कि अँहः पद का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है।

---

१. अहारहस्सुवरनिङ्ग्यान्तः। तै० प्रा० ८।१३

प्रस्तुत नियम पर सोमयार्य का कथन है कि प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त अहाः पद के विसर्जनीय को ८।८ से रेफ की प्राप्ति हो जाती है। पुनः यहाँ (८।१३ में) उसका ग्रहण यह बतलाने के लिए किया गया है कि सावग्रह पद के अन्त में स्थित होने पर अहाः का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है।—द्रष्टव्य, ८।१३ पर त्रि० भा०।

२. ३।२।५ ३. १।५।९ ४. १।७।९

५. न रेफपरः। तै० प्रा० ८।७ ६. १।७।८

७. न भिर्भ्याम्परः। तै० प्रा० ८।१४ ८. ७।५।१ ९. ६।३।९

१०. अँहश्च सर्वेषाम्। तै० प्रा० ८।१५ ११. २।२।७

यथा—अꣳहः । इन्द्रम् । एव । अꣳहोमुचमित्यꣳहः-मुचम् । (प० पा०) अꣳह इन्द्रमेवाꣳहोमुचम्[१] (सं० पा०) । ८।१३ से यहाँ रेफ की प्राप्ति थी । प्रस्तुत नियम से उसका निषेध हो गया है ।

## विसर्जनीय का षकार एवं सकार होना—

(१) अकार से भिन्न स्वर पूर्व में होने पर अवग्रह (सावग्रह पद के पूर्व पद अर्थात् समस्त पद के पूर्वपद) के अन्त में वर्तमान विसर्जनीय क्, ख् अथवा प् परे रहते षकार हो जाता है तथा अकार पूर्व में होने पर सकार हो जाता है[२] । यथा—अथो इति । हविष्कृतानामिति हविः-कृतानाम् । ( प० पा० ) अथो हविष्कृतानाम्[३] (सं० पा०) । ग्रसितम् । निष्खिदतीति निः-खिदति । (प० पा०) ग्रसितं निष्खिदति[४] (सं०पा०) । बहिष्पवमान इति बहिः-पवमानः । उपसद्य इत्युपसद्यः । (प० पा०) बहिष्पवमान उपसद्यः[५] (सं० पा०) । नमस्कारैरिति नमः-कारैः । एव । एनम् । (प० पा०) नमस्कारैरेवैनम्[६] (सं० पा०)—इन स्थलों में अकार से भिन्न स्वर (इकार) पूर्व में होने तथा क्, ख्, प् बाद में होने पर विसर्जनीय षकार हो गया है और अकार पूर्व में तथा क् बाद में होने पर विसर्जनीय सकार हो गया है ।

(२) आविः, निः, इडः, शश्वतः, अपसः, देवरिषः, अꣳहसः, अतिदिवः, त्रिश्वतः, अश्मनः तथा तपसः—इन पदों का विसर्जनीय क्, ख् या प् बाद में होने पर षकार अथवा सकार हो जाता है[७] । यथा—आविः । कृणुष्व । (प० पा०) आविष्कृणुष्व[८] (सं० पा०) । घृतम् । निरिति । पिबति । (प० पा०) घृतं निष्पिबति[९] (सं० पा०) । इडः । पदे । समिति । इध्यसे । (प० पा०) इडस्पदे समिध्यसे[१०] (सं०पा०) । शश्वतः । कः । हस्ते । (प०पा०) शश्वतस्कहस्ते[११] (सं० पा०) । अपसः । पारे । अस्य । (प० पा०) अपसस्पारे अस्य[१२] (सं० पा०) । उरोः । एति । नः । देव । रिषः । पाहि । (प० पा०) उरोरानो देव रिषस्पाहि[१३] (सं० पा०) । अꣳहसः । पातु । (प० पा०) अꣳहसस्पातु[१४]

---

१. २।२।७ २. कखपकारपरः षमकारपूर्वः समवग्रहः । तै० प्रा० ८।२३

३. ६।४।३ ४. ६।१।८ ५. ६।४।९ ६. ५।५।७

७. आविर्निरिडः शश्वतोऽपसोदेवरिषोऽꣳहसोऽतिदिवोविश्वतोऽश्मनस्तमसः । तै० प्रा० ८।२४ ८. १।२।१४ ९. २।३।११

१०. २।६।११ ११. २।२।१२ १२. ३।२।११

१३. १।४।४५ १४. ३।२।४

( सं० पा० )। अतीति। दिवः। पाहि। ( प० पा० ) अति दिवस्पाहि[१] ( सं० पा० )। विश्वतः। परीति। हवामहे। ( प० पा० ) विश्वतस्परि हवामहे[२] (सं० पा०)। त्वम्। अश्मनः। परि। (प० पा०) त्वमश्मनस्परि[३] ( सं० पा० ) । उदिति। वयम्। तमसः। परीति। ( प० पा० ) उद्वयं तमसस्परि[४] (सं० पा०)।—यहाँ क्, प् परे रहते पूर्ववर्ती आविः आदि का विसर्जनीय षकार और सकार हो गया है।

(३) कृधि, पिन्वः तथा पथे पद बाद में होने पर विसर्जनीय सकार हो जाता है[५]। यथा— उरु। नः। कृधि। ( प० पा० ) उरुणस्कृधि[६] ( सं० पा० )। अपः। पिन्वः। (प० पा०) अपस्पिन्वः[७] ( सं० पा० )। सप्रथा इति स-प्रथा। नमः। पथे। (प० पा०) सप्रथा नमस्पथे[८] (सं० पा०)—इन स्थलों में क्रमशः कृधि आदि परे रहते पदान्त विसर्जनीय सकार हो गया है।

अपवाद—कृधि आदि के बाद में स्, क्र अथवा घ् होने पर विसर्जनीय स् या ष् नहीं होता है[९]। प्रस्तुत नियम में पूर्व सूत्र से केवल कृधि का ही ग्रहण होता है क्योंकि संहिता में पिन्व तथा पथे बाद में होने का उदाहरण नहीं मिलता है। उदाहरण—आमनस इत्या-मनसः। कृधि। स्वाहा। (प० पा०) आमनसः कृधि स्वाहा[१०] ( सं० पा० )। शम्। च। नः। कृधि। क्रत्वे। दक्षाय। ( प० पा० ) शं च नः कृधि। क्रत्वे दक्षाय[११] (सं० पा०)। उरु। क्षयाय। नः। कृधि। घृतम्। ( प० पा० ) उरु क्षयाय नः कृधि। घृतं[१२] (सं० पा०)—इनमें क्रमशः स्, क्र, तथा घ् परे रहते विसर्जनीय का सकार नहीं हुआ है।

(४) पत्नी वे, पती, पते, पतये, पतिः तथा पतिम्-पद बाद में स्थित होने पर विसर्जनीय ष् अथवा स् हो जाता है[१३]। यथा—प्रेति। एतु। ब्रह्मणः। पत्नी। वेदिम्। (प० पा०) प्रेतु ब्रह्मणस्पत्नी वेदिम्[१४] (सं० पा०)। वास्तोः।

---

१. १।८।१४ २. १।६।१२ ३. ४।१।१२

४. ४।१।७ ५. कृधिपिन्वपथेपरः। तै० प्रा० ८।२५

६. २।६।११ ७. ४।३।४ ८. ४।७।१३

९. न सक्रघकारपरे। तै० प्रा० ८।२६

१०. २।३।९ ११. ३।३।११ १२. १।३।४

१३. पत्नीवेपतीपतेपतयेपतिष्पतिम्परः। तै० प्रा० ८।२७ १४. ३।५।६

पते। (प० पा०) वास्तोष्पते[1] (सं० पा०)। वाचः। पतये। पवस्व। (प० पा०) वाचस्पतये पवस्व[2] (सं० पा०)। वाचः। पतिः। वाचम्। अद्य। (प० पा०) वाचस्पतिर्वाचमद्य[3] (सं० पा०)। वाचः। पतिम्। विश्वकर्माणमिति विश्व-कर्माणम्। (प०पा०) वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्[4] (सं० पा०)। यहाँ पत्नी वे इत्यादि परे रहते विसर्जनीय का स् तथा ष् हो गया है।

(५) दिवः तथा सहसः का विसर्जनीय परि अथवा पुत् परे रहते सकार को प्राप्त करता है[5]। यथा—दिवः। परीति। प्रथमम्। (प० पा०) दिवस्परि प्रथमं[6] (सं० पा०)। दिवः। पुत्राय। सूर्याय। (प० पा०) दिवस्पुत्राय सूर्याय[7] (सं० पा०)। सहसः। पुत्रः। अद्भुतः। (प० पा०) सहसस्पुत्रो अद्भुतः[8] (सं० पा०)।

(६) पो परे रहते रायः पद का विसर्जनीय सकार हो जाता है[9]। यथा—पशवः। वै। रायस्पोषरिति रायः-पोषः। (प० पा०) पशवो वै रायस्पोषः[10] (सं० पा०)—यहाँ पो परे रहते विसर्जनीय सकार हो गया है।

(७) करो बाद में रहते नमः का विसर्जनीय सकार हो जाता है[11]। यथा—संवत्सरेणेति संवत्सरेण। नमः। करोमि। (प०पा०) संवत्सरेण नमस्करोमि[12] (सं० पा०)। नमः का विसर्जनीय सकार हो गया है क्योंकि पूर्व में करो है।

(८) ककार परे रहते वसुः का विसर्जनीय षकार हो जाता है[13]। यथा—सः। इधानः। वसुः। कविः। (प० पा०) स इधानो वसुष्कविः[14] (सं० पा०) ककार बाद में होने से वसुः का विसर्जनीय षकार हो गया है।

(९) रासः अथवा सप्ते से युक्त अग्नि शब्द, निः, विदुः, मीढ्, पायुभिः, वे, सुमति, माकि, ईयु, आयुः, आभिः, सधिः तथा नकिः का विसर्जनीय तकार बाद में होने पर सर्वत्र षकार हो जाता है[15]। यथा—अविदुष्टरास इत्यविदुः-तरासः। अग्निः। तत्। (प० पा०) अविदुष्टरासः। अग्निष्टत्[16]

---

१. ३।४।१०　　२. ११८।१२　　३. ११७।७　　४. ४।६।१२

५. दिवः सहसस्परिपुत्परः। तै० प्रा० ८।२८　　६. ११३।१४

७. ११२।९　　८. ४।१।९　　९. रायस्पोपरः। तै० प्रा० ८।२९

१०. ११७।९　　११. नमस्करोपरः। तै० प्रा० ८।३०　　१२. ५।५।७

१३. वसुष्ककारपरः। तै० प्रा० ८।३१　　१४. ४।४।४

१५. रासः सप्तेऽग्निर्निर्विदुर्मीढुः पायुभिर्वेः सुमतिर्माकिरीयुरायुराभिः सधिर्नकिस्तकारपरो नित्यम्। तै० प्रा० ६।५　　१६. ३।१।४

( सं० पा० )। मेध्यः । च । सप्ते । अग्निः । त्वा । ( प० पा० ) मेध्यश्च सप्ते । अग्निष्ट्वा[1] ( सं० पा० )। निरिति । तपामि । गोष्ठमिति गो-स्थम् । (प० पा० ) निष्टपामि गोष्ठम्[2] ( सं० पा० )। विदुष्टरमिति विदुः—तरम् । सपेम । (प० पा०) विदुष्टरं सपेम[3] ( सं० पा० )। अविदुष्टरासः इत्यविदुः—तरासः । (प० पा०) अविदुष्टरासः[4] ( सं० पा० ),। मीढुष्टमेति मीढुः-तम । शिवतमेति शिव-तम । (प० पा०) मीढुष्टम शिवतम[5] ( सं० पा० )। पायुभिरिति पायु-भिः । त्वम् । शिवेभिः । ( प० पा० ) पायुभिष्ट्वं शिवेभिः[6] ( सं० पा० )। शोचे । वेः । त्वम् । हि । यज्वा । (प० पा०) शोचे वेष्ट्वं हि यज्वा[7] ( सं० पा० )। सुमतिरिति सु-मतिः । ते । अस्तु । (प० पा०) सुमतिष्टे अस्तु[8] ( सं० पा० )। माकिः । ते । व्याधिः । एति । दधर्षीत् । ( प० पा० ) माकिष्टे व्याधिरा दधर्षीत्[9] ( सं० पा० )। ईयुः । ते । ये । पूर्वतरामिति पूर्व-तराम् । ( प० पा० ) ईयुष्टे ये पूर्वतराम्[10] ( सं० पा० )। आयुः । ते । आयुर्दा इत्यायुः-दाः । (प० पा०) आयुष्ट आयुर्दा[11] (सं० पा०)। आभिः । ते । अद्य । (प० पा०) आभिष्टे अद्य[12] (सं० पा०)। अप्स्वित्यप्-सु । अग्ने । सधिः । तव । ( प० पा० ) अप्स्वग्ने सधिष्टव[13] ( सं० पा० )। नकिः । तम् । घ्नन्ति । (प० पा०) नकिष्टं घ्नन्ति[14] ( सं० पा० )। तकार बाद में होने से अग्निः आदि का विसर्जनीय षकार हो गया है।

## षकार तथा सकार होने का निषेध (अपवाद)--

(१) अध्वरं विश्वतः, अन्तः, जातः, विविशुः, परुः और पुनः का विसर्जनीय सकार अथवा षकार नहीं होता है[15]। यथा—अग्ने । यम् । यज्ञम् । अध्वरम् । विश्वतः । परिभूरिति परिभूः । असि । (प० पा०) अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि[16] ( सं० पा० )। महादेवमिति महा-देवम् । अन्तः पार्श्वेनेत्यन्तः-पार्श्वेन । (प० पा०) महादेवमन्तः पार्श्वेन[17] (सं० पा० । भूतस्य । जातः । पतिः । (प० पा०) भूतस्य जातः पति[18] (सं० पा०)। याः । आविविशुरित्या-

---

१. ५।१।११ २. १।१।१० ३. २।५।१२ ४. १।१।१४
५. ४।५।१० ६. १४।२४ ७. ४।३।१३ ८. १।८।४५
९. १।२।१४ १०. १।४।३३ ११. २।५।१२ १२. ४।४।४
१३. ४।२।३ १४. २।१।११
१५. नाध्वरंविश्वतोऽन्तर्जातोविविशुः परुः पुनः। तै० प्रा० ८।३२
१६. ४।८।११ १७. १४।३६ १८. ४।२।८

त्रिविशुः। परुः परुरिति परुः-परुः। (प० पा०) या आत्रिविशुः परुः परुः[1]। (सं० पा०)। पुनः पुनरिति पुनः-पुनः। हि। अस्मात्। (प० पा०) पुनः पुनः ह्यस्मात्[2]। (सं०पा०)—इन स्थलों में ८।२४, २३, २७ तथा २३ से सकार एवं षकार की प्राप्ति थी जिसका प्रस्तुत नियम से निषेध हो गया हैं।

(२) ध् अथवा ष् युक्त पद बाद में होने पर विसर्जनीय षकार नहीं होता है[3]। यथा—बहिः परिधीति बहिः-परिधि। स्कन्दात्। (प० पा०) बहिः परिधि स्कन्दात्[4]। (सं० पा०)। पुरुषः पुरुषः इति पुरुषः-पुरुषः। निधनमिति नि-धनम्। (प० पा०) पुरुषः पुरुषः निधनम्[5] (सं० पा०)। इनमें विसर्जनीय सकार अथवा षकार नहीं हुआ है। यह नियम ८।२३ का अपवाद है।

(३) परिवा अथवा प्र परे रहते विसर्जनीय षकार अथवा सकार नहीं होता है[6]। यथा -दिवः। परीति। वाजेषु। (प० पा०) दिवः परि वाजेषु[7] (सं० पा०)। तस्मात्। इतः प्रदानमितीतः-प्रदानम्। देवाः। (प० पा०) तस्मादितः प्रदानं देवाः[8] (सं० पा०)। यहाँ परि वा तथा प्र बाद में होने से विसर्जनीय षकार अथवा सकार नहीं हुआ। प्रस्तुत नियम ८।२८ तथा ८।२३ का अपवाद है।

**विसर्जनीय का ऊष्म-वर्ण होना**—अघोष-वर्ण परे रहते विसर्जनीय उस अघोष के समान स्थान वाला ऊष्म-वर्ण हो जाता है[9]। यथा—यः। कामयेत। (प० पा०) य‿कामयेत[10] (सं० पा०)। अग्निः। च। मे। (प० पा०) अग्निश्च मे[11] (सं० पा०)। उलूकः। शशः। (प० पा०) उलूकशशः (उलूकः शशः[12]) (सं० पा०)। अग्निः। ते। तेजः। (प० पा०) अग्निस्ते तेजो (सं० पा०[13]। यः। पाप्मना। गृहीतः। (प० पा०) य‿पाप्मना गृहीतः (यः पाप्मना गृहीतः[14]) (सं० पा०)—इन उदाहरणों में क्रमशः अघोष वर्ण क्, च्, श्, त् तथा प् बाद में होने से विसर्जनीय अपने समान स्थान वाला ऊष्म-वर्ण (‿क्, श्, श्, स् तथा ‿प्) हो गया है।

---

१. ४।२।६ २. ६।५।१ ३. धषवति। तै० प्रा० ८।३३
४. २।६।६ ५. ६।६।३ ६. परिवाप्रपरः। तै० प्रा० ८।३४
७. ४।२।११ ८. ३।२।९
९. अघोषपरस्तस्य सस्थानमूष्माणम्। तै० प्रा० ९।२ १०. २।१।२
११. ४।७।६ १२. ५।५।१८ १३. १।१।१० १४. २।१।३

ऊष्म-भाव का निषेध—क्ष बाद में होने पर विसर्जनीय अपने समान स्थान वाला ऊष्म-वर्ण नहीं होता है[1]। यथा—मनः । क्षेमे । (प० पा०) मनः क्षेमे[2] (सं० पा०)। यहाँ विसर्जनीय के बाद क्ष् (क् + ष्) है। क्ष् अघोष वर्ण है। अतः ९।२ से यहाँ विसर्जनीय को सस्थानीय ऊष्म होने की प्राप्ति थी जिसका प्रस्तुत नियम निषेध कर देता है।

(२) आग्निवेश्य तथा वाल्मीकि आचार्यों के मतानुसार कवर्ग अथवा पवर्ग परे रहते विसर्जनीय अपने समान स्थान वाला ऊष्म वर्ण नहीं होता है[3]। यथा—यः । कामयेत । (प० पा०) यः कामयेत[4] (सं० पा०)। अग्निः । पशुः । आसीत् । (प० पा०) अग्निः पशुरासीत्[5] (सं० पा०)। इन स्थलों में विसर्जनीय के बाद क्रमशः अघोष वर्ण क् तथा प् हैं। अतः प्रस्तुत आचार्यों के मत से विसर्जनीय का ऊष्म-वर्ण नहीं हुआ है।

(३) कतिपय आचार्यों के मत में ऊष्म-वर्ण परे होने पर ही विसर्जनीय समान स्थान वाले ऊष्म-वर्ण को नहीं प्राप्त करता है[6]। अर्थात् पूर्ववर्ती नियम (९।४) में आचार्यों का जो यह कथन है कि कवर्ग अथवा पवर्ग बाद में होने पर विसर्जनीय ऊष्म-वर्ण नहीं होता, ऐसा नहीं है। अपितु ऊष्म-वर्ण बाद में होने पर ही विसर्जनीय अपने समान स्थान वाले ऊष्म में परिवर्तित नहीं होता है। यथा—आशुः । शिशानः (प० पा०) आशुः शिशानः[7] (सं० पा०)।

(४) प्लाक्षि तथा प्लाक्षायण आचार्यों का मत है कि कवर्ग, पवर्ग तथा ऊष्म वर्ण बाद में होने पर विसर्जनीय समान स्थान वाला ऊष्म नहीं होता है[8]। यथा—यः । कामयेत । (प० पा०) यः कामयेत[9] (सं० पा०)। यः । पाप्मना । (प० पा०) यः पाप्मना[10] (सं० पा०) आशुः । शिशानः । (प० पा०) आशुः शिशानः[11] (सं०पा०)। इन स्थलों में कवर्ग (क्) पवर्ग (प्) तथा ऊष्म-वर्ण (श्) बाद में होने पर विसर्जनीय ऊष्म-वर्ण नहीं हुआ है।

---

१. न क्षपरः । तै० प्रा० ९।३ २. ५।२।१

३. कपवर्गपरश्चाग्निवेश्यवाल्मीक्योः । तै० प्रा० ९।४

४. २।१।२ ५. ५।७।३६

६. ऊष्मपर एवैकेषामाचार्याणाम् । तै० प्रा० ९।५ ७. ४।६।४

८. न प्लाक्षिप्लाक्षायणयोः तै० प्रा० ९।६

९. २।१।२ १०. २।१।३ ११. ४।६।४

## नति-सन्धि ( मूर्धन्यभाव )

समीपवर्ती ध्वनि के प्रभाव से दन्त्य वर्ण के स्थान पर मूर्धन्य-वर्ण हो जाने को नति-सन्धि (मूर्धन्यभाव-सन्धि) कहते हैं[1]। तै० प्रा० के सम्पूर्ण छठें, सातवें तथा तेरहवें अध्याय के कतिपय सूत्रों में मूर्धन्यभाव-सन्धि-विषयक नियम विहित हैं। तै० प्रा० में नति-संधि संज्ञा का व्यवहार नहीं किया गया है[2]। इस सन्धि के अन्तर्गत सकार, नकार, तकार, थकार, तथा ळकार का क्रमशः षकार, णकार, टकार, ठकार, तथा डकार, हो जाना विहित है।

**सकार का मूर्धन्य भाव**—(१) अवग्रह ( सावग्रह पद का पूर्व-पद ) पूर्व में है जिसके वह (अवग्रहपूर्व) सकार षकार हो जाता है[3]। स्वानासो दिवि, आपो हि, अयमु, कमु, ऊ, मो, प्रो, त्री, महि, द्यवि तथा पदि पद पूर्व में स्थित हो तो अवग्रह (सावग्रह पद का पूर्व पद) पूर्व में है जिसके ऐसे सकार का मूर्धन्यभाव अर्थात् षकार हो जाता है[4]। यथा—उत। स्वानासः। दिवि। सन्तु। (प० पा०) उत स्वानासो दिवि षन्तु[5] (सं० पा०)। आपः। हि। स्थ। मयोभुव इति मयो-भुवः। (प० पा०) आपो हिष्ठा मयोभुवः[6] (सं० पा०)। अयम्। उ। स्यः। प्रेति। देवयुरिति देव-युः। (प० पा०) अयमु ष्यः प्र देवयु[7]

---

१. मूर्धन्य-भाव से सम्बन्धित नियमों के सन्दर्भ में प्रातिशाख्य-ग्रन्थ एकमत नहीं हैं। ऋ० प्रा०, तै० प्रा० तथा वा० प्रा० में सकार और तवर्ग ( त्, थ्, न् ) के मूर्धन्यभाव का प्रतिपादन किया गया है जब कि च० अ० में केवल सकार का मूर्धन्यभाव बतलाया गया है।

२. तै० प्रा० में केवल मूर्धन्यभाव-सन्धि के नियमों का विधान किया गया है। ऋ० प्रा० ५।६१ तथा वा० प्रा० १।४२ के अनुसार, दन्त्य वर्ण का मूर्धन्य हो जाना नति कहलाता है। नति शब्द का अर्थ है झुकना। उच्चारण में सुविधा की दृष्टि से पूर्व वर्ण के प्रभाव से दन्त्य वर्ण मूर्धन्य-वर्ण की ओर झुक जाता है। अर्थात् दन्त्य के स्थान पर मूर्धन्य-वर्ण हो जाता है। इस मूर्धन्यभाव को ही नति कहा गया है। दन्त्य वर्ण के उच्चारण में सक्रिय उच्चारणावयव-जिह्वा-सीधी रहती है लेकिन मूर्धन्य-वर्ण का उच्चारण करते समय उसे मोड़कर पीछे की ओर झुका दिया जाता है।

३. अथ षकारं सकारविसर्जनीयौ। तै० प्रा० ६।१

४. स्वानासोदिव्यापोह्ययमुकमूमोप्रोत्रीमहिद्यविपद्यवग्रहपूर्वः। तै० प्रा० ६।२

५. १।२।१४ ६. ४।१।५ ७. ३।५।११

(सं० पा०)। कम्। उ। स्वित्। अस्य। सेनया। (प० पा०) कमु ष्विदस्य सेनया[१] (सं० पा०)। उ। स्विति। नः। ऊतये। (प० पा०) ऊ षु ण ऊतये[२] (सं० पा०)। मो इति। स्विति। नः। इन्द्र। (प० पा०) मो षु ण इन्द्र[३] (सं० पा०)। प्रो इति। स्विति। अस्मै। (प० पा०) प्रो ष्वस्मै[४] (सं० पा०)। त्री। सधस्थेति सध-स्था। (प० पा०) त्री षधस्था[५] (सं० पा०)। महि। सत्। द्युमदिति द्यु-मत्। नमः। (प० पा०) महि षद्द्युमन्नमः[६] (सं० पा०)। ये। उपेति। द्यवि। स्थ। (प० पा०) ये उप द्यवि ष्ठ[७] (सं० पा०)। पदि। सिताम्। (प० पा०) पदि षिताम्[८] (सं० पा०)।

(२) अवग्रहपूर्व असदाम तथा असिञ्चन् का सकार षकार हो जाता है[९]। यथा—येन। कामेन। न्यषदामेति नि-असदाम। इति। (प० पा०) येन कामेन न्यषदामेति[१०] (सं० पा०)। मित्रावरुणाविति मित्रा-वरुणौ। अभ्यषिञ्चन्नित्यभि-असिञ्चन्। (प० पा०) मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्[११] (सं० पा०)।

(३) पद-पाठ में सर्वानुदात्त पद में वर्तमान सकार उपसर्ग[१२] अथवा निः पूर्व में रहने पर षकार हो जाता है[१३]। यथा—अश्मन्। ऊर्जम्। इति। परीति। सिञ्चति। (प० पा०) अश्मन्नूर्जमिति परिषिञ्चति[१४] (सं० पा०)। इमम्। वीति। स्यामि। (प० पा०) इमं विष्यामि[१५] (सं० पा०)। साम्राज्येनेति साम्-राज्येन। अभीति। सिञ्चामि। (प० पा०) साम्राज्येनाभिषिञ्चामि[१६] (सं० पा०)। निरिति। स्तनिहि। दुरितेति दुः-इता। (प० पा०) निष्टनिहि दुरिता[१७] (सं० पा०)।

(४) धि पूर्व में होने पर सव तथा स्थानम् का सकार षत्व निषेध को नहीं प्राप्त करता है[१८]। अर्थात् धि पूर्व में स्थित होने पर सव तथा स्थानम् पद में

---

१. २।६।११ २. ४।१।४ ३. १।८।३ ४. १।७।१३
५. २।४।११ ६. ३।२।८ ७. २।४।१४ ८. ४।७।१५
९. असदामासिञ्चँश्च। तै० प्रा० ६।३
१०. ७।५।२ ११. १।८।११
१२. तै० प्रा० में कुल उपसर्ग दस हैं—आ, प्र, अव, उप, अभि, अधि, प्रति, परि, वि तथा नि। आप्रावोपाभ्यधिप्रतिपरिविनीत्युपसर्गाः। तै० प्रा० १।१५
१३. उपसर्गनिष्पूर्वोऽनुदात्ते पदे। तै० प्रा० ६।४ १४. ५।४।४
१५. १।१।१० १६. १।७।१० १७. ४।६।६
१८. न धिपूर्वे। तै० प्रा० ६।११

वर्तमान सकार षकार हो जाता है। यथा—अधिषवणमित्यधिसवनम्। असि। (प० पा०) अधिषवणमसि[1] (सं० पा०)। अधिषवणे इत्यधि-सवने। जिह्वा। (प० पा०) अधिषवणे जिह्वा[2] (सं० पा०)। अधिष्ठानमित्यधिस्थानम्। आरम्भणमित्या-रम्भणम्। (प० पा०) अधिष्ठानमारम्भणम्[3] (सं० पा०)।
(५) स्वर, स्पर्द्धा, स्तरीम, साहस्त्र, सारथि, स्फुरन्ती और स्तुप् का सकार षत्व निषेध को नहीं प्राप्त करता है और ज्योतिः आयुः तथा चतुः पद पूर्व में रहने पर स्तो का सकार षत्व निषेध को नहीं प्राप्त करता है अर्थात् इनका सकार षकार हो जाता है[4]। यथा—अम्ब। नीति। स्वर। (प० पा०) अम्ब निष्वर[5] (सं० पा०)। विष्पर्धा इति वि-स्पर्धाः। छन्दः। (प० पा०) विष्पर्द्धाश्छन्दः[6] (सं० पा०)। सुष्टरीमेति सु-स्तरीम। जुषाणा। (प० पा०) सुष्टरीमा जुषाणा[7] (सं० पा०)। द्विषाहस्त्रम् इति द्वि-साहस्त्रम्। चिन्वीत। (प० पा०) द्विषाहस्त्रं चिन्वीत[8] (सं० पा०)। कामयते। सुषारथिरिति सु-सारथिः। (प० पा०) कामयते सुषारथिः[9] (सं० पा०)। विष्फुरन्तीति वि-स्फुरन्ती। अमित्रान्। (प० पा०) विष्फुरन्ती अमित्रान्[10] (सं० पा०)। सष्टुबिति स-स्तुप्। छन्दः। (प० पा०) सष्टुप् छन्दः[11] (सं० पा०)। ज्योतिष्टोममिति ज्योतिः-स्तोमम्। प्रथमम्। (प० पा०) ज्योतिष्टोमं प्रथमम्[12] (सं० पा०)। आयुष्टोममित्यायुः-स्तोमम्। तृतीयम्। उपेति। यन्ति। (प० पा०) आयुष्टोमंतृतीयमुपयन्ति[13] (सं० पा०)। चतुष्टोम इति चतुः-स्तोमः। अभवत्। (प० पा०) चतुष्टोमो अभवत्[14]। (सं० पा०) उपर्युक्त स्थलों में ६।७-८ से निषेध की प्राप्ति थी। प्रस्तुत नियम से निषेध की निवृत्ति हो गयी है तथा उन पदों में वर्तमान सकार षकार हो गया है।

सकार के मूर्धन्यभाव का निषेध—(१) अवर्ण तथा व्यञ्जन पूर्व में होने पर सकार षकार को नहीं प्राप्त करता है और शकुनि, पत्नी, ऋतु, मृत्यु, मलिम्लु तथा बृहस्पति पद पूर्व में होने पर सकार षकार नहीं होता है[15]।

---

१. १।१।५ २. ६।२।११ ३. ४।६।२

४. न स्वरस्पर्द्धास्तरीमसाहस्त्रसारथिस्फुरन्तीस्तुब्ज्योतिरायुः चतुः पूर्वस्स्तो। तै० प्रा० ६।१३ ५. १।४।१ ६. ४।३।१२ ७. ५।१।११

८. ५।६।८ ९. ४।६।६ १०. ४।६।६ ११. ४।३।१२

१२. ७।४।१० १३. ७।४।११ १४. ४।३।११

१५. अवर्णव्यञ्जनशकुनिपत्न्यृतुमृत्युमलिम्लुबृहस्पतिपूर्वः। तै० प्रा० ६।७

यथा—अन्तरिक्षसदित्यन्तरिक्ष-सत्। (प० पा०) अन्तरिक्षसत्[1] (सं० पा०)। एति। सिञ्चस्व। (प० पा०) आ सिञ्चस्व[2] (सं० पा०)। ऋक्सामे इत्यृक्-सामे। वा। (प० पा०) ऋक्सामे वां[3] (सं० पा०)। शकुनिसादेनेति शकुनि-सादेन। रथम्। (प० पा०) शकुनिसादेन रथम्[4] (सं० पा०)। पत्नीसंयाजा इति पत्नी-संयाजाः। ऋचम्। (प० पा०) पत्नीसंयाजा ऋचम्[5] (सं० पा०)। ऋतुस्था इत्यृतु-स्थाः। तस्य। (प० पा०) ऋतुस्थास्तस्य[6] (सं० पा०)। मृत्युसंयुत इति मृत्यु-संयुतः। इव। (प० पा०) मृत्युसंयुत इव[7] (सं० पा०)। न। एनम्। मलिम्लुसेनेति मलिम्लुसेना। विन्दति। (प० पा०) नैनं मलिम्लुसेना विन्दति[8] (सं० पा०)। बृहस्पतिसुतस्येति बृहस्पति-सुतस्य। ते। (प० पा०) बृहस्पतिसुतस्य ते[9] (सं० पा०)। इन स्थलों में ६।२ तथा ६।४ से षत्व को प्राप्ति थी जिसका प्रस्तुत नियम से निषेध हो गया है।

(२) ऋकार तथा रेफ से समन्वित पदों में वर्तमान सकार षकार नहीं होता है[10]। यथा—वीति। सृजते। शान्त्यै। (प० पा०) वि सृजते शान्त्यै[11] (सं० पा०)। तस्मात्। सः। विस्रस्य इति वि-स्रस्यः। (प० पा०) तस्मात्स विस्रस्यः[12] (सं० पा०)। इन स्थलों में क्रमशः ६।४ तथा ६।२ से षत्व की प्राप्ति थी जिसका प्रस्तुत नियम से निषेध हो गया है।

(३) उपसर्ग पूर्व में स्थित होने पर अवग्रहस्थ सकार षकार नहीं होता है[13]। यथा—तस्याम्। देवाः। अधीति। संवसन्त इति सं-वसन्तः। (प० पा०) तस्यां देवा अधि संवसन्तः[14] (सं० पा०)। यज्ञानाम्। अभीति। संविदाने इति सं-विदाने। (प० पा०) यज्ञानामभि संविदाने[15] (सं० पा०)—इन स्थलों में ६।४ से षत्व की प्राप्ति थी जिसका प्रस्तुत नियम से निषेध हो गया है।

---

१. १।८।१५ २. १।४।१९
३. ६।१।१३ ४. ५।७।१४ ५. २।६।१० ६. ५।७।६
७. १।५।९ ८. ६।३।१२ ९. १।४।२७
१२. ६।२।९ १०. ऋकाररेफवति। तै० प्रा० ६।८
११. १।७।६ १३. अवग्रहः। तै० प्रा० ६।९
१४. ३।५।१ १५. ५।२।११

(४) सव और स्थानम् का सकार षकार नहीं होता है[१]। भाष्यकारों का कथन है कि प्रस्तुत सूत्र में सव इस पदैकदेश का ग्रहण सव के अन्य रूपों में आने वाले (यथा-सवनम्, सवने, सवनानि) पदों के लिये भी किया गया है। उदाहरण—अग्निसव इत्यग्नि-सवः। चित्यः। (प० पा०) अग्निसवश्चित्य[२] (सं० पा०)। अनुसवनमित्यनु-सवनम्। पुरोडाशान्। (प० पा०) अनुसवनं पुरोडाशान्[३] (सं० पा०)। गच्छ। गोस्थानमिति गो-स्थानम्। (प० पा०) गच्छ गोस्थानम्[४] (सं० पा०)।

(५) सन्तानेभ्यः, सप्ताभिः, सम्मितां, स्तनां, सीतं, स्पशः, सक्, सनि, सनिः, सनीः, सभेयः, सत्वा तथा सस्यायै पदों का सकार षकार नहीं होता है[५]। यहाँ पर भी सक् इस पदैकदेश का ग्रहण अनेक पदों की प्राप्ति के लिए है। यथा—परिसन्तानेभ्य इति परि-सन्तानेभ्यः। स्वाहा। (प० पा०) परिसन्तानेभ्यः स्वाहा[६] (सं० पा०)। त्रिसप्ताभिरिति त्रि-सप्ताभिः। पशुकामस्येति पशु-कामस्य। (प० पा०) त्रिसप्ताभिः पशुकामस्य[७] (सं० पा०)। वेदिसंमितामिति वेदि- संमिताम्। मिनोति (प०पा०) वेदिसम्मितां मिनोति[८] (सं०पा०)। द्विस्तनामिति द्वि-स्तनाम्। करोति। (प० पा०) द्विस्तनां करोति[९] (सं० पा०)। अनुसीतमित्यनु-सीतम्। वपति। (प० पा०) अनुसीतं वपति[१०] (सं० पा०)। तनूपा इति तनू-पाः। नः। प्रतिस्पश इति प्रति-स्पशः। (प० पा०) तनूपा नः प्रतिस्पशः[११] (सं० पा०)। पश्चात्। पृश्निसक्था इति पृश्नि-सक्थाः। त्रयः। हैमन्तिकाः। (प० पा०) पृश्निसक्था-स्त्रयो हैमन्तिकाः[१२] (सं० पा०)। पृश्निसक्थायेति पृश्नि-सक्थाय। स्वाहा। (प० पा०) पृश्निसक्थाय स्वाहा[१३] (सं० पा०)। तस्मात्। एतत्। गोसनीति गो-सनि। (प० पा०) तस्मादेतद्गोसनि[१४] (सं० पा०)। असि। स्तनयित्नु-सनिरिति स्तनयित्नु-सनिः। (प० पा०) असि स्तनयित्नुसनिः[१५] (सं० पा०)। वृष्टिसनीरिति वृष्टि-सनीः। उपेति। दधाति। (प० पा०) वृष्टिसनीरुप-

---

१. सवस्थानम्। तै० प्रा० ६।१०　　२. ५।६।२　　३. ६।५।११
४. १।१।९　　५. सन्तानेभ्यः सप्ताभिः सम्मितां स्तनां सीतं स्पशः सक्-सनि सनिस्सनीस्सभेयः सत्वा सस्यायै। तै० प्रा० ६।१२
६. ७।४।२१　　७. ५।२।६　　८. ५।६।८　　९. ५।१।६
१०. ५।२।५　　११. ५।७।३　　१२. ५।६।२३
१३. ७।३।१८　　१४. ७।५।२　　१५. ४।४।६

दधाति[1] ( सं० पा० ) । सुसभेय इति सु-सभेयः । यः । एवम् । ( प० पा० ) सुसभेयो य एवम्[2] ( सं० पा० ) । अभिसत्वेत्यभि-सत्वा । सहोजा इति सहः-जाः । ( प० पा० ) अभिसत्वा सहोजाः[3] ( सं० पा० ) । सुसस्याया इति सु-सस्यायै । सुपिप्पलाभ्य इति सु-पिप्पलाभ्यः । त्वा । ओषधीभ्य इत्योषधी-भ्यः । (प० पा०) सुसस्यायै सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः[4] (सं० पा०) । इनमें सकार का षकार नहीं हुआ है । प्रस्तुत नियम ६।२ का अपवाद है ।

**नकार का मूर्धन्यभाव**—तै० प्रा० में विहित णत्व के सन्धि-नियमों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(१) निकटवर्ती ध्वनि के प्रभाव से होने वाला मूर्धन्यभाव (२) प्राकृत णकार । सातवें अध्याय के एक से बारह तक के सूत्रों में विहित णत्व परवर्ती अथवा पूर्ववर्ती वर्ण अथवा पद के प्रभाव से होता है तथा तेरहवें अध्याय के छठें से बारहवें सूत्रों और चौदहवें सूत्र अर्थात् कुल आठ सूत्रों में केवल तै० सं० के उन पदों को गिनाया गया है जिनका णकार प्राकृत होता है, किसी वर्ण के प्रभाव से नहीं ।

**समीपवर्ती ध्वनि के प्रभाव से होने वाला णत्व**—(१) एक पद (समान पद) में ऋकार, ॠकार, रेफ तथा षकार पूर्व में होने पर नकार णकार हो जाता है[5] । यथा—त्रिभिर्ऋणवा जायते[6] । त्वं होतॄणाम्[7] । एष वा ऋचो वर्णः[8] । कृष्णोसि[9]—इन उदाहरणों में ऋकार, ॠकार रेफ और षकार पूर्व में होने से नकार णकार हो गया है ।

(२) अन्य वर्णों से व्यवहित होने पर भी ऋकारादि पूर्व में होने पर नकार णकार हो जाता है[10] । अर्थात् एक पद में ऋकार, ॠकार, रेफ तथा षकार के बाद में कोई दूसरा वर्ण हो उसके बाद नकार हो तब भी वह नकार णकार हो जाता है । यथा—अपरशुवृक्णं दहति[11] । आरमणं कुरुते[12] । अधिषवणे[13] । कृषमाणः प्रतिष्ठाकामो[14] । इन स्थलों में ऋकार रेफ तथा षकार पूर्व में रहते अन्य वर्ण का व्यवधान होने पर भी नकार का णकार हुआ है ।

---

१. ५।३।१ २. ७।१।८ ३. ४।६।४ ४. १।२।२

५. ऋकारर्कारिरषपूर्वो नकारो णकारं समानपदे । तै० प्रा० १३।६

६. ६।३।१० ७. ४।३।१३ ८. ६।१।३ ९. १।१।११

१०. व्यवेतोऽपि । तै० प्रा० १३।७ ११. ५।१।१० १२. ६।५।११

१३. ४।७।८ १४. ३।४।३

प्राकृत णकार—णत्व का विधान करने वाले उपर्युक्त दो सामान्य नियमों के अतिरिक्त तै० प्रा० के सातवें अध्याय के बारह सूत्रों में तै० सं० के ऐसे पदों को उद्धृत किया गया है जिनके प्रभाव से नकार णकार हो जाता है तथा ऐसे पदों को भी उद्धृत किया गया है जिनका नकार णकार हो जाता है।

(१) हिरण्मय पद का नकार णकार हो जाता है[1]। यथा—हिरण्मयं दाम दक्षिणा[2]।

(२) पाणि, गण, पुण्य, कण्व, काण, गाण, वाण, वेणु, गुण तथा मणि इत्यादि प्रवादों में पूर्ववर्ती (प्रथम) णकार प्राकृत णकार है[3]। जैसे-सुपाणिस्स्वङ्गुरिः[4]। गणानां त्वा गणपतिम्[5]। पुण्यो भवति वसन्तमृतूनाम्[6]। कण्वा अभि प्रगायत[7]। तस्यै काणो यार्[8]। गाणपत्यान्मयोभूरेहि[9]। विशल्यो बाणवाँ उत[10]। वेणुर्वैणवी भवति[11]। यथा गुणे गुणम्[12]। मणिना रूपाणि[13]।

(३) पणि, पर्णि, वीयमाणः और ऊण्योः उद्धरणों में णकार प्राकृत होता है[14]। जैसे—अग्ने देव पणिभिः[15]। पर्णि गोषु स्तरामहे[16]। पणिभिर्वीयमाणः[15]। ऊण्योः कविक्रतुम्[17]। यहाँ पणि और पणिम् दोनों पदों का ग्रहण 'यद्ध स्या ते पनीयसी[18]' में णत्वनिवृत्ति के लिये हुआ है[19]।

(४) टवर्गपर नकार को प्राकृत जानना चाहिए[20]। जैसे—शुण्ठो दक्षिणा[21]। पिण्डान् प्र यच्छति[22]।

---

१. हिरण्मयम्। तै० प्रा० १३।८      २. २।४।१३

३. पाणिगणपुण्यकण्वकाणगाणवाणवेणुगुणमणिप्रवादेषु पूर्वः। तै० प्रा० १३।९
प्रवाद शब्द की व्याख्या करते हुए माहिषेय तथा त्रिभाष्यरत्न भाष्यों में कहा गया है—प्रकर्ष से कहा गया—लिङ्ग, विभक्ति समास तथा तद्धित आदि से निर्दिष्ट भेद प्रवाद कहलाता है।

४. ३।१।११    ५. २।३।१४    ६. १।६।११    ७. ४।३।१३

८. २।५।१    ९. ४।१।२    १०. ४।५।१    ११. ५।१।१

१२. ७।२।४    १३. ७।३।१४

१४. पणिपर्णिवीयमाणऊण्योः। तै० प्रा० १३।१०

१५. १।१।१३    १६. २।६।११    १७. १।२।६    १८. ४।४।४

१९. उभयग्रहणं यद्ध स्या ते पनीयसी इत्यादौ णत्वनिवृत्त्यर्थम्। तै० प्रा० १३।१० पर वै० भा०।    २०. टवर्गपरः। तै० प्रा० १३।११

२१. १।८।१७    २२. २।३।८

(५) चङ्कुण, फणत्, स्थूणौ, हिणुयात्, हिणोति, कौणेयः, अणिष्ठाः, उल्वणम्, उगणाश्रुतिः, चुपुणीका, वाणिजाय, अणवश्च, आट्णारः, स्थाणुं, तूणवे, वीणायां, अश्लोणया, पणेत, वाणीः, कल्याणी, कुणपं, वाणश्शत, शोणाश्रुतिः, घाणिका, और मेणो पदों का णकार प्राकृत होता है[१]। जैसे—अवभृथ निचङ्कुण[२]। अन्वापनीफणत्[३]। अयस्स्थूणावुदितौ[४]। भ्रातृव्याय प्र हिणुयात्[५]। एवास्मैं प्र हिणोति[६]। रजनो वै कौणेयः[७]। येऽणिष्ठास्तान्[८]। यज्ञ उल्वणं क्रियते[९]। जहाँ जहाँ उगणा की श्रुति होती है सर्वत्र अर्थात् अपदात्मक भी उगणा का णकार प्राकृत रहता है—आव्याधिनीरुगणा उत[१०]। चुपुणीका नामासि[११]। वाणिजाय कक्षाणां पतये।[१२] प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे[१३]। एतं वै पर आट्णारः[१४]। यस्स्थाणुं हन्ति[१५]। या तूणवे[१६]। या वीणायाम्।[१७] अश्लोणयाऽसप्तशफया[१८]। पणेता गोअर्घम्[१९]। इन्द्रं वाणीरनूषत[२०]। कल्याणी रूपसमृद्धा[२१]। पुरुषकुणपमश्वकुणपम्[२२]। वाणश्शततन्तुर्भवति[२३]। शोणा धृष्णू[२४]। निजल्गुलीति घाणिका[२५]। वनस्पतीनामेणी[२६]।

(६) वृषण्, शीर्षण, ब्रह्मण्, अक्षण्, चर्मण् और चर्षण् पदों में अवग्रहस्थ णकार प्राकृत होता है[२७]। जैसे— वातो अपां वृषण्वान्[२८]। शीर्षण्वान् मेध्यो भवति[२९]। ब्रह्मण्वन्तो देवाः[३०]। अक्षण्वते स्वाहा[३१]। चर्मण्वते स्वाहा[३१]।

(७) पदों के एकदेश ऋण्ण्, षण्ण्, ढण्, स्ण् और राव्ण्ण् युक्त पदों में णकार

१. चङ्कुणफणत् ... ... .... घाणिकामेणी। तै० प्रा० १३।१२
२. १।४।४५ ३. १।७।८ ४. १।८।१२
५. २।२।६ ६. २।२।६ ७. २।३।८
८. २।५।५ ९. ३।४।३ १०. ४।१।१०
११. ४।४।५ १२. ४।५।२ १३. ४।७।४
१४. ५।२।५ १५. ७।३।१ १६. ६।१।४
१७. ६।१।४ १८. ६।१।६ १९. ६।१।१० २०. १।६।१२
२१. ७।१।६ २२. ७।२।१० २३. ७।५।९
२४. ७।४।२० २५. ७।४।१९ २६. ५।५।१५
२७. अवग्रहो वृषण्छीर्षण्ब्रह्मण्णक्षण्चर्मण्चर्षण्। तै० प्रा० १३।१३
२८. २।१।११ २९. ७।५।२५ ३०. ६।४।१० ३१. ७।५।१२

प्राकृत होता है[१]। जैसे—स्वयमातृण्णामुप[२]। अभिषण्णो यस्मात्[३]। पूष्णो रꣳह्या अपाम्[४]। अर्यम्णे चरुम्[५]। दधिक्रावृण्णः[६]।

नकार के मूर्धन्यभाव का निषेध—(१) तकार परे रहते नकार णत्व को नहीं प्राप्त करता है[७]। यथा—परीति। अन्तरिक्षात्। (प० पा०) पर्यन्तरिक्षात्[८] (सं० पा०)। यहाँ ७।४-५ से परि पूर्व में होने पर तथा अवर्ण से व्यवहित होने से णत्व की प्राप्ति थी किन्तु न् के बाद त् होने से प्रस्तुत नियम से णत्व का निषेध हो गया है।

(२) नह्यति, नूनम्, नृत्यन्ति, अन्यः, अन्याभिः तथा अन्यानि पदों में स्थित नकार तथा पद के अन्त में स्थित नकार णकार नहीं होता है[९]। यथा—वाससा। पर्यानह्यतीति परि-आनह्यति। (प० पा०) वाससा पर्यानह्यति[१०] (सं० पा०)। प्रेति। नूनम्। पूर्णवन्धुर इति पूर्ण-वन्धुरः। (प० पा०) प्र नूनं पूर्णवन्धुरः[११] (सं० पा०)। परीति। नृत्यन्ति। पदः। निघ्नतीति निघ्नतीः। (प० पा०) परि नृत्यन्ति पदो निघ्नतीः[१२] (सं० पा०)। प्रेति। अन्यः। शंसति। (प० पा०) प्रान्यः शंसति[१३] (सं०पा०)। प्रेति। अन्याभिः। यच्छति। (प० पा०) प्रान्याभिर्यच्छति[१४] (सं० पा०)। प्रेति। अन्यानि। पात्राणि। (प० पा०) प्रान्यानि पात्राणि[१५] (सं० पा०)। इन स्थलों में ७।४ तथा ७।७ से प्राप्त णत्व का प्रस्तुत नियम से निषेध हो गया है। वृत्रह्न्निति वृत्र-हन्। शूर। विद्वान्। (प० पा०) वृत्रहञ्छूर विद्वान्[१६] (सं० पा०) यहाँ रेफ पूर्व में होने से ७।११ से णत्व की प्राप्ति थी। प्रस्तुत नियम से उसका निषेध हो गया है।

(३) (क) सुषुम्नः, अग्निः तथा युष्मानीतः का नकार णकार नहीं होता है[१७]। यथा—सुषुम्न इति सु-सुम्नः। सूर्यरश्मिरिति सूर्य-रश्मिः। (प० पा०)

---

१. ऋण्णषण्णण्णरुण्णरावृण्ण चेतिप्राकृताः। तै० प्रा० १३।१४
२. ५।२।८ ३. २।४।२ ४. १।३।१०
५. २।३।४ ६. १।५।११
७. न तकारपरः। तै० प्रा० ७।१५ ८. ३।१।१०
९. नह्यतिनूनंनृत्यन्त्यन्योऽन्याभिरन्यान्यन्तश्च। तै० प्रा० ७।१६
१०. ६।१।११ ११. ३।८।५ १२. ७।५।१० १३. ७।५।१९
१४. ५।१।१६ १५. ६।५।११ १६. १।४।४२
१७. न सुषुम्नोऽग्नियुष्मानीतः ......... । तै० प्रा० १३।१५

सुषुम्नः सूर्यरश्मिः[1] (सं० पा०)। इन्द्राग्निभ्यामितीन्द्राग्नि-भ्याम्। (प० पा०) इन्द्राग्निभ्यां[2] (सं० पा०)। युष्मानीतः। अभयम्। (प० पा०) युष्मानीतो अभयम्[3] (सं० पा०)।

(ख) पदान्त नकार णत्व को नहीं प्राप्त करता है[4]। यथा—पितॄन्। हविषे। अत्तवे। (प० पा०) पितॄन्हविषे अत्तवे[5] (सं० पा०)—१३।६ से यहाँ णत्व की प्राप्ति थी।

(ग) सन्धि के फलस्वरूप अकार का लोप होने पर उसके बाद में स्थित नकार णकार नहीं होता है[6]। यथा—वृत्रघ्न इति वृत्र-घ्ने। इन्द्राय। त्वा। (प०पा०) वृत्रघ्न इन्द्राय त्वा[7] (सं० पा०)। यहाँ पूर्ववर्ती अकार का लोप होने से नकार णकार नहीं हुआ है।

(घ) स्पर्श वर्ण से पूर्व में स्थित नकार णकार नहीं होता है[8]। यथा—संक्रन्दन इति सं-क्रन्दनः। अनिमिष इत्यनिमिषः। (प० पा०) संक्रन्दनोऽनिमिषः[9] (सं० पा०)। अवेति। रुन्धे। तार्प्यम्। (प० पा०) अवरुन्धे तार्प्यं[10] (सं० पा०)—इन स्थलों पर नकार के बाद स्पर्श वर्ण द् तथा ध् है। अतः नकार णकार नहीं हुआ है।

(ङ) श्, स् चवर्ग, टवर्ग तथा तवर्ग से व्यवहित नकार णकार नहीं होता है[11]। यथा—रशनाम्। आ (इति)। दत्ते। (प० पा०) रशनामा दत्ते[12] (सं०पा०)। अग्ने। रसेन। (प० पा०) अग्ने रसेन[13] (सं० पा०)। रोचन्ते। रोचना। दिवि। (प० पा०) रोचन्ते रोचना दिवि[14] (सं० पा०)। सोमम्। राजानम्। (प०पा०) सोमं राजानम्[15]। (सं०पा०)। प्रक्रीडिन इति प्र-क्रीडिनः। पयोधा इति पयः-धाः। (प० पा०) प्रक्रीडिनः पयोधाः[16] (सं० पा०)। पृतनाः। जयामि। (प० पा०) पृतना जयामि[17] (सं० पा०)।

---

१. ३।४।७ २. ४।४।५ ३. २।१।११
४. न ... ... अन्तः। तै० प्रा० १३।१५ ५. २।६।१२
६. न... अलोपात् ...। तै० प्रा० १३।१५ ७. १।४।१
८. न .. .. स्पर्शपरोः। तै० प्रा० १३।१५
९. ४।६।४ १०. २।४।११
११. व्यवायेषु शसचटतवर्गीयेषु। तै० प्रा० १३।१५
१२. ६।३।६ १३. १।४।४६ १४. ७।४।२०
१५. १।७।१० १६. ४।३।१३ १७. ३।५।३

जनप्रथनायेति जन-प्रथनाय । ( प० पा० ) जन प्रथनाय[1] (सं० पा०)—स्पर्श श्, स्, चवर्ग, टवर्ग तथा तवर्ग परे रहते नकार णकार नहीं हुआ है। यह १३.६ का अपवाद है।

तकार का मूर्धन्यभाव—वाघा तथा ष पूर्व में होने पर तकार टकार हो जाता है[2]। यथा—दार्वाघाट इति दारु-आघातः। ते। (प० पा०) दार्वाघाटस्ते (सं० पा०)। आयुः। ते। आयुर्दा इत्यायुः-दाः। ( प० पा० ) आयुष्ट आयुर्दाः (सं० पा०)।

थकार का मूर्धन्यभाव—ष पूर्व में होने पर थ् भी ठ् हो जाता है[3]। यथा—गोष्ठमिति गो-स्थम्। मा। ( प० पा० ) गोष्ठं मा[4] ( सं० पा० )—प्रस्तुत उदाहरण में ६।२ से अवग्रह (गो) पूर्व में होने पर स्थम् का सकार षकार हुआ है तदनन्तर प्रस्तुत विधान के अनुसार षकार से परवर्ती थकार ठकार हो गया है।

ळकार का मूर्धन्यभाव—ळकार के मूर्धन्यभाव को बताने के लिये तै० प्रा० में पौष्करसादि आचार्य के मत को सूत्रकार ने अभीष्ट स्वीकार किया है। पौष्करसादि आचार्य के मत से पृक्त स्वर (ऋकार) से परवर्ती ळकार डकार हो जाता है[5]। यथा—मृळ (मृड)। आ (इति)। (प० पा०) मृडा[6] (सं० पा०)। मृळाति (मृडाति)। ईदृशे। (प० पा०) मृडातीदृशे[7] (सं० पा०)।

## नासिक्य-सन्धि

तै० प्रा० के पन्द्रहवें तथा सोलहवें अध्यायों में नासिक्य-सन्धि विषयक नियम विहित हैं। प्रातिशाख्यों में अनुस्वार को शुद्ध नासिक्य-वर्ण माना गया है। अतः तै० प्रा० में विहित अनुस्वारागम सम्बन्धी नियमों का यहाँ नासिक्य-सन्धि के अन्तर्गत ग्रहण किया गया है। तै० प्रा० के सोलहवें अध्याय में ( सांहितिक ) पदों के मध्य में स्थित अनुस्वार का आगम के रूप में विधान करके वर्ण-संहिता के अन्तर्गत उसका प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार तै० प्रा० के अनुसार पदों के मध्य में स्थित अनुस्वार सन्धि का ही परिणाम है। अन्य प्रातिशाख्यों

---

१. ३।२।८ २. वाघाषपूर्वस्तष्टम्। तै० प्रा० ७।१३
३. थश्च ठम्। तै० प्रा० ७।१४ ४. १।१।१०
५. पृक्तस्वरात्परो ळो डं पौष्करसादेः। तै० प्रा० १३।१६
६. ४।५।१० ७. १।१।१४

में जहाँ सन्धि के फलस्वरूप पूर्ववर्ती स्वरों के अनुनासिकत्व का विधान किया गया है वहाँ तै० प्रा० में अनुस्वार का आगम के रूप में विधान किया गया है।

तै० प्रा० में नासिक्य-सन्धि से सम्बन्धित नियम अधोलिखित हैं—

(१) नकार का रेफ, ऊष्म अथवा यकार होने पर उस यकार का लोप होने पर अथवा मकार का लोप होने पर उस नकार अथवा मकार से पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है[1]। यथा—अग्नीन्। अप्सुषद इत्यप्सु-सदः। (प० पा०) अग्नीँरप्सुषदः[2] (सं०पा०)—यहाँ ६।२० से नकार रेफ हो गया है। और प्रस्तुत नियम से पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो गया है। कर्णान्। च। अकर्णान्। च। (प० पा०) कर्णाँश्चाकर्णाँश्च[3] (सं० पा०)—यहाँ ५।२० से चकार परे रहते कर्णान् का नकार शकार (ऊष्म) हो गया है। पुनः नकार से पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो गया है। त्रीन्। तृचान्। (प०पा०) त्रीँस्तृचान्[4] (सं० पा०)–इस उदाहरण में ६।१४ से नकार सकार हो गया है। पुनः प्रस्तुत नियम से पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो गया है। महान्। इन्द्रः। (प० पा०) महाँइन्द्रः[5] (सं० पा०)—यहाँ ९।२० से नकार यकार हो गया है। १०।१९ से उस यकार का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो गया है। प्रत्युष्टमिति प्रति-उष्टम्। रक्षः। (प० पा०) प्रत्युष्टँरक्षः[6] (सं० पा०)—यहाँ १३।१-२ से मकार का लोप हो गया है। पुनः प्रस्तुत नियम से पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो गया है।

कतिपय आचार्यों के मतानुसार पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक नहीं होता है, अपितु उस (पूर्ववर्ती स्वर) से बाद में अनुस्वार का आगम होता है[7]। यथा—सः। त्रीन्। एकादशान्। (प० पा०) स त्रीँरेकादशा[8] (सं० पा०)।

---

१. नकारस्य रेफोष्मयकारभावाल्लुप्ते च मलोपाच्च पूर्वस्वरोऽनुनासिकः।
तै० प्रा० १५।१ २. १।८।९ ३. १।८।९ ४. २।५।१०

तै० प्रा० ९।१०, ५।२०, ६।१४, १०।१९ तथा १३।१-२ आदि सूत्रों में नकार के रेफ, ऊष्म, यकार, यलोप तथा मलोप का प्रतिपादन किया गया है। इन सन्धियों में नकार तथा मकार से पूर्ववर्ती स्वर अनुनासिक हो जाता है।

५. १।४।२० ६. १।१।२

७. नैकेषाम्। ततस्त्वनुस्वारः। तै० प्रा० १५।२-३ ८. ३।२।११

यहाँ ९।२० से नकार रेफ हो गया है। तत्पश्चात् प्रस्तुत नियम से पूर्ववर्ती स्वर ( ई ) से बाद में अनुस्वार का आगम हुआ है। संहिता में सर्वत्र अनुस्वार ही प्राप्त होता है अनुनासिक नहीं।

(२) कतिपय आचार्यों के अनुसार अप्रग्रह[1] समानाक्षर अनुनासिक हो जाते हैं[2]। यथा—कुलायिनी। वसुमतीति वसु-मती। ( प० पा० ) कुलायिनी ँ वसुमती ँ (कुलायिनी वसुमती)[3] सं० पा०)।

शाङ्खायन तथा काण्डमायन आचार्यों के मतानुसार पदान्त प्लुत स्वर भी पद-पाठ में अनुनासिक हो जाता है[4]। यथा—त्वी ँ ३ ( त्वी३ ) इति। अब्रवीत्। ( प० पा० ) त्वी३ इत्यब्रवीत्[5] ( सं० पा० )। किन्तु प्लुत पदान्त अकार तो संहिता पाठ में भी अनुनासिक होता है[6]। यथा—सुश्लोका ँ ३ इति सु-श्लोका ँ ३। सुमङ्गला ँ ३ इति सु-मङ्गला ँ ३। ( प० पा० ) सुश्लोका ँ ३ सुमङ्गला ँ ३[7] (सं० पा०)।

(३) स्र आदि[8] में भी एक (अखण्ड) पद में स्थित ऊष्म वर्ण बाद में होने पर स्रादि के बाद अनुस्वार का आगम होता है[9]। यथा—शां ँ सा। मोदः। इव। ( प० पा० ) शां ँ सामोद इव[10] ( सं० पा० )। प्रस्तुत स्थल में एक पद में शां ( स्रादि ) से बाद में ऊष्म-वर्ण सकार है, अतः इस विधान के

---

१. चतुर्थ अध्याय में जिन समानाक्षरों को प्रग्रह संज्ञा विहित है उनसे व्यतिरिक्त समानाक्षरों के लिए यहाँ अप्रग्रह संज्ञा का प्रयोग किया गया है।

२. अप्रग्रहाः समानाक्षराण्यनुनासिकान्येकेषाम्। तै० प्रा० १५।६

३. ४।३।४ ४. पदश्च प्लुतं शाङ्खायनकाण्डमायनयोः। तै० प्रा० १५।७

५. २।४।१२ ६. अकारस्तु संहितायामपि। तै० प्रा० १५।८

७. १।८।१६

८. तै० प्रा० के सोलहवें अध्याय में स्र से प्रारम्भ करके उन सभी पदों का उल्लेख हुआ है जिनमें तै० सं० में अनुस्वार उपलब्ध होता है। इनके अतिरिक्त केवल वहीं अनुस्वार उपलब्ध होता है जहाँ १५।१-३ से अनुस्वार का विधान किया गया हैं। इस प्रकार प्रस्तुत नियम ( १५।४ ) सोलहवें अध्याय के विस्तृत वर्णन के प्रति एक प्रकार की प्रस्तावना है तथा सोलहवें अध्याय के विधान में कतिपय सामान्य प्रतिबन्धों ( सीमा-निर्धारण ) का विधान करता है।

९. स्रादिषु चैकपद ऊष्मपरः। तै० प्रा० १५।४ १०. ३।२।९

अनुसार अनुस्वार का आगम हो गया है। यहाँ एक पद का तात्पर्य है एक अखण्ड पद। अर्थात् स्रादि तथा ऊष्म-वर्ण एक ऐसे पद में स्थित होने चाहिए जो एक होने के साथ-साथ खण्डरहित (अविभक्त) हो। यथा - त्रिषाहस्र इति त्रि-साहस्रः। वँ। (प० पा०) त्रिषाहस्रो वँ[1] (सं० पा०)—यहाँ १६।२४ में उक्त त्रि पद के बाद में ऊष्म वर्ण (स) हैं। त्रि तथा ऊष्मवर्ण दोनों एक पद में विद्यमान हैं किन्तु यहाँ अनुस्वार का आगम नहीं हुआ है क्योंकि त्रिषाहस्रः एक पद (अविभक्त) नहीं है अपितु सखण्ड (सावग्रह) पद है।

(४) पदादि में वर्तमान स्र, शो, ह, पा तथा श के बाद में स् हो और सकार के बाद में स्वर हो तो स्र आदि को अनुस्वार का आगम होता है[2]। यथा — विस्रँसयेदिति वि-स्रँसयेत्। अहमेन। अध्वर्युः। (प० पा०) विस्रँसयेदहमेनाध्वर्युः[3] (सं० पा०)। शोँसा। मोदः। इव। (प० पा०) शोँसा मोद इव[4] (सं० पा०)। हँसः। शुचिषदिति शुचि-सत्। (प० पा०) हँसः शुचिषत्[5] (सं० पा०)। पाँसुरे। इरावती इतीरावती। (प० पा०) पाँसुर इरावती[6] (सं० पा०)। यत्। आसीनः। शँसति। (प० पा०) यदासीनः शँसति[7]। (सं० पा०)। इनमें स्र आदि पदादि हैं तथा इनके बाद में सकार और सकार के बाद में स्वर वर्ण है। अतः प्रस्तुत नियम से अनुस्वार का आगम हो गया है।

यदि पद के आदि में स्थित स्र, शो, ह, पा, श के बाद सकार हो और सकार से परे सन्धिवश विकार को प्राप्त स्वर हो तो भी स्र आदि को अनुस्वार का आगम होता है[8]। यथा —अपहँसीत्यप-हँसि। अग्ने। (प० पा०) अपहँस्यग्ने[9] (सं० पा०)—यहाँ ह के बाद विकृत स्वर (इ) है अतः ह के बाद अनुस्वार का आगम हो गया है।

(५) रा पूर्व में होने पर भी अनुस्वार का आगम होता है[10]। यथा —नारा-

---

१. ५।६।८ २. अथ सकारपराः। स्रशोहपाशपदादयः स्वरपरे। तै० प्रा० १६।१-२ ३. ६।२।९ ४. ३।२।६ ५. १।८।१५ ६. १।२।१३ ७. ३।२।९ ८. विकृतेऽपि। तै० प्रा० १६।३ ९. ८।७।१३

१०. रापूर्वश्च। तै० प्रा० १६।४। प्रस्तुत सूत्र में प्रयुक्त चकार के द्वारा स्रादि में से केवल शकार का अन्वादेश होता है। इसीलिये वहाँ (१६।२ में)

शँसीभ्यः[1] (सं० पा०)। रा पूर्व में होने से शकार को अनुस्वार का आगम हुआ है।

(६) अन्तोदात्त न होने पर शँस्ता—इस पद में अनुस्वार का आगम होता है[2]। यथा—उत। शँस्ता। सुविप्र इति सु-विप्रः। (प० पा०) उत शँस्ता सुविप्रः[3] (सं०पा०)-यहाँ अन्तोदात्त न होने से शँस्ता में अनुस्वार का आगम हुआ है। शँस्ता पद में सकार के बाद स्वर नहीं है अतः अनुस्वार का आगम नहीं होना चाहिए था क्योंकि १६।२ के अनुसार स्र, शो आदि के बाद सकार होना चाहिए और उस सकार के बाद में स्वर होना चाहिए तभी अनुस्वार का आगम होता है। किन्तु प्रस्तुत नियम के द्वारा शँस्ता पद में विशेषतः अनुस्वारागम का विधान किया गया है।

(७) अशँसन् पद में भी अनुस्वार का आगम होता है[4]। यथा—अभि। वीति। अशँसन्। (प० पा०) अभिव्यशँसन्[5] (सं० पा०)। अशँसन् में शकार पदादि नहीं है। अतः १६।२ से अनुस्वारागम न हो सकने से प्रस्तुत विशेष विधान के द्वारा अनुस्वारागम हुआ है।

(८) पदादि तथा अनुदात्त मा को अनुस्वार का आगम होता है[6]। यहाँ पर पदादि में स्थित तथा अनुदात्त मा के पश्चात् सकार होने पर ही अनुस्वारागम विहित है। यथा—अहः। माँसेन। (प० पा०) अहर्माँसेन[7] (सं० पा०), माँसार्चन्याः। (प० पा०) माँस्पचन्याः[8] (सं०पा०)—इन स्थलों में पदादि तथा अनुदात्त मा को अनुस्वार का आगम हुआ है।

(९) पु अथवा मी पूर्व में होने पर मा नित्य अनुस्वारागम को प्राप्त करता है[9]।

---

स्वर से व्यवहित होने पर भी शकार का ग्रहण अन्त में किया गया है। अ, आ आदि स्वरों का क्रम है। अकारान्त पदों का ग्रहण पहले होना चाहिए अतः १६।२ में ह के बाद श का ग्रहण होना चाहिए था किन्तु स्वरों के क्रम को भङ्ग करके सूत्रकार ने श को अन्त में रखा है। उसका उद्देश्य १६।४ में शकार का अन्वादेश करना है।

१. ७।५।११ २. शँस्तानन्तोदात्ते। तै०प्रा० १६।५ ३. ४।६।८
४. अशँसन्। तै० प्रा० १६।६ ५. ६।६।११
६. मा पदादिरनुदात्तः। तै० प्रा० १६।८ ७. ५।७।२०
८. ६।४।९ ९. पुमीपूर्वश्च नित्यम्। तै० प्रा० १६।९

चाहे मा अनुदात्त हो या न हो। यथा—उदिति। पुमाँसम्। हरन्ति। (प० पा०) उत्पुमाँसंहरन्ति[1] (सं० पा०)। मीमाँसन्ते। कार्ये। (प० पा०) मीमाँसन्ते कार्ये[2] (सं० पा०)—इन स्थलों में मा के बाद अनुस्वार का आगम हुआ है।

(१०) सकाय परे होने पर भी मा को अनुस्वार का आगम होता है[3]। यथा—अमाँसकाय। स्वाहा। (प० पा०) अमाँसकाय स्वाहा[4] (सं० पा०)।

(११) पदान्त सि अथवा षि परे होने पर आ, ई तथा ऊ के बाद अनुस्वार का आगम होता है[5]। यथा—वयाँसि। पक्वगन्धेनेति पक्व-गन्धेन। (प० पा०) वयाँसि पक्वगन्धेन[6] (सं०पा०)। तमाँसि। गूहताम्। (प०पा०) तमाँसि गूहताम्[7] (सं० पा०)। ज्योतिँषि। कुरुते। (प० पा०) ज्योतिँषि कुरुते[8] (सं०पा०)। अग्ने। आयूँषि। (प०पा०) अग्न आयूँषि[9] (सं०पा०)। इन स्थलों में सि अथवा षि परे रहते आ, ई तथा ऊ को अनुस्वार का आगम हुआ है।

(१२) सि अथवा षि विकृत होने पर (अर्थात् सन्धि के फलस्वरूप सि और षि का इकार यकार हो जाय तब) भी आ, ई और ऊ को अनुस्वार का आगम होता है[10]। यथा—छन्दाँसि। उपेति। दधाति। (प०पा०) छन्दाँस्युप दधाति[11] (सं० पा०)। हवीँषि। आ (इति)। सादयेत्। (प० पा०) हवीँष्या सादयेत्[12] (सं० पा०)। तपूँषि। अग्ने। (प० पा०) तपूँष्यग्ने[13] (सं० पा०)—इन स्थलों में सि तथा षि का इकार १०।१५ से यकार हो गया है। अतः सि और षि के विकारयुक्त होने पर भी यहाँ अनुस्वार का आगम हुआ है।

**अनुस्वारागम का निषेध**—(१) पदान्त विकारभूत ऊष्म वर्ण से पूर्व में अनुस्वार का आगम नहीं होता है[14]। यथा-बहिः। तं। अस्तु। (प० पा०) बहि-

१. ६।५।१०　　२. ६।२।६
३. सकायपरश्च। तै० प्रा० १६।८　　४. ७।५।१२
५. आकारेकारोकाराः सिषिपराः पदान्तयोः। तै० प्रा० १६।१४
६. ५।७।१३　　७. १।८।२२　　८. ५।४।१
९. १।३।१४　　१०. विकृतेऽपि। तै० प्रा० १६।१५
११. ५।३।८　　१२. १।६।१०　　१३. १।२।१४
१४. नान्तविकारात्पूर्वः। तै० प्रा० १५।५

स्ते अस्तु[1] (सं० पा०)। यहाँ एक (अखण्ड) पद में हि के बाद सकार स्थित है। अतः १६।१३ से सकार के पूर्व अनुस्वार होना चाहिए था। किन्तु ९।२ से बहिस्ते पद में विद्यमान सकार पद के अन्त में स्थित विसर्जनीय का विकार है। अतः प्रस्तुत नियम से अनुस्वार के आगम का निषेध हो गया है।

(२) शसनं तथा विशसनेन पदों में अनुस्वार का आगम नहीं होता है[2]। यथा-शसनम्। वाजी। अर्वा। (प० पा०) शसनं वाज्यर्वा[3] (सं०पा०)। शुनः। विशसनेनेति वि-शसनेन। (प० पा०) शुनो विशसनेन[4] (सं० पा०)—इन स्थलों में १६।२ से सकार परे रहते अनुस्वारागम होना चाहिए था किन्तु प्रस्तुत नियम से उसका निषेध हो गया है।

(३) अवग्रह (सावग्रह पद का पूर्व पद) पूर्व में होने पर मा के बाद अनुस्वार का आगम नहीं होता है[5]। यथा-पूर्णमास इति पूर्ण-मासे। वै। (प० पा०) पूर्णमासे वै[6] (सं० पा०)। ११।८ से यहाँ अनुस्वार की प्राप्ति थी किन्त अवग्रह पूर्व में होने के कारण प्रस्तुत नियम से उसका निषेध हो गया है।

(४) मासि, मासु, मासः तथा मासां पदों में अनुस्वार का आगम नहीं होता है[7]। यथा-प्रथमे। मासि। पृष्ठानि। (प०पा०) प्रथमे मासि पृष्ठानि[8] (सं०पा०)। दशस्विति दश-सु। मासु। उत्तिष्ठन्नित्युत्तिष्ठन्। (प० पा०) दशसु मासूत्तिष्ठन्[9] (सं०पा०। षट्। मासः। दक्षिणेन। एति। (प०पा०) षण्मासो दक्षिणेनेति[10] (सं० पा०)। मासाम्। प्रतिष्ठित्या इति प्रति-स्थित्यै। (प० पा०) मासां प्रतिष्ठित्यै[11] (सं० पा०)—इन स्थलों में १६।८ से अनुस्वार की प्राप्ति थी जिसका प्रस्तुत नियम से निषेध हो गया है।

(५) दो स्वर वाले पद में वर्तमान आकार के बाद सि अथवा षि परे होने पर नित्य अनुस्वार का आगम नहीं होता है[12]। यथा—स्तुतः। यासि। (प०पा०) स्तुतो यासि[13] (सं० पा०)। यासि। दूतः। (प० पा०) यासि दूतः[14]

---

१. ३।३।१०  २. न शसनं विशसनेन। तै० प्रा० १६।७
३. ४।६।७  ४. ५।७।२३  ५. नावग्रहपूर्वः। तै० प्रा० १६।११
६. २।५।५  ७. मासिमासु मासो मासामिति च। तै० प्रा० १६।१२
८. ७।५।३  ९. ७।५।२  १०. ६।५।३
११. ७।७।१  १२. न पदे द्विस्वरे नित्यम्। तै० प्रा० १६।१७
१३. १।८।५  १४. ३।५।५

(सं० पा०)—यासि दो स्वरों वाला पद है, अतः सि बाद में होने पर भी आकार के बाद अनुस्वार का आगम नहीं हुआ है। १६।१४ से प्राप्त अनुस्वारागम का प्रस्तुत नियम निषेध कर देता है।

(६) ऋजीषि, जिगासि, जिघासि, अजासि, यजासि, ददासि, दधासि और वर्तयासि पदों में अनुस्वार का आगम नहीं होता है[1]। यथा—तेन। ऋजीषि। सर्वाणि। (प० पा०) तेनर्जीषि सर्वाणि[2] (सं० पा०)। अच्छ। जिगासि। (प० पा०) अच्छा जिगासि[3] (सं०पा०)। प्रथमे जिघासि—यह उदाहरण अन्य शाखा का है। एति। त्वम्। अजासि। गर्भधमिति गर्भ-धम्। (प० पा०) आ त्वमजासि गर्भधम्[4] (सं० पा०)। हविषा। यजासि। अग्ने। बृहत्। (प०पा०) हविषा यजास्यग्ने बृहत्[5] (सं० पा०)। याभिः। ददासि। दाशुषे। (प० पा०) याभिर्ददासि दाशुषे[6] (सं० पा०)। दधासि। दाशुषे। कवे। (प० पा०) दधासि दाशुषे कवे[7] (सं०पा०)। अश्वम्। एति। वर्तयसि। नः। (प० पा०) अश्वमावर्तयासि नः[8] (सं० पा०)—इन स्थलों में सि अथवा षि परे रहते आ तथा ई को १६।१४ से अनुस्वार का आगम होना चाहिए था। प्रस्तुत नियम से उसका निषेध हो गया है।

(७) आद्युदात्त होने पर असौ आ में अनुस्वार का आगम नहीं होता है[9]। यथा—ब्रूयात्। असौ। एतिं (आ इतिं)। इहि। (प०पा०) ब्रूयादसावेहीति[10] (सं० पा०)—यहाँ असौ आ आद्युदात्त है। अतः प्रस्तुत नियम से अनुस्वार का आगम नहीं हुआ है।

## लोप

तै० प्रा० में लोप संज्ञा का विधान करते हुए कहा गया है कि वर्ण का विनाश (न दिखलाई पड़ना) लोप कहलाता है[11]। तात्पर्य यह है कि पद-पाठ में स्थित किसी वर्ण का जब संहितापाठ में उच्चारण नहीं किया जाता है तो वह लोप कहलाता है। तै० प्रा० से अधोलिखित नियमों द्वारा लोप को प्रदर्शित किया गया है—

---

१. ऋजीषि जिगासि०। तै० प्रा० १६।१८
२. ३।२।२ ३. ४।२।४ ४. ७।४।१९ ५. ३।५।११
६. ३।३।११ ७. ४।२।७ ८. ७।४।२०
९. नासावा। तै० प्रा० १६।३१ १०. २।४।९
११. विनाशो लोपः। तै० प्रा० १।५७

(१) ईम् पूर्व में स्थित होने पर मकार लुप्त हो जाता है यदि बाद में मकार हो[1]। यथा—ईम्। मन्द्रासु। प्रयसः। (प० पा०) ई मन्द्रासु प्रयसः[2] (सं० पा०)।

(२) तु, नु पूर्व में होने पर वकार लुप्त हो जाता है, यदि वे (तु अथवा नु) उदात्त हों[3]। यथा—सः। तु। वै। यजेत। (प० पा०) स त्वै यजेत[4] (सं० पा०)। इत्। नु। वै। उपस्तीर्णमित्युप-स्तीर्णम् (प० पा०) इन्न्वा उपस्तीर्णम्[5] (सं० पा०)—उदात्त तु, नु पूर्व में होने पर वकार का लोप हो गया है।

(३) उत् पूर्व में हो तथा व्यञ्जन बाद में हो तो सकार लुप्त हो जाता है[6]। यथा—प्रतीति। उत्तभ्या इत्युत्-स्तभ्यै। सयत्वायेति सय-त्वाय (प० पा) प्रत्युत्तभ्यै सयत्वाय[7] (सं० पा०)। स के पूर्व उत् होने से स् लुप्त हो गया है।

(४) इत्येकम् पद में मकार लुप्त हो जाता है यदि यह अवग्रह हो[8]। तात्पर्य यह है कि इति शब्द से युक्त एकम् के मकार का लोप हो जाता है यदि एकम् समास के पूर्व पद में विद्यमान हो। यथा-इति। एकमेकमित्येकम्-एकम्। तस्य। जुहुयात्। (प० पा०) इत्यैकैकं तस्य जुहुयात्[9] (सं० पा०)—इति शब्द विशिष्ट एकम् का मकार लुप्त हो गया है।

(५) तिष्ठन्ति पद से युक्त एकया का अन्तिम वर्ण अपने पूर्ववर्ती वर्ण के साथ लोप को प्राप्त करता है[10]। यथा—तिष्ठन्ति। एकैकयेत्येकया-एकया। अस्तुतया। समायन्तीति सम्-आयन्ति। (प० पा०) तिष्ठन्त्येकैकया स्तुतया समायन्ति[11] (सं० पा०)—यहाँ तिष्ठन्ति पद पूर्व में है, अतः एकया का अन्तिम वर्ण अ अपने पूर्ववर्ती वर्ण य् के साथ लुप्त हो गया है।

---

१. अथलोपः। ईम्पूर्वो मकारः। तै० प्रा० ५।११-१२
२. ४।१।८ तै० सं० में ईम्पूर्व मकार के लोप का उदाहरण केवल इसी ऋचा (४।१।८) में मिलता है।
३. तुनुपूर्वः उदात्तयोर्वकारः। तै० प्रा० ५।१३
४. २।६।६ ५. १।६।७
६. उत्पूर्वः सकारो व्यञ्जनपरः। तै० प्रा० ५।१४ ७. ६।६।४
८. अवग्रह इत्येकम्। तै० प्रा० ५।१८ ९. ५।१।११
१०. तिष्ठन्त्येकया सपूर्वः। तै० प्रा० ५।१९ ११. ७।५।८

(६) एष्टः, एतन्, एमन्, ओद्मन्, ओष्ठ तथा एव पद परे रहते अवर्ण का लोप हो जाता है[1]। यथा—अशीय। एष्टः। रायः। (प० पा०) अशीयेष्टा रायः[2] (सं० पा०)। शमितारः। उपैतनेत्युप-एतन्। (प० पा०) शमितार उपेतन[3] (सं० पा०)। अपाम्। त्वा। एमन्। सादयामि। (प० पा०) अपां त्वेमन्त्सादयामि[4] (सं० पा०)। अपाम्। त्वा। ओद्मन्। सादयामि। (प० पा०) अपां त्वोद्मन्त्सादयामि[5] (सं० पा०)। स्वाहा। ओष्ठाभ्याम्। (प० पा०) स्वाहोष्ठाभ्याम्[6] (सं० पा०)। उपयाममित्युपयामम्। अधरेण। ओष्ठेन। (प० पा०) उपयाममधरेणोष्ठेन[7] (सं० पा०)। निरिति। अभिमत। एवः। छन्दः। (प० पा०) निरभिमतेवश्छन्दो[8] (सं० पा०)।

(७) (क) अवर्ण पूर्व में होने पर तथा स्वर बाद में होने पर यकार तथा वकार लुप्त हो जाते हैं[9]। यथा—आपः। उन्दन्तु। (प० पा०) आप उन्दन्तु[10] (सं० पा०)। ध्रुवाः। अस्मिन्। गोपताविति गो-पतौ। स्यात्। (प० पा०) ध्रुवा अस्मिन्गोपतौ स्यात्[11] (सं० पा०)। न। विचित्या३ इति वि-चित्या३ः। इति। (प० पा०) न विचित्या३ इति[12] (सं० पा०)। इमे। एव। अस्मै। (प० पा०) इम एवास्मै[13] (सं० पा०)। आसामहै। एव। इमौ। (प० पा०) आसामहा एवेमौ[14] (सं० पा०)—इन स्थलों में अवर्ण पूर्व में है और स्वर बाद में है। अतः य् तथा व् का लोप हो गया है।

(ख) उख्य आचार्य के मत में यकार तथा वकार का लोप नहीं होता है[15]। यथा – आपः। उन्दन्तु। (प० पा०) आप्युन्दन्तु[16] (सं० पा०)।

(ग) सांकृत्य आचार्य के मत में केवल वकार का लोप नहीं होता है[17]। अर्थात् यकार का लोप होता है। यथा - वायो। इष्टये। (प० पा०) वायविष्टये[18] (सं० पा०)। अहो। अनदत। (प० पा०) अहावनदत[19] (सं० पा०)।

---

१. एष्टरेतनेमन्नोद्मन्नोष्ठेवः परो लुप्यते। तै० प्रा० १०।१४
२. १।२।११ ३. ३।१।४ ४. ४।३।१ ५. ४।३।१
६. ७।३।१६ ७. ५।७।१२ ८. ५।३।५
९. लुप्येते त्ववर्णपूर्वौ यवकारौ। तै० प्रा० १०।१९
१०. १।२।१ ११. १।१।१ १२. ६।१।६ १३. २।४।१०
१४. ७।५।२ १५. नोख्यस्य। तै० प्रा० १०।२०
१६. १।२।१ १७. वकारस्तु साङ्कृत्यस्य। तै० प्रा० १०।२१
१८. २।२।१२ १९. ५।६।१

(घ) माचाकीय आचार्य के अनुसार उकार तथा ओंकार परे रहते यकार तथा वकार लुप्त हो जाते हैं[१]। अर्थात् माचाकीय आचार्य के मत में अवर्ण पूर्व में होने पर यकार तथा वकार क्रमशः उकार तथा ओकार बाद में होने पर लुप्त हो जाते हैं। यथा—आपः। उन्दन्तु। (प० पा०) आप उन्दन्तु[२] (सं० पा०)। याः। जाताः। ओषधयः। (प० पा०) या जाता ओषधयः[३] (सं० पा०)।

(ङ) वात्सप्र आचार्य के अनुसार अवर्ण पूर्व में होने पर तथा उकार और ओकार बाद में होने पर यकार और वकार का लेश हो जाता है[४]। लेश का अर्थ है लुप्त के समान उच्चारण। उदाहरण—आपः। उन्दन्तु। (प० पा०) आप उन्दन्तु[५] (सं० पा०)। याः। जाताः। ओषधयः। (प० पा०) या जाता ओषधयः[६] (सं० पा०)—इन स्थलों में अवर्ण पूर्व में है तथा उकार और ओकार बाद में हैं अतः यकार तथा वकार का लुप्त के समान उच्चारण किया जाता है।

(८) रेफ अथवा ऊष्म-वर्ण परे रहते पदान्तीय मकार लुप्त हो जाता है[७]। यथा—प्रत्युष्टम् इति प्रति-उष्टम्। रक्षः। (प०पा०) प्रत्युष्टँ रक्षः[८] (सं०पा०)। सँशितमिति सम्-शितम्। मे। ब्रह्म। (प० पा०) सँशितँ मे ब्रह्म[९] (सं०पा०)। तम्। षड्। अहानि। (प० पा०) तँषडहानि[१०] (सं०पा०)—इन स्थलों में रेफ तथा ऊष्म-वर्ण परे रहते मकार का लोप हो गया है।

(९) कतिपय आचार्यों के मत में यकार अथवा वकार बाद में होने पर भी मकार लुप्त हो जाता है[११]। यथा—त्वम्। यज्ञेषु। ईड्यः। (प० पा०) त्वं यज्ञेष्वीड्यः[१२] (सं० पा०)। तम्। वै। एतम्। यजमानः। (प० पा०) तं वा एतं यजमान[१३] (सं० पा०)—इन स्थलों में य् तथा व् परे रहते मकार लुप्त हो गया है।

---

१. उकारौकारपरौ लुप्येते माचाकीयस्य। तै० प्रा० १०।२२

२. १।२।१ ३. ४।२।६

४. लेशो वात्सप्रस्यैतयोः। तै० प्रा० १०।२३

५. १।२।१ ६. ४।२।६

७. रेफोष्मपरः। तै० प्रा० १३।२

८. १।१।२ ९. ४।१।१० १०. ५।५।२

११. यवकारपरश्चैकेषामाचार्याणाम्। तै० प्रा० १३।३

१२. १।१।१४ १३. ५।६।९

(१०) रा परे रहते सम् तथा साम् के मकार का लोप नहीं होता है[१]। यथा—प्र (इति)। सम्राजमिति सम्-राजम्। (प० पा०) प्र सम्राजं[२] (सं० पा०) साम्राज्यायेति साम्-राज्याय। सुक्रतुः। (प० पा०) साम्राज्याय सुक्रतुः[३] (सं० पा०)—रा परे रहते मकार का लोप नहीं हुआ है।

उपर्युक्त अवर्ण, मकार, यकार, वकार तथा सकार इत्यादि के लोप का विधान करने वाले नियमों के अतिरिक्त कतिपय सूत्रों में विसर्जनीय के लोप का भी विधान किया गया है जो इस प्रकार हैं—

(१) अवर्ण से भिन्न स्वर पूर्व में होने पर तथा रेफ परे होने पर विसर्जनीय लुप्त हो जाता है[४]। यथा—रेवतीः। रमध्वम्। (प० पा०) रेवती रमध्वम्[५] (सं० पा०)—यहाँ अवर्ण से भिन्न स्वर (ईकार) पूर्व में है तथा रेफ बाद में है अतः विसर्जनीय का लोप हो गया है। विसर्जनीय का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर (इ, उ) का दीर्घ हो जाता है[६]।

(२) एष्टः पद में भी विसर्जनीय का लोप होने पर पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है[७]। यथा—एष्टः। रायः। (प० पा०) एष्टा रायः[८] (सं० पा०)।

(३) कतिपय आचार्यों का मत है कि एष्टः के विसर्जनीय का लोप नहीं होता है[९]। अर्थात् रेफ बाद में होने पर भी एष्टः के विसर्जनीय का लोप नहीं होता है और लोप के अभाव में दीर्घत्व नहीं होता है किन्तु घोषवत् वर्ण बाद में होने पर विसर्जनीय अकार के साथ ओ हो जाता है—यथा—एष्टो रायः[१०] (सं०पा०) यह वररुचि का मत है[११]। त्रिभाष्यरत्नकार ने माहिषेय के मत का उल्लेख

---

१. न सम् सामिति रापरः। तै० प्रा० १३।४। यह सूत्र केवल सम्राज तथा साम्राज्य—इन दो पदों पर ही लागू होता है। ऋ० प्रा० ४।२३ वा० प्रा० ४।५ तथा च० अ० २।३६ में भी इसके समान नियम प्रतिपादित हैं।

२. १।६।१२ ३. १।८।१६

४. अनवर्णपूर्वस्तु रेफपरो लुप्यते। तै० प्रा० ८।१६

५. १।३।७ ६. दीर्घश्च पूर्वः। तै० प्रा० ८।१७

७. एष्टश्च। तै० प्रा० ८।१८ ८. १।२।११

९. नैकेषाम्। तै० प्रा० ८।१९ १०. १।२।११

११. एकेषां मते एष्टरिति विसर्जनीयो रेफपरो न लुप्यते। अत एव पूर्वस्वरदीर्घाभावश्च किन्तु घोषवत्परश्च (९।८) इत्योत्वम्। यथा—एष्टो रायः। वररुचिविरचितमेतत्। तै० प्रा० ८।१९ पर त्रि० भा०।

करते हुए कहा है कि माहिषेय के मत से रेफ बाद में होने पर एष्टः का विसर्जनीय रेफ नहीं होता है। दोनों के मत से बने सिद्ध रूप समान हैं[१] अर्थात् एष्टो रायः[3]।

(४) उत्तमोत्तरीय आचार्य के मत में एष्टः का विसर्जनीय तथा परवर्ती रेफ दोनों मिलकर रेफ हो जाते हैं[२]। यथा--एष्टः। रायः। (प० पा०) एष्टरायः[3] (सं० पा०)—यह आचार्य वररुचि का मत है। माहिषेय के मत से द्वावुत्तमोत्तरीय यह किसी का नाम है उनके मत में रेफ बाद में होने पर एष्टः का विसर्जनीय रेफ हो जाता है[४]। यथा – एष्टर् रायः[3]।

(५) साङ्कृत्य आचार्य का मत है कि एष्टः का विसर्जनीय उकार हो जाता है[५]। यथा—एष्टः। रायः। (प० पा०) एष्टो रायः[3] (सं० पा०)–विसर्जनीय का प्रस्तुत नियम से उकार होकर १०।५ से ओ हो गया है।

(६) उख्य आचार्य के अनुसार एष्टः का विसर्जनीय पूर्ववर्ती वर्ण ( अकार ) के सहित उकार हो जाता है[६]। यथा—एष्टः। रायः। ( प० पा० ) एष्टु रायः[3] (सं० पा०)।

(७) काण्डमायन आचार्य के मत में अघोष वर्ण है बाद में जिसके ऐसा ऊष्म वर्ण बाद में होने पर विसर्जनीय का लोप हो जाता है[७]। अर्थात् पदान्त विसर्जनीय के बाद पदादि अघोषपर ऊष्म-वर्ण होने पर पदान्त विसर्जनीय का लोप हो जाता है। यथा – चतुस्तनामिति चतुः-स्तनाम्। करोति। (प० पा०) चतुस्तनां करोति[८] ( सं० पा० )। वायवः। स्थ। उपायव इत्युप-आयवः। स्थ। (प० पा०) वायवस्थोपायव स्थ[९] सं० पा०)।

---

१. माहिषेयभाषितं त्वेतम्। एष्टरिति विसर्जनीयो रेफपरो रेफं नापद्यत इति। सिद्धरूपमुभयोः समानम्। तै० प्रा० ८।१९ पर त्रि० भा०।

२. द्वावुत्तमोत्तरीयस्य रेफम्। तै० प्रा० ८।२० ३. १।२।११

४. माहिषेयोक्तस्तु द्वावुत्तमोत्तरीय इति कस्य चिन्नाम। तन्मत एष्टरिति विसर्जनीयो रेफपरो रेफमापद्यते। तै० प्रा० ८।२० पर त्रि० भा०।

५. साङ्कृत्यस्योकारम्। तै० प्रा० ८।२१

६. उख्यस्य सपूर्वः। तै० प्रा० ८।२२

७. ऊष्मपरोऽघोषपरे लुप्यते काण्डमायनस्य। तै० प्रा० ९।१

८. ५।१।६ ९. १।१।१

प्रस्तुत सूत्र में काण्डमायन के मत का ग्रहण विकल्प के लिये है। अन्य आचार्यों के मतानुसार तो ऊष्म-वर्ण के बाद में घोषवत् वर्ण होने पर भी लोप हो जाता है। यथा— अद्भ्यः इत्यत्-भ्यः। स्वाहा। (प० पा०) अद्भ्य स्वाहा[1] (सं० पा०)—यहाँ ऊष्म-वर्ण के बाद घोषवत् वर्ण है अतः विसर्जनीय लुप्त हो गया है।

(८) अवर्ण ( अ, आ, आ३ ) पूर्व में होने पर तथा घोषवत् वर्ण बाद में होने पर विसर्जनीय का लोप हो जाता है[2]। तात्पर्य यह है कि पदान्त विसर्जनीय से पूर्व में यदि अवर्ण हो तथा पदादि में घोषवत् वर्ण हो तो पदान्त विसर्जनीय का लोप हो जाता है। उदाहरण—देवाः। गातुविद इति गातु-विदः। प०पा०) देवा गातुविदः[3] ( सं० पा० )। विचित्य इति वि-चित्यः। सोमा३ः। न। विचित्या३ इति वि-चित्या३ः। इति। (प० पा०) विचित्यस्सोमा३ न विचित्या३ इति[4] (सं० पा०)। इनमें अवर्णपूर्व विसर्जनीय का लोप हो गया है।

(९) व्यञ्जन परे रहते एषः, सः तथा स्यः का विसर्जनीय लुप्त हो जाता है[5]। यथा—एषः। ते। वायवः। (प० पा०) एष ते वायवः[6] (सं० पा०)। सः। ते। जानाति। (प० पा०) स ते जानाति[7] (सं० पा०)। एषः। स्यः। वाजी। (प० पा०) एष स्य वाजी[8] (सं० पा०)।

(१०) असः पद का विसर्जनीय लोप को नहीं प्राप्त करता है[9]। यथा — हृत्स्वस इति हृत्सु-असः। मयोभूतरिति मयः-भूतः। ( प० पा० ) हृत्स्वसो मयोभूत[10] (सं० पा०)।

यहाँ पर १।५२ (अकार से प्रारम्भ होने वाले को भी पद जानना चाहिए) से असः पद के विसर्जनीय का लोप प्राप्त था किन्तु प्रस्तुत विधान से उसका निषेध हो गया है[11]।

(११) इदु, इदग्ने, इमाम् नः, एना अथवा ओषधीः पद बाद में होने पर सः के विसर्जनीय का लोप हो जाता है[12]। यथा—सः। इत्। अग्ने। उ। होता।

---

१. १।८।३ २. अवर्णपूर्वस्तु लुप्यते। तै० प्रा० ९।९ ३. १।१।१३
४. ६।१।९ ५. एषः सः स्य इति च। तै० प्रा० ५।१५
६. ३।१।२ ७. १।२।१४ ८. १।७।८
१०. नासः। तै० प्रा० ५।१६ ९. ४।२।११
११. इद्विदग्न इमान्नएनौषधीः परः सः। तै० प्रा० ५।१७

(प० पा०) सेदु होता[1] (सं० पा०)। सः। इत्। अग्ने। अस्तु। (प० पा०) सेदग्ने अस्तु[2] (सं० पा०)। सः। इमाम्। नः। हव्यदातिमिति हव्य-दातिम्। (प० पा०) सेमान्नो हव्यदातिं[3] (सं० पा०)। सः। एना। अनीकेन। (प० पा०) सेनानीकेन[4] (सं० पा०)। सः। ओषधीः। अन्विति। रुध्यसे। (प० पा०) सोषधीरनुरुध्यसे[5] (सं० पा०)—इन सभी स्थलों में सः का विसर्जनीय लुप्त हो गया है।

## आगम

दो वर्णों के मध्य में एक अतिरिक्त वर्ण के आ जाने को आगम कहा जाता है[6]। तै० प्रा० में सन्धि-विषयक नियमों के अन्तर्गत आगम के स्थलों का भी निर्देश किया गया है। आगम का विधान तै० प्रा० के बारह सूत्रों (५।४, ५, ६, ७, ८, ३२, ३३, ४०, ४१, १४।९, २१।१२ तथा १४) में किया गया है। विभिन्न वर्णों के आगम से सम्बन्धित नियम इस प्रकार हैं—

ककारागम—ङकार पूर्व में होने पर तथा सकार या षकार बाद में होने पर दोनों के मध्य में ककार का आगम होता है[7]। यथा—प्रत्यङ्। सोमः। अतिद्रुतः इत्यति-द्रुतः। (प० पा०) प्रत्यङ्क्सोमो अतिद्रुतः[8] (सं० पा०)। प्रत्यङ्। षडह इति षट्-अहः। (प० पा०) प्रत्यङ्क्षडहः[9] (सं० पा०)। यहाँ पदान्त ङ् के बाद स् तथा ष् हैं अतः मध्य में ककार का आगम हो गया है[10]। १४।१२ से यह ककार खकार हो जाता है—यथा प्रत्यङ्ख्सोमः। प्रत्यङ्ख्षडहः।

तकारागम—टकार या नकार पूर्व में हो तथा सकार अथवा षकार बाद में हो तो दोनों के मध्य में तकार का आगम होता है[11]। यथा—वषट्। स्वाहा।

---

१. १।१।१४ २. १।२।१४ ३. ४।६।६

४. ४।३।१३ ५. ४।२।३

६. वा० प्रा० ४।१७ पर भाष्यकार उवट ने आगम को व्यवधान माना है—प्रगृह्यसंज्ञकं यत्पदं तच्चर्चायां परभूतायामितिना आगमिकेन व्यवधीयते।

७. ङ्पूर्वः ककारः सषकारपरः। तै० प्रा० ५।३२

८. १।८।२१ ९. ७।४।२

१०. मुद्रित संहिता में यह आगम नहीं दिखलाया गया है।

११. टनकारपूर्वश्च तकारः। तै० प्रा० ५।३३

(प० पा०) वषट् त् स्वाहा[1] (सं० पा०)। विद्वान्। सोमेन। यजेत। (प०पा०) विद्वान्त्सोमेन यजेत[2] (सं० पा०)। अनुयाजावित्यनु-याजौ। षट्। (प० पा०) अनुयाजौ षड्त् षडनुयाजौ षट्[3] (ज० पा०)।

दकार का आगम—नीचा पद पूर्व में होने पर तथा उच्चा पद बाद में होने पर दोनों के मध्य में दकार का आगम होता है[4]। यथा—मध्यात्। नीचा। उच्चा। स्वधयेति स्व-धया। (प० पा०) मध्यान्नीचादुच्चा स्वधया[5] (सं० पा०)।

चतुर्थ स्पर्श का आगम—शैत्यायन आदि आचार्यों के मत से तथा मीमांसकों के मत से प्रथम स्पर्श ( क्, च्, ट्, त्, प् ) तथा हकार के बीच में प्रथम स्पर्श के समान स्थान वाले चतुर्थ स्पर्श ( घ्, झ्, ढ्, ध्, भ् ) का आगम होता है[6]। यथा—अर्वाक्। हि। एनम्। (प० पा०) अर्वाग्घ्येनं[7] (सं० पा०)।

शकार का आगम—(क) त्रपु अथवा मिथु शब्द पूर्व में होने पर तथा चकार बाद में होने पर दोनों के मध्य में अतिरिक्त वर्ण शकार आ जाता है[8]। यथा—सीसम्। च। मे। त्रपुः। च। मे। (प०पा०) सीसं च मे त्रपुश्च मे[9] (सं०पा०) मिथुः। चरन्तम्। उपयातीत्युप-याति। ( प० पा० ) मिथुश्चरन्तमुपयाति[10] (सं० पा०)।

(ख) सु पूर्व में होने पर तथा चन्द्र बाद में होने पर दोनों के बीच में शकार का आगम होता है[11]। यथा—सुश्चन्द्रेति सु-चन्द्र। दस्म। विश्पते। (प० पा०) सुश्चन्द्र दस्म विश्पते[12] (सं० पा०)।

सकार का आगम—(क) सम् पूर्व में होने पर तथा कुरु बाद में होने पर दोनों के बीच में सकार का आगम होता है[13]। यथा—यजमानः। समिति। कुरुते। (प० पा०) यजमानः संस्कुरुते[14] (सं० पा०)।

(ख) सम् पूर्व में होने पर तथा अकुर्व बाद में होने पर प्रत्यय (अकार) के बाद

---

१. २।३।१२ २. ३।२।२ ३. ६।६।३

४. नीचापूर्वो दकार उच्चापरः। तै० प्रा० ५।८ ५. २।३।१४

६. चतुर्थोऽन्तरे शैत्यायानादीनाम्। मोमांसकानाञ्च। तै० प्रा० ५।३९-४०

७. ६।३।३ ८. त्रपुमिथुपूर्वः शकारश्चपरः। तै० प्रा० ५।४

९. ४।७।५ १०. ४।७।१५

११. सुपूर्वश्च चन्द्रपरः। तै० प्रा० ५।५ १२. ४।४।४

१३. सम्पूर्वः सकारः कुरुपरः। तै० प्रा० ५।६ १४. ५।६।६

में सकार का आगम होता है[1]। प्रत्यय का अर्थ बतलाते हुए त्रिभाष्यरत्नकार तथा माहिषेय ने कहा है कि प्रत्यय शब्द से अकार को कहा गया है। इसके द्वारा व्यञ्जन प्रकट होते हैं, उच्चरित होते हैं, अतः यह प्रत्यय कहलाता है[2]। उदाहरण ते। इषुम्। समिति। अकुर्वंत। (प० पा०) त इषुं समस्कुर्वंत[3] (सं० पा०)।

प्रथम स्पर्श का अभिनिधान संज्ञक आगम—स्पर्श वर्ण परे रहते अघोष ऊष्मन् के बाद में उस स्पर्श के समान स्थान वाले प्रथम स्पर्श का अभिनिधान[4] संज्ञक आगम होता है[5]। यथा—यः। कामयेत। (प० पा०) य क् कामयेत[5] (सं० पा०)। अश्मन्। ऊर्जम्। (प० पा०) अश्प्मन्नूर्जम्[6] (सं० पा०)।

---

१. अकुर्वं च प्रत्ययात्परः। तै० प्रा० ५।७

२. प्रत्ययो नाम अकार उच्यते। प्रतीयन्त अभिव्यज्यन्ते व्यञ्जनान्यनेनेति प्रत्ययः। तै० प्रा० ५।७ पर त्रि० भा०। प्रत्ययात्परः अकारादित्यर्थः। येन व्यञ्जनानि प्रत्याय्यन्ते। ५।७ पर मा० भा०  ६. ६।२।३

३. अभिनिधीयत इति अभिनिधानः। आरोपणीय इत्यर्थः। अर्थात् अभिनिधान किया जाता है, समीप में रखा जाता है, आरोपित किया जाता है अतः अभिनिधान कहलाता है। अभिनिधान संज्ञक वर्ण किसी कार्य के होने में बाधा उपस्थित नहीं करते हैं।

४. अघोषादूष्मणः परः प्रथमोऽभिनिधानः स्पर्शपरात्तस्य सस्थानः। तै० प्रा० १४।९। १४।१७ के अनुसार प्लाक्षि तथा प्लाक्षायण आचार्यों के मत में प्रथम स्पर्श परे रहते ऊष्म-वर्ण का द्वित्व नहीं होता है। यथा—एवश्च-च्छन्दः। इस उदाहरण में प्रस्तुत नियम से शकार के पूर्व में चकार का आगम हुआ है। १४।१७ से प्रथम स्पर्श बाद में होने से ऊष्म वर्ण (शकार) के द्वित्व का निषेध हो जाता है। किन्तु अभिनिधान रूप आगम का अन्य कार्यों के सन्दर्भ में अविद्यमानवत् रहने से प्रस्तुत नियम से शकार के बाद में छ् है च् नहीं, अतः द्वित्व का निषेध नहीं होता है, द्वित्व हो जाता है।

ऋ० प्रा० तथा च० अ० में अभिनिधान से तात्पर्य वर्ण को पृथक् करके उसकी ध्वनि को दबा कर अस्पष्ट उच्चारण करना है। इनमें अभिनिधान को संयोगविषयक उच्चारण वैशिष्ट्य माना गया है। तै० प्रा० में अभिनिधान एक प्रकार का आगम है।

५. २।१।२  ६. ४।६।१

ग्रीष्मे । मध्यन्दिने । (प० पा०) ग्रीष्प्मे मध्यन्दिने[1] (सं० पा०) । अयस्मयम् । वीति । चृतः । (प० पा०) अयस्प्मयं विचृत[2] (सं० पा०) । यः पाप्मना । (प० पा०) य प्पाप्मना[3] (सं० पा०)—इन स्थलों में स्पर्श वर्ण बाद में होने पर अघोष ऊष्मवर्ण से बाद में परवर्ती के समान स्थान वाले प्रथम स्पर्श का आगम हुआ है।

नासिक्य का आगम—(क) उत्तम स्पर्श (पञ्चम स्पर्श वर्ण) है बाद में जिसके ऐसे अनुत्तम (अन्तिम स्पर्श वर्ण से व्यतिरिक्त प्रथमादि) स्पर्श के बाद में क्रमानुसार नासिक्यों का आगम होता है[4]। तात्पर्य यह है कि अनुत्तम अर्थात् अनासिक्य (प्रथमादि) स्पर्श के बाद में नासिक्य (पञ्चम) स्पर्श हो तो प्रथमादि स्पर्शों के बाद में यथाक्रम प्रथमादि नासिक्यों का आगम होता है। यथा—तम् । प्रत्नथा । (प० पा०) तं प्रत्नथा[5] (सं० पा०) । विमथ्नाना इति वि-मथ्नानाः । (प० पा०) विमथ्नानाः[6] (सं० पा०) । विद्म । ते । अग्ने । (प० पा०) विद्मा ते अग्ने[7] (सं०पा०) । दारुणि । दध्यसि । (प० पा०) दारुणि दध्यसि[8] (सं० पा०)—इन स्थलों में अन्तिम (उत्तम) स्पर्श वर्ण बाद में होने पर प्रथमादि स्पर्शों के बाद में नासिक्यों का आगम होता है।

(ख) न्, ण् अथवा म् परे रहते हकार के बाद में नासिक्य का आगम होता है[9]। यथा—अह्नाम् । केतुः । (प० पा०) अह्नां केतुः[10] (सं० पा०) । अपराह्ण इत्यपर-अह्ने (प० पा०) अपराह्णे[11] (सं० पा०) । ब्रह्मवादिन इति ब्रह्मवादिनः । (प०पा०) ब्रह्मवादिनः[12] (सं० पा०)—इन स्थलों में हकार के बाद न्, ण्, म् होने से नासिक्य का आगम हुआ है। संहिता में नासिक्य आगम ( ँ ) मुद्रित रूप में नहीं प्राप्त होता है।

---

१. २।१।२ २. ४।२।५ ३. २।३।१३

४. स्पर्शादनुत्तमादुत्तमपरादानुपूर्व्यान्नासिक्याः । तै० प्रा० २१।१२

५. १।४।९ ६. ३।५।४ ७. ४।२।२ ८. ४।१।१०

९. हकारान्नणमपरान्नासिक्यम् । तै० प्रा० २१।१४

१०. २।२।१४ ११. २।१।२ १२. १।७।१

# परिशिष्ट

---

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में विहित प्रयुक्त संज्ञाएँ

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में अविहित प्रयुक्त संज्ञाएँ

परिभाषा नियम

# परिशिष्ट—१

## (क) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में विहित प्रयुक्त संज्ञाएँ

| | |
|---|---|
| अक्षर-संहिता[1] | अनेक अक्षरों (स्वरों) का संयोग अक्षर संहिता कहलाता है। |
| अङ्ग-संहिता[2] | अनेक व्यञ्जनों का अङ्गाङ्गिभाव से संयोग अङ्ग-संहिता कहलाता है। |
| अघोष[3] | हकार व्यतिरिक्त ऊष्म वर्ण—विसर्जनीय, वर्गों के प्रथम तथा द्वितीय स्पर्श अघोष कहलाते हैं। |
| अनुदात्त[4] | उच्चारणावयवों के अधोगमन से उच्चारित स्वर-वर्ण अनुदात्त कहलाता है। |
| अनुनासिक[5] | अनुस्वार तथा वर्गों के पञ्चम स्पर्श अनुनासिक कहलाते हैं। |
| अन्तःस्था[6] | स्पर्श के बाद में य् र् ल् व्—ये चार वर्ण अन्तःस्था कहलाते हैं। |
| अपृक्त[7] | एक वर्णवाला अर्थात् केवल एक स्वर वाला पद अपृक्त कहलाता है। |
| अभिनिहत स्वरित[8] | भिन्न-भिन्न पदों में स्थित उदात्त एकार या ओकार के बाद में आने वाले अनुदात्त अकार का लोप होने पर निष्पन्न होने वाला स्वरित अभिनिहत स्वरित कहलाता है। |

---

१, २. यथास्त्रमक्षरसंहितादीनामन्येवम्। तै० प्रा० २४।४

३. ऊष्मविसर्जनीय प्रथम द्वितीया अघोषाः। तै० प्रा० १।१२

४. नीचैरनुदात्तः। तै० प्रा० १।३९

५. अनुस्वारोत्तमा अनुनासिकाः। तै० प्रा० २।३०

६. परास्चतस्रोऽन्तस्थाः। तै० प्रा० १।८

७. एकवर्णः पदमपृक्तः। तै० प्रा० १।५४

८. तस्मादकारलोपेऽभिनिहतः। तै० प्रा० २०।४

| | |
|---|---|
| आह्वारक स्वर[1] | क्रुष्ट, प्रथम और द्वितीय—ये तीन आह्वारक स्वर कहलाते हैं। |
| इङ्ग्य[2] | अवग्रह द्वारा पद-पाठ में विभक्त भिन्न-भिन्न पद 'इङ्ग्य' कहलाते हैं। |
| उत्तम[3] | प्रत्येक वर्ग के पञ्चम स्पर्श क्रमशः ङ् ञ् ण् न् म् उत्तम संज्ञक होते हैं। |
| उदात्त[4] | उच्चारणावयवों के ऊर्ध्वगमन से उच्चारित होने वाला स्वर-धर्म उदात्त कहलाता है। |
| उदात्तश्रुति[5] | स्वरित से परवर्ती अनुदात्त स्वर जो उदात्त के समान सुनाई पड़ता है उदात्तश्रुति कहलाता है। |
| उपसर्ग[6] | आ, प्र, अव, उप, अभि, अधि, प्रति, परि, वि तथा नि—ये दस उपसर्गसंज्ञक हैं। |
| ऊष्मन्[7] | अन्तःस्था से परवर्ती छः वर्ण—ᳵक्, ᳶप्, श्, ष्, स्, ह्—ऊष्म कहलाते हैं। |
| करण[8] | मुख का जो अङ्ग स्थान पर उपसंहार (समीपागमन) अथवा स्पर्श करता है, वह करण कहलाता है। |
| क्षैप्रस्वरित[9] | उदात्त इवर्ण तथा उकार का यकार और वकार होने पर निष्पन्न स्वरित क्षैप्र संज्ञक होता है। |

---

१. द्वितीय प्रथमक्रुष्टास्त्रय आह्वारकस्वराः। तै० प्रा० २३।१६

२. नानापदवदिङ्ग्यमसंख्याने। तै० प्रा० १।४८

३. प्रथम द्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः। तै० प्रा० १।११

४. उच्चैरुदात्तः। तै० प्रा० १।३८

५. स्वरितात्संहितायामनुदात्तानां प्रचय उदात्तश्रुतिः। तै० प्रा० २१।१०

६. आप्रावोपाभ्यधिप्रतिपरिविनीत्युपसर्गाः। तै० प्रा० १।१५

७. परे षडूष्माणः। तै० प्रा० १।९

८. यदुपसंहरति तत् करणम्। तै० प्रा० २।३२; येन स्पर्शयति तत् करणम्। तै० प्रा० २।३४

९. इवर्णोकारयोर्यवकारभावे क्षैप्र उदात्तयोः। तै० प्रा० २०।१

| | |
|---|---|
| गुरु[1] | इन्हें 'गुरु' कहते हैं—(१) आ, आ३, इ, ई३, उ, ऊ३, ऋ, ए, ऐ, ओ, औ (२) संयोगपूर्ववर्ण (३) अनुनासिकयुक्तवर्ण और (४) व्यञ्जनान्तवर्ण |
| घोषवत्[2] | अघोष-व्यतिरिक्त शेष सभी व्यञ्जन घोषवत् (घोष) कहलाते हैं। |
| चतुर्थ[3] | स्पर्श वर्गों के चौथे स्पर्श घ्, झ्, ढ्, ध् तथा भ् चतुर्थ संज्ञक होते हैं। |
| तार[4] | शिर-स्थान में अर्थात् उच्च-ध्वनि से उच्चारण। |
| तृतीय[3] | स्पर्श वर्गों के तीसरे स्पर्श ग्, ज्, ड्, द् तथा ब् तृतीय संज्ञक होते हैं। |
| तैत्तिरीयक स्वर[5] | द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और मन्द्र—ये तैत्तिरीयक स्वर कहलाते हैं। |
| तैरोव्यञ्जन स्वरित[6] | एक पद में व्यञ्जन का व्यवधान होने पर उदात्त के प्रभाव से परवर्ती अनुदात्त के स्थान पर निष्पन्न स्वरित तैरोव्यञ्जन स्वरित कहलाता है। |
| दीर्घ[7] | दो मात्रा वाले स्वर-वर्ण—आ, ई, ऊ, ॠ, ए, ऐ, ओ तथा औ दीर्घ कहलाते हैं। |
| द्वितीय[3] | स्पर्श-वर्गों के दूसरे स्पर्श ख्, छ्, ठ्, थ् तथा फ् द्वितीय संज्ञक होते हैं। |

---

१. यद्व्यञ्जनान्तं यदु चापि दीर्घं संयोगपूर्वं च तथानुनासिकम्।
एतानि सर्वाणि गुरूणि विद्यात् शेषाण्यतोऽन्यानि ततो लघूनि ॥
तै० प्रा० २२।१४

२. व्यञ्जनशेषो घोषवान्। तै० प्रा० १।१४

३. प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः। तै० प्रा० १।११

४. शिरसि तारम्। तै० प्रा० २३।१२

५. मन्द्रादयो द्वितीयान्ताश्चत्वारस्तैत्तिरीयकाः। तै० प्रा० २३।१७

६. उदात्तपूर्वस्तैरोव्यञ्जनः। तै० प्रा० २०।७

७. द्विस्तावान्दीर्घः। तै० प्रा० १।३५

| | |
|---|---|
| नाद[1] | कण्ठ-विवर की संवृत अवस्था में संवार नामक बाह्य प्रयत्न के परिणामस्वरूप विकृत वायु नाद कहलाती है। |
| नासिक्य[2] | नासिका से उच्चरित होने वाले वर्ण-विशेष नासिक्य कहलाते हैं। यम- कँ, खँ, गँ, घँ इत्यादि वर्गों के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और हकार तथा अनुनासिक स्पर्श ण्, न्, म् के बीच में उच्चारित किया जाने वाला नासिका से सम्बद्ध आगम—हुँ नासिक्य हैं। |
| नित्य स्वरित[3] | (१ अपूर्व—यकार या वकार से युक्त स्वरित जिसके पूर्व में ( उदात्त या अनुदात्त ) कोई स्वर न हो तथा ( २ ) अनुदात्तपूर्व – जिसके पूर्व में अनुदात्त हो, वह स्वरित नित्य स्वरित कहलाता है। |
| पदसंहिता[4] | अनेक पदों की सन्धि से निष्पन्न संहिता पद-संहिता कहलाती है। |
| पादवृत स्वरित[5] | विवृत्ति का अप्रधान होने पर भी पदान्त उदात्त के प्रभाव से पदादि अनुदात्त के स्थान में होने वाला स्वरित पादवृत्त स्वरित कहलाता है। |
| प्रथम[6] | स्पर्श वर्गों के आदि वाले वर्ण क्, च्, ट्, त् और प् प्रथम संज्ञक होते हैं। |
| प्रवण[7] | स्वरित का पर्याय। |
| प्रश्लिष्ट स्वरित[8] | दो उकारों की प्रश्लिष्ट सन्धि से निष्पन्न स्वरित प्रश्लिष्ट स्वरित कहलाता है। |

---

१. संवृते कण्ठे नादः क्रियते। तै० प्रा० २।४

२. नासिक्या नासिकास्थानाः। तै० प्रा० २।४९

३. सयकारवकारं त्वक्षरं यत्र स्वर्यते स्थिते पदेऽनुदात्तपूर्वेऽपूर्वे वा नित्य इत्येव जानीयात्। तै० प्रा० २०।२

४. नानापदसंधानसंयोगः पदसंहितेत्यभिधीयते। तै० प्रा० २४।३

५. पदविवृत्त्यां पादवृत्तः। तै०प्रा० २०।६

६. प्रथमद्वितीयतृतीयचतुर्थोत्तमाः। तै० प्रा० १।११

७. सर्वः प्रवण इत्येके। तै० प्रा० १।४७

८. ऊभावे प्रश्लिष्टः। तै० प्रा० २०।५

| | |
|---|---|
| प्लुत[1] | आ३, ई३, तथा ऊ३—ये ह्रस्व से तीन गुणा मात्रा वाले स्वर-वर्ण प्लुत कहलाते हैं। |
| प्रातिहत स्वरित[2] | पदान्त उदात्त के बाद में विद्यमान पदादि अनुदात्त के स्थान में होने वाला स्वरित प्रातिहत स्वरित कहलाता है। |
| मन्द्र[3] | वाणी के प्रयोग में क्रमशः पञ्चम स्थान जो उरस् में है। |
| लघु[4] | गुरु से भिन्न जो अक्षर अव्यञ्जनान्त, ह्रस्व (अ, इ, उ, ऋ, ऌ), असंयोगपर, अननुस्वारयुक्त हैं, लघु कहलाते हैं। |
| लोप[5] | वर्णों का विनाश (अदर्शन, अनुच्चारण) लोप कहलाता है। |
| वर्ग[6] | स्पर्श वर्णों में क्रमशः पाँच-पाँच स्पर्शों का समूह वर्ग कहलाता है यथा—(१) कवर्ग क् ख् ग् घ् ङ्, (२) चवर्ग - च् छ् ज् झ् ञ्, (३) टवर्ग—ट् ठ् ड् ढ् ण्, (४) तवर्ग—त् थ् द् ध् न्, (५) पवर्ग - प् फ् ब् भ् म्। |
| वर्ण-समाम्नाय[7] | वर्ण-राशि (वर्णों का समूह, वर्णमाला) |
| वर्ण-संहिता[8] | अनेक वर्णों का संयोग वर्ण-संहिता कहलाता है। |

---

१. त्रिः प्लुतः। तै० प्रा० १।३६
२. अपि चेन्नानापदस्थमुदात्तमथ चेत्संहितेन स्वर्यते स प्रातिहतः। तै० प्रा० २०।३
३. उरसि मन्द्रम्। तै० प्रा० २३।१०
४. ...... शेषाण्यतोऽन्यानि ततो लघूनि। तै० प्रा० २२।१४
अव्यञ्जनान्तं यद्ध्रस्वमसंयोगपरं च यत्।
अननुस्वारसंयुक्तमेतल्लघु निबोधत॥ तै० प्रा० २२।१५
५. विनाशो लोपः। तै० प्रा० १।५७
६. स्पर्शानामानुपूर्व्येण पञ्चपञ्च वर्गाः। तै० प्रा० १।१०
७. अथ वर्णसमाम्नायः। तै० प्रा० १।१
८. यथास्वमक्षरसंहितादीनामप्येवम्। तै० प्रा० २४।४

| | |
|---|---|
| विक्रम[1] | पूर्व में स्वरित अथवा उदात्त तथा बाद में उदात्त अथवा स्वरित होने पर मध्यवर्ती अनुदात्त विक्रम संज्ञक होता है। |
| व्यञ्जन[2] | स्वरव्यतिरिक्त ककारादि शेष वर्णराशि व्यञ्जन कहलाती है। |
| श्वास[3] | कण्ठविवर की विवृत अवस्था में विवृत बाह्यप्रयत्न के परिणामस्वरूप विकृत वायु श्वास संज्ञक होती है। |
| समानाक्षर[4] | अ, आ, आ३, इ, ई, ई३ तथा उ, ऊ, ऊ३ ये नौ वर्ण समानाक्षर कहलाते हैं। |
| सवर्ण[5] | समानाक्षरों में दो-दो ह्रस्व तथा दीर्घ सवर्ण कहलाते है। यथा—अ और आ, इ और ई, उ और ऊ परस्पर सवर्ण हैं। |
| स्थान[6] | वर्णोच्चारण में करण का मुख में जहाँ उपसंहार (समीपागमन) अथवा स्पर्श किया जाता है, मुख का वह अङ्ग स्थान कहलाता है। |
| स्पर्श[7] | व्यञ्जनों के प्रारम्भ में क् से प् तक के पच्चीस वर्ण स्पर्श कहलाते हैं। |
| स्वर[8] | वर्ण-माला के आदि में अ, आ, आ३, इ, ई, ई३, उ, ऊ, ऊ३, ऋ, ॠ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ-ये सोलह वर्ण |

१. स्वरितयोर्मध्ये यत्र नीचँस्यादुदात्तयोर्वाऽन्यतरतो वोदात्तस्वरितयोः स विक्रमः। तै० प्रा० १९।१

२. शेषो व्यञ्जनानि। तै० प्रा० १।६

३. विवृतेश्वासः। तै० प्रा० २।५

४. अथ नवादितः समानाक्षराणि। तै० प्रा० १।२

५. द्वे द्वे सवर्णे ह्रस्वदीर्घे। तै० प्रा० १।३

६. स्वराणां यत्रोपसँहारस्तत् स्थानम्। तै० प्रा० २।३१
अन्येषां तु यत्र स्पर्शनं तत्स्थानम्। तै० प्रा० २।३३

७. आद्याः पञ्चविंशतिस्स्पर्शाः। तै० प्रा० १।७

८. षोडशादितः स्वराः। तै० प्रा० १।५

| | |
|---|---|
| | स्वर-संज्ञक होते हैं। स्वर-वर्णों के उच्चारण धर्म उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भी स्वर कहलाते हैं। |
| स्वरित[1] अथवा स्वार | उदात्त तथा अनुदात्त के समाहार से उच्चारित होने वाला अर्थात् उदात्त और अनुदात्त के मिश्रित रूप से उच्चारित स्वर स्वरित कहलाता है। इसे स्वार भी कहते हैं। |
| हकार[2] | कण्ठ-विवर की सामान्य अवस्था में संवार तथा विवार दोनों बाह्य-प्रयत्नों के मेल के परिणामस्वरूप विकृत वायु हकार संज्ञक होती है। |
| ह्रस्व[3] | एक मात्राकाल वाले स्वर-वर्ण—अ, इ, उ, ऋ तथा लृ ह्रस्व संज्ञक होते हैं। अनुस्वार भी ह्रस्व होता है। |

## (ख) तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में अविहित प्रयुक्त संज्ञाएँ

| | |
|---|---|
| अक्षर | व्यञ्जनयुक्त स्वर-वर्ण और केवल स्वर-वर्ण को भी 'अक्षर' संज्ञा से अभिहित किया गया है। |
| अङ्ग | व्यञ्जन स्वर-वर्ण का अङ्ग होता है। |
| अणुता | कण्ठविवर की संवृतता। |
| अनुप्रदान | नाद, श्वास, हकार रूप बाह्य प्रयत्न। |
| अनुस्वार | शुद्ध नासिक्य वर्ण (ं)। |
| अन्ववसर्ग | गात्रों की शिथिलता। |
| अभिनिधान | अघोष ऊष्म-वर्ण तथा स्पर्श-वर्ण के बीच में स्पर्श के समानस्थानीय प्रथम स्पर्श का आगम होना। |
| अवग्रह | इङ्ग्य (सावग्रह) पद का पूर्व पद। |
| अवसान या अवसित | पद के अन्त में स्थित व्यञ्जन। |
| आगम | दो वर्णों के मध्य एक अतिरिक्त वर्ण का आ जाना। |
| आयाम | उच्चारणावयवों की दीर्घता अथवा खिंचाव। |
| उदय | अव्यवहित परवर्ती। |

---

1. समाहारस्स्वरितः। तै० प्रा० १।४०
2. मध्ये हकारः। तै० प्रा० २।६
3. ऋकारलृकारौ ह्रस्वौ। अकारश्च। तेन च समानकालस्वरः। अनुस्वारश्च। तै० प्रा० १।३१–३४

| | |
|---|---|
| उपध्मानीय | ≍ प्—यह वर्ण। |
| उपबन्ध | संहितास्थ वह सुसम्बद्ध अंश जिसे प्रातिशाख्य के सूत्रों में अनेक प्रकार से निर्दिष्ट करके उसके विषय में कार्य का विधान किया जाता है। |
| उपब्दिमत् | उच्च ध्वनि से किया जाने वाला उच्चारण। वाणी का चतुर्थ स्थान जिसमें स्वर तथा व्यञ्जन का भेद स्पष्ट होता है। |
| उपसंहार | वर्णोच्चारण में करण का उच्चारण-स्थान के समीप आना उपसंहार कहलाता है। |
| उपांशु | शब्दरहित किन्तु मन ही मन न किये जाने वाला उच्चारण। |
| ऋग्विराम | ऋचाओं के मध्य और अन्त में होने वाला विराम। |
| क्रम | द्वित्व की क्रम संज्ञा है। |
| क्रम-पाठ | दो-दो पदों का अव्यवहित उच्चारण। |
| ग्रहण | सूत्र में उद्धृत वैदिक पद। |
| जिह्वामूलीय | जिह्वा के मूल से उच्चारित होने वाले वर्ण क्, ख्, ग्, घ्, ङ् और ≍ क्। ≍ क्—इस वर्ण की संज्ञा जिह्वामूलीय है। |
| दारुण्य | ध्वनि की कठोरता। |
| द्रुत | तीव्र गति से उच्चारण। |
| द्वियम | स्वरित स्वर की संज्ञा। |
| ध्वान | स्वर और व्यञ्जन के अभेद से उच्चारण। |
| नितान्त | स्थल विशेष में ऐकार की तीव्रतर प्रयत्न। |
| निमद | स्वर तथा व्यञ्जनों के भेद-ज्ञान से रहित अवस्था। |
| पद-विराम | दो पदों के मध्य में होने वाला विराम। |
| परिमाण | वर्णों का उच्चारण-काल। |
| पूर्वशास्त्र | व्याकरण शास्त्र। |
| प्रग्रह | परवर्ती स्वर के साथ विकार की सम्भावना होने पर भी अविकृत वर्ण। |
| प्रचय | स्वरित के बाद में विद्यमान अनुदात्त जिसका उच्चारण उदात्त के समान होता है। |

| | |
|---|---|
| प्रणव | ॐकार की संज्ञा। |
| प्राकृत | मूल रूप में विद्यमान रहना। |
| मात्रा | उच्चारण-काल को मापने की इकाई। |
| यम | यम तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—(१) पञ्चम स्पर्श बाद में होने पर अपञ्चम स्पर्श से परे आगम रूप में प्राप्त नासिक्य वर्ण कँ्, खँ्, गँ्, घँ्, चँ्, छँ्, जँ्, झँ्, टँ्, ठँ्, डँ्, ढँ्, तँ्, थँ्, दँ्, धँ्, पँ्, फँ्, बँ्, भँ्। (२) क्रुष्टादि सात सामवेदीय स्वर। (३) स्वरित के लिए। |
| रङ्ग | अनुनासिक वर्ण। |
| लेश | वर्ण का लुप्तवत् उच्चारण अथवा एकदेश। |
| वर्ण | अकारादि ध्वनियाँ। |
| विलम्बित | उच्चारण की धीमी गति |
| विवृत्ति ( विराम ) | दो स्वर-वर्णों के मध्य में कालकृत व्यवधान। |
| विसर्जनीय | ( : ) यह वर्ण |
| वृत्ति | बोलने की गति। |
| संयोग | स्वर व्यवधान से रहित व्यञ्जनों का समूह। |
| संवृत | स्वर-तन्त्रियों की अत्यधिक सन्निकटता। |
| संसर्ग | वायु का स्थान पर आभ्यन्तर प्रयत्न द्वारा अभिघात। |
| संहिता | वर्ण, अक्षर, पद तथा अङ्ग रूप चतुर्विध द्रव्यों की परस्पर अतिशय सन्निधि से निष्पन्न। |
| सांहित | सन्धि से निष्पन्न। |
| स्वरभक्ति | स्वर का अंश अर्थात् अतिह्रस्व ऋवर्णात्मक स्वर। अवस्था—स्वर + र् + ऊष्म = स्वर + र् + स्वरभक्ति + ऊष्म। |

———

# परिशिष्ट—२

## परिभाषा नियम

तैत्तिरीय-प्रातिशाख्य के सूत्रों को भली भाँति समझने के लिए प्रातिशाख्य-कार ने कतिपय परिभाषा-सूत्रों का प्रणयन किया है। इनकी सहायता से प्रातिशाख्य में विहित विषय का सरलतापूर्वक अवबोध हो जाता है। यहाँ परिभाषा-नियमों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

(१) कार शब्द बाद में है जिसके ऐसा वर्ण उस वर्ण का निर्देशक (नाम) होता है[1] अर्थात् स्वर-वर्ण को निर्दिष्ट करने के लिए उनके बाद में 'कार' जोड़ा जाता है। यथा अ + कार = अकार। इ + कार = इकार इत्यादि।

(२) व्यञ्जनों को निर्दिष्ट करने के लिए दो परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं—(१) व्यञ्जन में अ जोड़ कर उसका निर्देश किया जाता है[2] और (२) अकार जोड़ कर व्यञ्जन का निर्देश किया जाता है[3]। यथा—क् + अ = क और क् + अकार = ककार दोनों ही क् व्यञ्जन को निर्दिष्ट करते हैं।

विसर्जनीय, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार और नासिक्य (यम) को 'कार' संज्ञा से निर्दिष्ट नहीं किया जाता है[4]।

(३) अकार वेद से उद्धृत शब्द (ग्रहण) का भी निर्देशक होता है[5]। इसका

१. वर्णः कारोत्तरो वर्णाख्या। तै० प्रा० १।१६

वर्णों को निर्दिष्ट करने के लिए कार शब्द का प्रयोग सभी प्रातिशाख्यों में किया गया है किन्तु इसका विधान केवल तै० प्रा० तथा वा० प्रा० में प्राप्त होता है। क्रियते अयम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार कृ धातु से घ प्रत्यय लगाकर कार शब्द बनता है जिसका अर्थ है ध्वनि। अतः अकार = अध्वनि = अवर्ण।

२. अकारव्यवेतो व्यञ्जनानाम्। तै० प्रा० १।१७

३. अकारोव्यञ्जनानाम्। तै० प्रा० १।२१

४. न विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्यान्। तै० प्रा० १।१८

५. ग्रहणस्य च। तै० प्रा० १।२२। लक्ष्यंनिमित्तं च ग्रहणमुच्यते। १।२० पर त्रि० भा०। तै० प्रा० के तीन सूत्रों में ग्रहण शब्द प्रयुक्त हुआ है। ग्रहण

अभिप्राय यह है कि किसी वैदिक शब्द को निर्दिष्ट करने के लिए उसके बाद अ जोड़ दिया जाता है। जब किसी वैदिक-पद के मौलिक रूप में अ जोड़कर प्रातिशाख्य के सूत्र में उद्धृत किया जाता है तो उससे उस प्रातिपदिक के सभी रूपों को समझा जाता हैं। उस शब्द के विषय में प्रतिपादित विधान उसके सभी रूपों पर लागू होते हैं। उदाहरणार्थ–ओष्ठ शब्द बाद में होने पर पूर्व में स्थित अवर्ण लुप्त हो जाता है[1]। प्रस्तुत विधान से यहाँ अकारान्त ओष्ठ शब्द से ओष्ठ के सभी रूपों का ग्रहण हो जाता है। यथा—स्वाहा। ओष्ठाभ्याम्। (प०पा०) स्वाहोष्ठाभ्याम्[2] (सं० पा०) उपयामम्। अधरेण। ओष्ठेन। (प० पा०) उपयाममधरेणोष्ठेन[3] (सं० पा०)। इन स्थलों में क्रमशः ओष्ठाभ्याम् तथा ओष्ठेन पद परे रहते पूर्ववर्ती अवर्ण का लोप हो गया है। इस परिभाषा सूत्र की सहायता से १०।१४ में ओष्ठ शब्द के सभी रूपों का ग्रहण हो जाता है।

(४) वर्ण शब्द तथा कार शब्द निर्देशक होते हैं[4]। तात्पर्य यह है कि वर्ण अथवा कार शब्द बाद में हो तो वह ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत-तीनों का निर्देशक होता है। यथा—अवर्ण या अकार अ, आ, आ३, और इवर्ण या इकार इ, ई, ई३ वर्णों के निर्देशक हैं।

(५) आगम के रूप में आने वाले, विकार को प्राप्त होने वाले तथा लोप को प्राप्त होने वाले पद का अःकार निर्देशक होता है[5]। अभिप्राय यह है कि आगम, विकार तथा लोप को प्राप्त होने वाले शब्दों को प्रातिशाख्य के सूत्रों में प्रथमा विभक्ति में दिखलाया गया है। यथा–(१) आगम के रूप में आने वाले पद का उदाहरण—१४।५ के अनुसार, स्वर पूर्व में होने पर तथा व्यञ्जन बाद में होने पर द्वितीय तथा चतुर्थ स्पर्श को पूर्व (द्वितीय को प्रथम तथा चतुर्थ को तृतीय स्पर्श) का आगम होता है[6]। यहाँ आगम पूर्व (प्रथम तथा तृतीय)

---

शब्द का अर्थ है सूत्र में उद्धृत वैदिक पद। ऐसे पद दो प्रकार के होते हैं—(१) लक्ष्य अर्थात् वह वैदिक पद जिसके विषय में किसी कार्य का विधान सूत्र में उल्लिखित हो तथा (२) निमित्त अर्थात् वह वैदिक पद जो किसी अन्य वैदिक पद में होने वाले कार्य (विकार इत्यादि) का कारण होता है।

१. ओष्ठेऽवः परो लुप्यते। तै० प्रा० १०।१४ २. ७।३।१६ ३. ५।७।१२
४. वर्णकारौ निर्देशकौ। तै० प्रा० २२।४
५. अःकार आगमविकारिलोपिनाम्। तै० प्रा० १।२३
६. द्वितीय चतुर्थयोस्तु व्यञ्जनोत्तरयोः पूर्वं। तै० प्रा० १४।५

का होने से सूत्र में पूर्व शब्द प्रथमा विभक्ति में रखा गया है। (२) विकार का उदाहरण—नकार णकार हो जाता है[1]। ७।१ में विहित इस नियम में विकारी पद नकार है अतः उसे प्रथमा विभक्ति में रखा गया है। (३) लोप का उदाहरण—५।१९ के अनुसार, तिष्ठन्त्येकया पद में अन्तिम वर्ण आ अपने पूर्व ( य् ) के सहित लुप्त हो जाता है[2]। इस सूत्र से सपूर्व ( अपने पूर्ववर्ती के साथ ) लोप को प्राप्त करता है। अतः सपूर्व शब्द को सूत्र में प्रथमा विभक्ति में रखा गया है।

(६) अथवा सूत्र में उद्धृत वैदिक पद ( ग्रहण ) ही आगम इत्यादि का निर्देशक होता है[3]। अर्थात् जिस पद में आगम, विकार या लोप का उल्लेख किया गया हो उस वैदिक पद को ज्यों का त्यों सूत्र में रख दिया जाता है। यह नियम पूर्ववर्ती नियम १।२३ का अपवाद है। इस प्रकार आगम को प्राप्त करने वाले, विकार को प्राप्त होने वाले तथा लोप को प्राप्त होने वाले वर्णों अथवा पदों का निर्देश प्रातिशाख्य के सूत्रों में सदैव प्रथमा विभक्ति ( अःकार ) में ही नहीं किया गया है अपितु, सम्बद्ध वैदिक पदों को ही सूत्रों में उद्धृत कर दिया गया है। आगम का उदाहरण—आदिरँ इति ......(१६।२९) अँ हति के आदि में अनुस्वार का आगम होता है। प्रस्तुत नियम के अनुसार अँहति में अनुस्वार का आगम हुआ है। अतः १।२३ के अनुसार, अनुस्वार को प्रथमा विभक्ति में न रखकर प्रस्तुत सूत्र के अनुसार, अनुस्वार-समन्वित वैदिक पद अँहृति को ही सूत्र में उद्धृत कर दिया गया है। विकार का उदाहरण—हन्यात् तथा उप्यमानम् में स्थित नकार णकार हो जाता है[4]। यहाँ नकार विकारी है अतः नकार से समन्वित पदों को सूत्र में उद्धृत कर दिया गया है। लोप का उदाहरण—एषः, सः तथा स्यः के विसर्जनीय का लोप हो जाता है[5]। यहाँ विसर्जनीय लोप को प्राप्त करने वाला वर्ण है अतः प्रस्तुत नियम के अनुसार विसर्जनीय समन्वित पदों को सूत्र में प्रथमा विभक्ति में उद्धृत कर दिया गया है।

---

१. अथ नकारो णकारम्। तै० प्रा० ७।१

२. तिष्ठन्त्येकया सपूर्वः। तै० प्रा० ५।१९

३. ग्रहणं वा। तै० प्रा० १।२४

४. हन्यादुप्यमानञ्च। तै० प्रा० ७।३

५. एषः सः स्यः। तै० प्रा० ५।१५

(७) अम् विकार का निर्देशक है[1]। विकार के परिणाम स्वरूप आने वले वर्ण को तै० प्रा० के सूत्रों में द्वितीया विभक्ति में दिखलाया गया है। १।२३ में विहित है कि विकारी वर्ण को प्रथमा विभक्ति में रखा जाता है और प्रस्तुत सूत्र में यह विधान किया गया है कि विकार के परिणाम स्वरूप आने वाले वर्ण को द्वितीया विभक्ति में रखा जाता है। यथा-अथ नकारो णकारम् (७/१)—यहाँ णकार विकार के परिणाम स्वरूप आने वाला वर्ण है अतः उसे द्वितीया विभक्ति द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। और नकार विकारी वर्ण है उसे प्रथमा विभक्ति में दर्शाया गया है।

(८) पूर्व—इससे पूर्व का ग्रहण किया जाता है[2]। सूत्र में यदि यह विधान ही कि अमुक से पूर्ववर्ती पद कार्य को प्राप्त करता है तो उससे पूर्ववर्ती स्थान में स्थित पद को ही पूर्व शब्द के द्वारा समझना चाहिए। यथा—४।१२ में सूत्रकार ने अनेक पदों के साथ द्यावापृथिवी शब्द के प्रग्रह होने का विधान किया है। ४।१३ के अनुसार, द्यावापृथिवी से पूर्ववर्ती पद भी प्रग्रह होता है। इससे द्यावापृथिवी से पूर्ववर्ती यावती पद प्रग्रह हुआ। किन्तु इससे सभी स्थलों में स्थित यावती पद प्रग्रह नहीं होगा। केवल वही यावती पद प्रग्रह होगा जो द्यावापृथिवी के अव्यवहित पूर्वदेश में स्थित हो। यथा—यावती द्यावापृथिवी महित्वा[3] में स्थित यावती पद प्रग्रह है किन्तु यावती वै पृथिवी[4] में स्थित यावती पद द्यावापृथिवी के पूर्व में न होने के कारण प्रग्रह नहीं है।

(९) पर इससे परवर्ती का ग्रहण किया जाता है[5]। जिस सूत्र में यह विधान किया गया हो कि इससे परवर्ती पद कार्य को प्राप्त करता है वहाँ उससे परवर्ती स्थल में स्थित पद को हो समझना चाहिए। यथा—४।४९ के अनुसार द्वे पद प्रग्रह होता है[6]। ४।५० में विधान किया गया है कि द्वे से परवर्ती पद भी प्रग्रह होता है[7]। इस नियम से द्वे से परवर्ती जाये पद का भी प्रगह्यत्व हो जाता है।

---

१. अं विकारस्य। तै० प्रा० १।२८
२. पूर्वं इति पूर्वः। तै० प्रा० १।२९
३. सं० पा० ३।२।६
४. सं० पा० ५।२।३
५. पर इत्युत्तरः। तै० प्रा० १।३०
६. द्वे। तै० प्रा० ४।४९
७. परश्च। तै० प्रा० ४।५०

(१०) सन्देह होने पर परवर्ती वर्ण अथवा पद का ग्रहण होता है[१]। जहाँ सूत्र में केवल विशेषण अथवा केवल विशेष्य का ही निर्देश किया गया हो वहाँ अर्ह विशेषण अथवा विशेष्य की अपेक्षा होती है। अनेक अर्ह विशेषण अथवा अनेक अर्ह विशेष्य पदों के उपस्थित रहने पर किस विशेषण अथवा विशेष्य को ग्रहण किया जाय यह संशय होने पर समीपस्थ अर्ह पद का ग्रहण करना चाहिये। यथा अमी चक्षुषी द्यावापृथिवी (४।१२) सूत्र से अमी आदि में पदान्त वर्ण को प्रग्रह संज्ञक कहा गया है। पूर्वश्च (४।१३) सूत्र में पूर्वः इस विशेषण को अर्हविशेष्य की आवश्यकता है। अमी चक्षुषी आदि अनेक पद (४।१२ में) विशेष्य के रूप में उपस्थित हैं। अतः यह सन्देह होने पर कि पूर्वश्च (४।१३) सूत्र से किस विशेष्य पद का ग्रहण हो, प्रस्तुत परिभाषा सूत्र यह विधान करता है कि इस प्रकार के सन्देह के स्थल में निकट वाले का ग्रहण करना चाहिए। अतः यहाँ पूर्वश्च (४।१३) के निकटवर्ती द्यावापृथिवी इस विशेष्य पद का ग्रहण होगा और पूर्वश्च (४।१३) सूत्र का अर्थ होगा— द्यावापृथिवी पद से पूर्ववर्ती पदान्त अधिकृत वर्ण (ई या ए) प्रग्रह संज्ञक होता है। चकार द्यावापृथिवी का अन्वादेश करता है। अन्य पदों का नहीं क्योंकि द्यावापृथिवी सन्निकट पद है। अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। च पद हो। और सन्देह की दशा में संहितास्थ निकटस्थ पद को भी सूत्र में उद्धृत करते है।

(११) सन्देह होने पर एक से अधिक वर्ण अथवा पद का भी ग्रहण किया जाता है[३]। प्रस्तुत परिभाषा नियम १।२५ का अपवाद है। जहाँ पर विशेषण द्विवचनान्त अथवा बहुवचनान्त हो वहाँ अनेक अर्हविशेष्यों की आवश्यकता होती है। जैसे—लपरो लकारम् ५।२५ सूत्र में द्विवचनान्त लपरौ को दो की आवश्यकता है अतः समीपस्थ तकार और नकार दोनों का ग्रहण होता है न कि समीपस्थ केवल नकार की। इसी प्रकार नकार एतेषु ञकारम् ५।१५ सूत्र में एतेषु को अनेक को आवश्यकता है। अतः समीपस्थ श च छ और ज का ग्रहण होता है न कि समीपस्थ केवल जकार का। तिष्ठन्त्येकया सपूर्व ५।१९ सूत्र के अनुसार किया गया।

(१२) एफ र का निर्देशक (नाम) होता है[४]। अर्थात् र के कथन के लिए रेफ (र् + एफ) का प्रयोग किया जाता है।

---

१. आसन्नं सन्देहे। तै० प्रा० १।२५ २. ५।३।७
३. अनेकस्यापि। तै० प्रा० १।२६ ४. एफस्तुरस्य। तै० प्रा० १।१९

(१३) सूत्रोक्त च तथा अपि पदों के द्वारा पूर्वोक्त विषय का अन्वादेश किया जाता है। अर्थात् सूत्र में प्रयुक्त च तथा अपि पूर्वोक्त विषय का अर्थतः पुनः कथन करने वाले होते हैं[1]।

(१४) तु अथ और एव क्रमशः निवृत्ति करने वाले, अधिकार करने वाले तथा निश्चय करने वाले हैं[2]। इस नियम द्वारा तीन तथ्य प्रकट होते हैं—

(१) सूत्रोक्त तु शब्द पूर्व सूत्र में विहित कार्य की निवृत्ति करता है। उदाहरणार्थ—एफस्तु रस्य (१।१९) में प्रयुक्त एफ संज्ञा से १।१६-१८ में प्रतिपादित वर्ण तथा कार संज्ञाओं की र के विषय में निवृत्ति हो जाती है। अर्थात् र की संज्ञा वर्ण अथवा कार न होकर एफ होती है।

(२) सूत्रोक्त अथ शब्द आगे निर्दिष्ट विषय-वस्तु का अधिकार करने के लिये प्रयुक्त होता है। यथा—अथ संहितायामेकप्राणभावे (५।१) इस सूत्र में प्रयुक्त अथ से आगे निर्दिष्ट विषय वस्तु में—संहिता में—का अधिकार प्रारम्भ होता है।

(३) एव शब्द निश्चय का द्योतक है। यथा—स्पर्श एवैकेषामाचार्याणाम् (१४।३) में प्रयुक्त एव शब्द से इस बात का निश्चय होता है कि लकार अथवा वकार पूर्व में रहते परवर्ती स्पर्श का ही द्वित्व होता है, लकार अथवा वकार का नहीं।

(१५) सूत्र में प्रयुक्त वा शब्द विकल्प का निर्देशक होता है[3]। यथा—मुखनासिक्या वा (२।५०) में प्रयुक्त वा शब्द से नासिक्य-वर्ण विकल्प से मुख तथा नासिका दोनों द्वारा उच्चरित होते हैं। २।४९ में नासिक्य वर्णों को (केवल) नासिका स्थान वाला कहा गया है।

(१६) न शब्द प्रतिषेध (निषेध) का द्योतक है[4]। अर्थात् सूत्र में प्रयुक्त न शब्द के द्वारा प्रसक्त अर्थ का निषेध हो जाता है। यथा—नावग्रहः (४।२) (अर्थात् अवग्रह का अन्तिम स्वर प्रग्रह नहीं होता है) में प्रयुक्त न शब्द पूर्व नियम द्वारा विहित प्रग्रह-संज्ञा का अवग्रह के विषय में निषेध कर देता है।

---

१. चापीत्यन्वादेशकौ। तै० प्रा० २२।५
२. त्वथैवेति विनिवर्तकाधिकारकावधारकाः। तै० प्रा० २२।६
३. वेति वैभाषिकः। तै० प्रा० २२।७
४. नेति प्रतिषेधकः। तै० प्रा० २२।८

(१७) सावग्रह-पद (इङ्ग्य) को पृथक् पदों की भाँति समझना चाहिए, गणना न होने पर[1]। इसका यह अभिप्राय है कि सावग्रह पद के दोनों पृथग्भूत भागों को परस्पर भिन्न-स्वतंत्र पदों की भाँति समझना चाहिए। यथा - ओषतात्। तिग्महेत इति तिग्म-हेते। (प० पा०) ओषतात्तिग्महेते[2] (सं० पा०) तत्। प्रवात इति प्र-वाते। (प० पा०) तत् प्रवाते[3] (सं० पा०) प्रस्तुत नियम से हेते तथा वाते को स्वतन्त्र पदों के समान माना जाता है। पृथक्-पद होने के परिणाम स्वरूप हेते तथा वाते के अन्तिम एकार प्रग्रह नहीं हुए। हेते तथा वाते बहुत स्वर वाले पद नहीं हैं। ४।४० में विधान किया गया है कि बहुत स्वरों वाले ही पद के ते और द्वे के एकार प्रग्रह होते हैं[4]। द्वे इति। शुक्रवतीति शुक्र-वती (प० पा०) द्वे सवने शुक्रवती[5] (सं० पा०)। यहाँ शुक्रवती-इति इस विग्रह-पद को पृथक पदों के समान नहीं माना गया है। ४।४९-५१ में द्वे आदि पदों को गणना की गयी है[6] अतः प्रस्तुत नियम (१।४८) से सावग्रह शुक्रवती पद में शुक्र तथा वती पदों को अलग-अलग स्वतन्त्र पद नहीं माना गया है। इसलिये द्वे से एक पद से व्यवहित शुक्रवती पद का अन्तिम ईकार ४।५१ से प्रग्रह है। यदि शुक्र तथा वती को दो पृथक्-पृथक् पद माना जाता तो वती द्वे के पश्चात् सवने और शुक्र इन दो पदों से व्यवहित हो जाता। इस दशा में यहाँ ४।५१ लागू न होता। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र के अनुसार गणना से सम्बद्ध स्थलों में सावग्रह-पद को एक पद मानते हैं तथा गणना से असम्बद्ध स्थलों में दो पृथक पदों की भाँति मानते हैं।

(१८) पद के उद्धरणों में उस पद को समझना चाहिये[7]। इसका अभिप्राय यह है कि सूत्र में उद्धृत वैदिक पद से उक्त वैदिक पद को ही समझना चाहिए। यदि उस उद्धृत वैदिक पद के समान स्वरूप वाला कोई पद का भाग हो तो उसका ग्रहण उस उद्धृत पद से नहीं करना चाहिये। यथा—अनिङ्ग्यान्त

---

१. नानापदवदिङ्ग्यमसंख्याने। तै० प्रा० १।४८

२. १।२।१४ ३. ६।४।८

४. आकार एकारपूर्वस्तु बहुस्वरस्य ते। तै० प्रा० ४।४०

५. ६।१।६

६. द्वे। परश्च। एकव्यवेतोऽपि। तै० प्रा० ४।४९-५०

७. पदग्रहणेषु पदं गम्येत। तै० प्रा० १।५०

त्वे पद प्रग्रह संज्ञक होता है[1]। इससे त्वे क्रतुम्[2] ( सं० पा० ) में त्वे पद प्रग्रह हो जाता है किन्तु क्रत्वे दक्षाय[3] ( सं० पा० ) में त्वे प्रग्रह नहीं होता क्योंकि यहाँ त्वे स्वतन्त्र पद न होकर क्रत्वे पद का एक भाग है। पद के विषय में विहित नियम पद के एक देश पर पर लागू नहीं होता है।

(१९) विकार को प्राप्त पद को भी समझना चाहिए[4]। अर्थात् प्रातिशाख्य के सूत्र में उद्धृत पद से कार्य प्राप्त करके विकृत होने वाले पद को भी समझना चाहिये। यथा—प्रवाहणो वह्निः[5] ( सं० पा० )। ७।६ के अनुसार प्र पूर्व में होने पर वाहनः का नकार णकार हो जाता है[6]। प्रस्तुत नियम के अनुसार सूत्र में गृहीत पद से उसके विकार प्राप्त रूप का भी ग्रहण होता है। वाहणो वाहनः का विकृत रूप है। अतः ७।६ वाहणो पर भी लागू होता है। इससे वाहनः का वाहनो हो जाने पर भी प्र पूर्व में रहते वाहनो का नकार णकार हो गया है।

(२०) अकार तथा अन्कार से प्रारंभ होने वाले को भी पद समझना चाहिए[7]। अर्थात् सूत्र में उद्धृत पद के आदि में यदि अ अथवा अन् हो तो उसे भी पद जानना चाहिए। ३।२ के अनुसार देवा, शीका, सुम्ना श्वा इत्यादि पदों के अन्तिम स्वर ह्रस्व हो जाते हैं। यथा—अश्वावती सोमवतीम् ( सं० पा० ) अश्वावतीमित्यश्व–वतीम्। सोमवतीमिति सोम-वतीम् ( प० पा० ) श्वा पद के अकार का ह्रस्वत्व ३।२ से विहित है। प्रस्तुत नियम के सामर्थ्य से अ पदादि में होने पर अश्वा भी पद मानकर यह नियम उस पर लागू हो जाता है, फलस्वरूप अश्वा का अन्तिम अकार पद-पाठ में ह्रस्व ( अ ) हो गया है। (२) अन् का उदाहरण १६।२९ में अंशु पद में अनुस्वारागम का विधान किया गया है। प्रस्तुत नियम के सामर्थ्य से अन् से प्रारम्भ होन वाले अनंशु पद में अनुस्वार का आगम हो जाता है—अनंशु कुर्वन्तः[9](सं० पा०)।

---

१. त्वे इत्यनिङ्ग्यान्तः। तै० प्रा० ४।१०
२. २.५।१०	३. ३।२।५
४. अपि विकृतम्। तै० प्रा० १।५१
५. १।३।३
६. वाहनउह्यमानोयानमयन्यवेनवञ्च। तै० प्रा० ७।६
७. अप्यकारादि। अन्कारादि च। तै० प्रा० १।५२-५३
८. ४।२।६	९. ३।२।२

(२१) अन्वादेश अन्त्य का होता है[1]। अर्थात् पूर्ववर्ती सूत्र से यदि कोई विशेष उल्लेख उसके बाद वाले सूत्र अथवा सूत्रों में पुनः लागू करना हो तो वह उल्लेख (अन्वादेश) अन्तिम वर्ण अथवा पद का ही होता है। पूर्वोक्त सभी वर्णों अथवा पदों का अन्वादेश नहीं होता है। यथा—७।३ में विहित है कि हन्यात् तथा उप्यमानम् का नकार भी णकार हो जाता है[2]। यहाँ नकार के णत्व का कोई निमित्त नहीं बतलाया गया है। पूर्ववर्ती नियम (७।२) में णत्व पद के लिए सूत्रान्त में निष्पूर्वः निमित्त का विधान किया गया है[3]। प्रस्तुत नियम से ७।२ के अन्तिम पदों (निष्पूर्वः का) अन्वादेश ७।३ में हो जाता है। अब ७।३ का यह अर्थ हो जाता है कि निः पूर्व में होने पर हन्यात् तथा उप्यमानम् के नकार णकार हो जाते हैं।

(२२) उपबन्ध तो उसी विशिष्ट स्थान (देश) के लिए होता है तथा नित्य होता है[4]। इसमें (इस स्थल पर यह कार्य होता है) इस अधिकरण द्वारा संकेतित स्थल तथा गणना से सम्बद्ध स्थल उपबन्ध कहलाता है। यथा—४।२२ में यह विधान किया गया है कि इरावती से लेकर दाधार पर्यन्त स्थल में ईकार तथा एकार प्रग्रह होता है[5]। संकेतित स्थल इस प्रकार हैं—

इरावती धेनुमती हि भूतं सुयवसिनी मनवे यशस्यै। व्यस्कभ्नाद्रोदसी विष्णुरेते दाधार[6] (सं० पा०)। इसी प्रकार ४।२३ के अनुसार पूर्वजे से लेकर अयम् पर्यन्त स्थल में ईकार तथा एकार प्रग्रह होते हैं[7]। संकेतित स्थल इस प्रकार हैं—पूर्वजे ऋतावरी इत्याह पूर्वजे ह्येते देवपुत्रे उपहूतोऽयम्[8] (सं० पा०)। इन स्थलों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उपबन्ध संहिता का वह स्थल है जिसके प्रथम पद तथा अन्तिम पद को निर्दिष्ट करके प्रातिशाख्य के सूत्र में किसी कार्य का विधान किया जाता है।

---

१. अन्वादेशोऽन्त्यस्य ; तै० प्रा० १।५८
२. हन्यादुप्यमानश्च। तै० प्रा० ७।३
३. प्रुषुकुधिसुवस्समिन्द्रास्यूयुरुत्वःषट्त्रिग्रामनिष्पूर्वः। तै० प्रा० ७.२
४. उपबन्धस्तु देशाय नित्यम्। तै० प्रा० १।५९
५. इरावतीप्रभृत्यादाधार। तै० प्रा० ४.२२
६. १।२।१३
७. पूर्वजेप्रभृत्यायम्। तै० प्रा० ४।२३
८. २।६।७

४।४८ में कहा गया है कि सोमाय स्वराज्ञे—इस अनुवाक में ईकार तथा एकार प्रग्रह होते हैं[1]। इससे स्पष्ट होता है कि जब संहिता के किसी अनुवाक के प्रारंभिक कुछ पदों का उल्लेख करके उस अनुवाक में किसी कार्य का विधान किया जाता है तब संहिता का वह स्थल भी उपबन्ध कहलाता है।

४।५२ के अनुसार, गमयतः, भवतः इत्यादि पदों से छठें पद के पूर्व तक के ईकार तथा एकार प्रग्रह होते हैं[2]। इससे ज्ञात होता है कि जब किसी विशिष्ट पद से लेकर कुछ पदों की गणना करके संहिता के स्थल की सीमा निश्चित करके कार्य का विधान किया जाता है, तब वह सीमित प्रदेश भी उपबन्ध कहलाता है। इस प्रकार उपबन्ध अधिकरण द्वारा निर्दिष्ट संहिता का वह सुसम्बद्ध स्थल है जिसे प्रातिशाख्य के सूत्रों में अनेक प्रकार से उद्धृत करके उसके विषय में कार्य का विधान किया गया हो।

सोमयार्य ने उपबन्ध (१।५९) की दो विशेषताओं का उल्लेख किया है। प्रथमतः, उपबन्ध के विषय में विहित कार्य अन्यत्र लागू नहीं होता है। यथा—४।२३ के अनुसार, पूर्वजे पद से लेकर अयम् पद पर्यन्त स्थल ( उपबन्ध ) में ईकार अथवा एकार प्रग्रह होता है। यह उपबन्ध इस प्रकार है—पूर्वजे ऋतावरी इत्याह पूर्वजे ह्येते ऋतावरी देवी देवपुत्रे इत्याह देवा ह्येते देवपुत्रे उपहूतोऽयम्[3] (सं०पा०)। इस स्थल में आने वाले ईकार और एकार प्रग्रह हैं। इत्याह देवी ह्येषा देवः सोमः[4] (सं० पा०)—इस स्थल में पूर्वजे आदि उपबन्ध (२।६।७) के चार पद पुनरुक्त हैं। तै०प्रा० में यह विधान किया गया है कि यदि तीन से अधिक पदों का समुदाय संहिता में पुनरुक्त होता है तो प्रथम स्थान पर प्रातिशाख्य के सूत्रों से जो पाठ सिद्ध हैं वही पाठ अन्य स्थानों पर भी होगा[5]। प्रातिशाख्य के दूसरे सूत्रों से वह पाठ परिवर्तित नहीं होगा। अतः पुनरुक्त इत्याह देवी हि में देवी का ईकार भी ४।२३ से प्रग्रह हो जायेगा। किन्तु यह अनिष्ट है। इस अनिष्ट का परिहार उपबन्ध की इस विशेषता से ही

---

१. सोमायस्वैतस्मिन्। तै० प्रा० ४।४८

२. गमयतो भवतोऽनूकारात्परंतनूयदकरोत्कुर्यादिष्टिष्वब्रूतांप्रवर्तास्तांस्तश्नीतां-वाचयतिबिभृतस्ताग्निगायत्रंताव्यामेवोभाभ्यामबान्तरंपर आषष्ठात्। तै० प्रा० ४।५२

३. २।६।७ ४. ६।१।७

५. यथोक्तं पुनरुक्तं त्रिपदप्रभृति। तै० प्रा० १।६१

जाता है कि उपबन्ध के विषय में विहित नियम सदैव स्थल विशेष के लिए ही होता है (२।६।७) के विषय में विहित नियम (४।२३) इत्याह देवी ह्येषा देवः सोमः इस स्थल में लागू नहीं होगा। इससे पुनरुक्त इत्याह देवी हि में देवीं का ईकार प्रग्रह नहीं होता है।

द्वितीयतः, अन्य स्थलों में जो निषेध होता है वह उपबन्ध में नहीं होता है। इसका अर्थ यह है कि अन्य स्थलों में जिस कार्य का निषेध प्रातिशाख्य के सूत्रों में विहित है वह उपबन्ध में लागू नहीं होता है। यथा—४।११ के अनुसार, सदोहविर्धाने का एकार प्रग्रह होता है[1]। सूत्र में सदः पद का ग्रहण यह स्पष्ट करने के लिए किया गया है कि केवल हविर्धाने का एकार प्रग्रह नहीं होता है। सदः पद से युक्त हविर्धाने का एकार प्रग्रह होता है। अतः हविर्धाने खायन्ते[2] (सं० पा०) में हविर्धाने का एकार प्रग्रह नहीं है। यह निषेध हविर्धाने प्राची प्रवर्तयेयुः[3] ( सं० पा० ) पर लागू नहीं होगा, क्योंकि यह स्थल ४।५२ में विहित उपबन्ध के अन्तर्गत है। अन्य स्थलों के विषय में जो निषेध है वह उपबन्ध में लागू नहीं होता है। अतः यहाँ केवल हविर्धाने का एकार प्रग्रह होता है। लेकिन, शब्दों का उल्लेख करके जिस कार्य का निषेध विहित हो वह निषेध उपबन्ध के स्थल में लागू होता है। उदाहरणार्थ, ४।५२ के उपबन्ध से गमयतः आदि से परे स्थित मिथुनी का ईकार प्रग्रह होना चाहिए[4]। किन्तु ४।५३ में मिथुनी शब्द का उल्लेख करके गमयतः आदि से परे भी उसके अन्तिम स्वर के प्रग्रहत्व का निषेध कर दिया गया है[5]। अतः यह निषेध ४।५२ से विहित उपबन्ध के स्थल में प्राप्त पदों पर भी लागू होगा।

(२३) जिसके प्रारम्भ में तीन पदों का समुदाय है, ऐसा तीन से अधिक पदों का समुदाय पुनरुक्त होने पर पूर्व में कहे गये पाठ के समान होता है[6]। इसका यह अभिप्राय है कि तीन से अधिक पदों का समुदाय संहिता में पुनरुक्त होने पर प्रथम स्थान पर प्रातिशाख्य के सूत्रों से सिद्ध जो पाठ है वही पाठ अन्य स्थानों पर भी मान्य होगा। प्रातिशाख्य के अन्य नियमों से वह पाठ परिवर्तित

---

१. देवते उभे ·· ······ सदोहविर्धाने ········· । तै० प्रा० ४।११

२. ६।२।११ ३. ३।१।९

४. गमयतो भवतोऽनूकारात्परं·········अवान्तरं पर आषष्ठात्। तै० प्रा० ४।५२

५. न ग्रामीवर्चसीमिथुनीमासेलोकेधत्ते। तै० प्रा० ४।५३

६. यथोक्तं पुनरुक्तं त्रिपदप्रभृति। (तै० प्रा० १।६१ )

नहीं होगा। उदाहरणार्थ, ११।१ में कहा गया है कि एकार अथवा ओकार पूर्व में होने पर अकार का लोप हो जाता है[1]। प्रस्तुत नियम से प्रथम काण्ड के तृतीय प्रश्न में देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोः[2] (सं० पा०) में अकार का लोप हो जाता है। देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्याम्[3] (सं० पा०) इस पद-समुदाय की पुनरुक्ति वाजपेय अनुवाक में होती है। ११।२-३ के अनुसार वाजपेय अनुवाक में एकार तथा ओकार जिसके पूर्व में हों उस अकार का लोप नहीं होता है[4]। इस स्थिति में प्रस्तुत उद्धरण का पाठ इस प्रकार होगा—देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे अश्विनोर्बाहुभ्याम्। किन्तु यह पाठ अनिष्ट है। इस अनिष्ट का निवारण प्रस्तुत सूत्र (१।६१) से होता है। इसके सामर्थ्य से ११।१ से सिद्ध पाठ ही मान्य होगा। ११।२-३ से वह पाठ परिवर्तित नहीं होगा। अतः देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो[4] (सं० पा०) में भी ११।३ से प्राप्त अकार के लोप न होने का बाध करके ११।१ से अकार का लोप हो जाता है।

त्रिभाष्यरत्नकार ने स्पष्ट किया है कि तै० सं० के ब्राह्मण अंश में तो केवल तीन पदों की पुनरुक्ति होने पर भी कार्य होता है[5]। यथा—मर्यश्रीः स्पृहयद्वर्णो अग्निनाभिमृशे—यह पद-समूह प्रथम बार तै० सं० के मन्त्र-भाग ४।१।२ में आया है। यह अंश उख्या अनुवाक के अन्तर्गत है। ११।३ से उख्या अनुवाक में अग्निः के अकार का लोप नहीं होता है। यह पद-समूह पुनः तै० सं० के ब्राह्मण-भाग ५।१।३ में आता है—मर्यश्रीः स्पृहयद्वर्णो अग्निरित्याह। यह पद-समूह उख्या अनुवाक के अन्तर्गत न होने से यहाँ ११।१ में विहित सामान्य नियम से अग्निः के अकार का लोप हो जाना चाहिए किन्तु यह अनिष्ट है। इस अनिष्ट का निवारण प्रस्तुत नियम (१।६१) से हो जाता है। यहाँ केवल तीन पदों के ही पुनरुक्त होने पर भी ब्राह्मण-वाक्य होने से प्रस्तुत नियम से अग्निः का अकार लुप्त नहीं होता है।

---

१. लुप्यते त्वकारएकारओकारपूर्वः। तै० प्रा० ११।१

२. १।३।१ ३. १।७।१०

४. अथालोपः। धातारातिरुपवाजपेयजुष्ट ...... । तै० प्रा० ११।२-३

५. ब्राह्मणवाक्येषु तु त्रिपदमात्राद्वा कार्यं भवति। तै०प्रा० १।६१ पर त्रि० भा०

# महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. **वैदिकध्वनिविज्ञानम्**– डॉ० जमुनापाठक, मूल्य २१।

शिक्षाशास्त्र तथा प्रातिशाख्य में वैदिक ध्वनिवैज्ञानिक तथ्यों का विधान किया गया है किन्तु वहाँ ध्वनिवैज्ञानिक विश्लेषण के अभाव के कारण उन तथ्यों का समझना दुष्कर तथा कठिन है। ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में उन तथ्यों का ध्वनिवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत कर दिया है जिससे उन तथ्यों का अवबोध सरलतापूर्वक हो जाता है। यह ग्रन्थ कारिका रूप में उपनिबद्ध है, जो वेदाध्येताओं के लिए परम उपयोगी है।

२. **अथर्ववेदीया चतुरध्यायिका** - भाष्यकार तथा व्याख्याकार - डॉ० जमुना पाठक।

यह अथर्ववेदचरण की संहिताओं का प्रातिशाख्य है। अद्यावधि इस ग्रन्थ का न तो संस्कृत में कोई भाष्य है, और न हिन्दी व्याख्या। जिससे ग्रन्थ को समझने में बड़ी कठिनाई थी। डॉ०पाठक ने इस ग्रन्थ का संस्कृतभाष्य तथा हिन्दी व्याख्या करके वेदाध्यायियों के लिए ग्रन्थ को सरल बना दिया है।

३. **लोकगीतशतकम्** – गीतकार - डॉ०जमुना पाठक।

सम्प्रति लोकगीतों की ध्वनियों में वाद्ययन्त्रों के साथ गेय संस्कृत के इन लोकगीतों के माध्यम से संस्कृत भाषा को सरलतापूर्वक जनसामान्य तक पहुँचाया जा सकता हैं। इसी उद्देश्य से इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया हैं। इसमें कजली, होली, सोहर आदि ध्वनियों में गेय संस्कृत भाषा के लोकगीत हैं।

४. **व्याख्याग्रन्थ** –

कठोपनिषद् : डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव।

अभिज्ञानशाकुन्तल : डॉ०जमुना पाठक, शशिकला पाठक।

५. **आलोचनात्मक ग्रन्थ** –

शुक्लयजुर्वेदीय शिक्षा-ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन, डॉ०विश्वनाथ राम वर्मा, मूल्य-३२५।

संस्कृतसाहित्य के नीति : एक विमर्श : डॉ० किरण प्रभा, मूल्य १६०।

तन्त्रसार : नीरक्षीरविवेक : डॉ०परमहंस मिश्र, मूल्य १५०।

औरङ्गजेब औंर दक्षिण के राज्य : डॉ० आरिफ, मूल्य ७५।

तैत्तिरीय प्रातिशाख्य : एक परिशीलन, डॉ० आनन्द कुमार श्रीवास्तव, मूल्य ३५०।